लोक वित्त

[PUBLIC FINANCE]

रमणलाल अग्रवाल

'चेतना' प्रकाशन विभाग, बम्बई

"चेतना" चयन तृतीय

लोक वित्त

[PUBLIC FINANCE]

प्रस्तावना लेखक

डा. बालकृष्ण वि. केसकर

सूचना-प्रसार मंत्री, भारत सरकार

लेखक

रमणलाल अग्रवाल

'चेतना' प्रकाशन विभाग, बम्बई

प्रथमावृत्ति
डेढ़ हजार
१९५५

●

मूल्य
पांच रुपये

[illegible]

●

प्रकाशक :
परमेश्वर श्री० बगड़का
चेतना—प्रकाशन विभाग
१, जमनालाल बजाज नगर
अंधेरी (पूर्व), बम्बई ४१

●

मुद्रक :
गिरीश माथुर
विद्यापीठ प्रेस, आनन्द नगर, फोर्जेट स्ट्रीट,
बम्बई ७

समर्पण

लोक-वित्त,

जिसे कुछ लोग अब भी "राजस्व" समझकर उसका दुरुपयोग करते हैं उसे वास्तव में "लोक-वित्त" का रूप देकर भारत की ४० करोड़ जनता का जीवन समृद्धि पूर्ण बना सकते हैं

उन

भारत के प्रधान मंत्री

श्री जवाहरलाल नेहरू

को

कि जिन्होंने सन् १९२८ में एक बड़े बड़े बाल, खादी का बड़ा कुरता और बड़े भारी लट्ठधारी ग्रामीण युवक को आनन्द भवन के आंगन में—काशी विद्यापीठ जाकर अर्थशास्त्र पढ़ने की प्रेरणा दी थी—

यह "लोक-वित्त"

सादर समर्पित है।

रमणलाल अग्रवाल.

" प्रजा की समृद्धि, शान्ति तथा उद्योग पर निर्भर है "

कौटिल्य (६–९३)

" राज्यकर पके हुए फल की तरह समय पर ग्रहण किया जाय "

कौटिल्य (५–९०)

बल प्रजा रक्षणार्थम् यज्ञार्थ कोष संग्रहः

शुक्रनीति (४–११८)

It is interesting to reflect that in a timeless economics we find time of the essence ! Money means credit, which is a time payment and labour means time worked.

L. H. Haney

MINISTER
INFORMATION & BROADCASTING
INDIA.

प्रस्तावना

श्री रमणलाल अग्रवाल ने " लोक वित्त " (अर्थात् " पब्लिक फाइनैंस ") पर जो पुस्तक लिखी है वह बहुत उपयोगी और हिन्दी की दृष्टि से बहुत काम की होगी । मैंने " पब्लिक फाइनैंस " पर दूसरी कोई पुस्तक अभी तक हिन्दी में नहीं देखी । रमणलालजी ने बहुत अच्छे ढंग से " पब्लिक फाइनैंस " के भिन्न भिन्न अंगों का सारांश अपनी पुस्तक में पेश किया है, हमें उनका अभिनन्दन करना है कि हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तकों का लिखना उन्होंने आरम्भ किया । मैं आशा करता हूं वे और भी इस प्रकार की पुस्तकें लिखेंगे और हिन्दी में एक जो विशेष कमी है उसकी पूर्ति करेंगे ।

(बा० वि० केसकर)

नई दिल्ली,
२० जुलाई, १९५५ ।

प्रकाशकीय

"चेतना"—प्रकाशन विभाग की ओर से प्रस्तुत पुस्तक को "चेतना चयन तृतीय" के रूप में हिन्दी के विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार प्रसन्नता होती है। इस शुभ अवसर पर 'चेतना' प्रकाशन विभाग व 'चेतना' की अन्य प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हम कुछ प्रकाश डालना चाहेंगे।

राष्ट्र भारती की सेवा करने की दृष्टि से 'चेतना' का संगठन किया गया। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि की सर्वाङ्गी उन्नति का गुरुभार हर भारतीय पर है; हिन्दी भाषियों का तो यह पुनीत कर्तव्य है ही। इसी कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर हमने यह संगठन किया है। हम जानते हैं कि राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हममें एक धर्म प्रचारक का सा अदम्य उत्साह हो; साथ ही व्याव–सायिक का व्यवस्था कौशल। इनमें से एक के भी अभाव में हम अपनी लक्ष्यसिद्धि में असफल रहेंगे।

'चेतना' की कार्य योजना के विभिन्न अंग इस प्रकार होंगे। १. साहित्य वितरण, २. अभिषद, ३. समालोचना, ४. अनुवाद, ५. पुस्तक परिषद, ६. मुखपत्र, ७. प्रकाशन विभाग और विविध।

जैसा कि ऊपर की कार्य योजना की रूपरेखा से देखेंगे, अन्य प्रवृत्तियों के साथ–साथ हम साहित्य प्रकाशन का भी कार्य करते हैं। साहित्य प्रकाशन में हमारा एक विशेष उद्देश्य है। आज, स्वतन्त्र भारत में, सुनियोजित साहित्य निर्माण की आव–श्यकता है। यह ठीक है कि साहित्यकार साहित्य निर्माण में स्वतन्त्र है, उसे किसी निश्चित ढाँचे में ढालकर साहित्य निर्माण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। बिचार–स्वातंत्र्य साहित्यकार ही का क्या, प्रत्येक व्यक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार है; पर आज आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्र-भारती का हर अंग पुष्ट हो। मात्र ललित साहित्य (कथा-काव्यनाटक आदि) ही साहित्य नहीं. समाजशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक साहित्य भी साहित्यका अंग है, महत्वपूर्ण अंग। आज की स्थिति में भारतीय राष्ट्र को इसी प्रकार के साहित्य की आवश्यकता अधिक है। इस प्रकार का साहित्य प्रकाशन आज भी आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं है, फिर भी हमने अपना कर्तव्य समझा कि हम इस दिशा में सचेष्ट हों। इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है, प्रकाशित होने पर बिकेगा भी, आवश्यकता है सचेष्ट होकर उपयुक्त पाठकों तक उसे पहुँचाने की।

प्राचार्य रामेश्वर गुप्ता ऐम.ए., की "आज का मानव जीवन और उसकी सम-स्यायें" से हमने 'चेतना चयन' ग्रंथ माला का श्री गणेश किया था, श्री श्यामसुन्दर-

गुप्त ऐम. ए., ऐल ऐल, बी., की 'आधुनिक योरप का राजनीतिक दर्शन' इस ग्रंथ—माला की दूसरी पुस्तक थी। हमें हर्ष है कि अब हम श्री० रमणलालजी अग्रवाल शास्त्री (काशी विद्यापीठ) की 'लोकवित्त' इसी ग्रंथमाला में प्रकाशित कर रहे हैं।

हिन्दी मे अर्थशास्त्र पर बहुत कम पुस्तकें हैं। पिछले कुछ वर्षों में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर तो कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुईं भी। फिर भी विशिष्ट अध्ययन के लिए अभी अच्छी पुस्तकों का आभाव सा ही है। 'लोकवित्त या राजस्व' (Public Finance) पर अभी बहुत ही कम पुस्तकें हैं। एक पुस्तक काफी अर्से पहिले 'ज्ञानमण्डल—बनारस' से प्रकाशित हुई थी। इधर भी एकाध पुस्तक निकली हैं। फिर भी विषय के महत्व को देखते हुए हमने एक अच्छी पुस्तक की आवश्यकता समझी जो कि पाठक को विषय का ज्ञान करा सके।

इस पुस्तक के प्रकाशन में हमारे दो उद्देश्य हैं। पहिले तो प्रत्येक विश्वविद्या—लय की बी. कॉम, व ऐम ए (अर्थशास्त्र) की परीक्षाओं में 'लोकवित्त' पर एक या अधिक पर्चे होते हैं। भारत की बहुत सी विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा हिन्दी के माध्यम से हो रही है या होने लगेगी। इसके लिए आवश्यक है कि हर विषय पर उपयुक्त पुस्तक हो। इसी दृष्टि से इस पुस्तक को तैयार किया गया है। लेखक ने सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को देख लिया है, और उसके अनुकूल सामग्री पुस्तक में संयुक्त कर ली गई है। इसके अतिरिक्त भारत में प्रजातंत्रात्मक शासन है। केन्द्रीय संसद राज्य विधान सभा, नगरपालिका व पञ्चायत आदि प्रजातांत्रिक संस्थाओं के सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी-अपनी संस्थाओं की अर्थ-व्यवस्था प्रणाली से परि-चित हों। इतना ही नहीं—हर मतदाता के लिए आवश्यक है कि वह देश के अर्थ—प्रबंध को समझे। हमारा प्रयत्न रहा है कि इस पुस्तक से ऐसे नागरिक लाभ उठा सकें। इसकी भाषा सरल है जिसे अर्थशास्त्र का साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी समझ सकता है।

यदि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए कुछ उपयोगी हो सकी या जनता में देश के आर्थिक प्रबंध की जानकारी दे सकी तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

परमेश्वर श्री० बगड़का
संपादक—
चेतना प्रकाशन विभाग

लेखक की ओर से

स्वतंत्रता के परिणाम स्वरूप हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। विदेशी भाषा के माध्यम से ज्ञानार्जन में बड़ी भारी कठिनाइयाँ पड़ती हैं। मातृभाषा में, अतः अब अधिक से अधिक और हर प्रकार का ज्ञान आ जाना आवश्यक है। इसी प्रेरणा से यह पुस्तक लिखी गई है। इस विषय पर हिन्दी में अभी दो तीन पुस्तकें ही हैं। विषय सम्पूर्ण जनता के लिए महत्व का है अतः इस विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से जितनी भी पुस्तकें लिखी जाँय थोड़ी ही रहेंगी।

'लोकवित्त' के लिखते समय हमारे सामने दो प्रकार के पाठक रहे हैं। एक तो बी. ए. एम. ए., बी. काँम और एम. काम. के वे विद्यार्थी जिन्हें इस विषय का अध्ययन करना है परीक्षा के लिए, और दूसरे वह जन समूह जो सार्वजनिक प्रश्नों को समझना चाहता है। जिसे सरकारी आय व्यय के संबंध में विचार करना है, केन्द्रीय, क्षेत्रीय, नागरिक लोक सभाओं के सदस्य अथवा अन्य दिलचस्पी रखने वाले राजनीतिज्ञ। दोनों ही की दृष्टि से हमने पुस्तक को उपयोगी और संक्षिप्त बनाने का प्रयत्न किया है।

मेरी दृष्टि से पुस्तक की कुछ विशेषताएँ भी हैं। सबसे पहली बात यह है कि पुस्तक कोरी अँगरेजी लेखकों की नकल नहीं है। इसमें स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विषय संगठित किया गया है। दूसरे सरकारी व्यय, आय और ऋण के सिद्धान्तों के अतिरिक्त दो बातें और जोड़ दी गई हैं। एक तो 'आयोजन' दूसरे 'लोकवित्त' के चिन्तन का इतिहास'। ये दोनों बातें किसी भी पाश्चात्य लेखक की राजस्व सम्बन्धी पुस्तक में हमारी दृष्टिगत नहीं हुई। 'आयोजन' में सिद्धान्त और भारतीय लोकायोजन की आवश्यकता और प्रयत्न का जिक्र आ गया है। लोकवित्त के चिन्तन का इतिहास, स्थानाभाव के कारण बहुत विस्तृत नहीं बन सका है। बहुत ही संक्षेप में, छिटफुट सामग्री लेकर ही बना दिया गया है। इस विषय पर अभी खोज की भी और अधिक आवश्यकता है। प्राचीन तथा मध्यकालीन यूरोप के राजस्व चिन्तन की ओर अन्त में केवल इंगितमात्र ही किया है। यदि पाठकों ने दिलचस्पी प्रगट की तो अगले संस्करण में इस सम्पूर्ण अध्याय को काफ़ी विस्तृत कर दिया जायगा।

हिन्दी में यह विषय नया होने के कारण हमें अनेक शब्दों का निर्माण करना पड़ा है। अँगरेजी शब्दों के लिए जो हिन्दी शब्द हमने प्रयोग किये हैं उनकी आवश्यक सूची परिशिष्ट में दे दी गई है। कोई लेखक शब्द गढ़ता है, कोई उसे माँजता है इसी प्रकार शब्दों के अर्थ और रूप निखरते रहते हैं। इसी आशा से हमने अनेक शब्द

गढ़े हैं और माँजे हैं। पुस्तक सूची के सिरनामे पर हमने 'उपयोगित' पुस्तकें लिखा है। ये उन पुस्तकों के नाम हैं जिन्हें हमने वास्तव में उपयोग में लिया है। हम इन्हें पाठकों को प्रस्तावित नहीं कर रहे। अतः 'उपयुक्त' शब्द नहीं जँचा और हमने 'उपयोगित' बना लिया, 'कर' वाले स्टाम्प के लिए हमने रुक्की-टिकट बनाया है। आदि

'आबकारी कर' और 'उत्पादन कर' दोनों शब्दों को हमने एक ही अर्थ में प्रयोग किया है, आबकारी को केवल नशीली वस्तुओं पर कर के रूप में ही नहीं रहने दिया।

हमने देश की अर्थ व्यवस्था का एक नया सिद्धान्त निर्माण किया है जिसे फिलहाल 'गारंटी अर्थ व्यवस्था' कह सकते हैं। उसी के फलस्वरूप 'गारंटी लोकवित्त' 'गारंटी बजट' भी रूप धारण करेंगे। हमारी धारणा है कि भारत की आज की स्थिति के लिए ये समाजवाद से भी अधिक उपयुक्त सिद्ध होंगे। इन्हें इस पुस्तक में कलेवर वृद्धिभय से ही नहीं दिया है। अगला संस्करण शीघ्र हुआ तो उसमें अन्यथा अलग पुस्तक रूप में उसे पाठकों के सामने रक्खा जायगा।

इस पुस्तक का जन्म शायद न होता यदि मेरे मित्र श्री परमेश्वरजी बगड़का इस ओर प्रेरणा न देते। उन्होंने ही डण्डा लेकर पीछे पड़के ही इसे लिखवाया है। कोरे धन्यवाद का ऐसे व्यक्ति के लिए मूल्य ही क्या? पुस्तक की सामग्री के लिए हमने अनेक विदेशी लेखकों की सहायता तो ली ही है, भारतीय लेखकों और विचारकों की भी पुस्तकों से पूरा लाभ उठाया है। यथा स्थान उनका हवाला पुस्तक में दिया है। प्रयाग विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्रोफेसर श्री नारायण जी अग्रवाल तथा श्री आर. एन. भार्गव का मैं हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर अनेक बातों पर परामर्श दिया।

मेरे मित्र श्री श्यामसुन्दरजी गुप्त ऐम. ए. ऐल. ऐल. बी. ने बड़े परिश्रम से पुस्तक की पाण्डुलिपि के बहुतांश को पढ़ा और अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये जिनके कारण अनेक त्रुटियों से पुस्तक बच गई। वे इतने नजदीकी हैं कि उन्हें धन्यवाद देना ही क्या!

डा. जगन्नाथ अग्रवाल एम. ए. पीएच. डी (इंग) बम्बई-सौराष्ट्र क्षेत्र के रीजनल डाइरैक्टर-एम्लौईज स्टेट इंश्योरेन्स कौरपोरेशन-भारत सरकार, और प्रोफेसर श्री कृष्ण अग्रवाल एम. ए. साहित्यरत्न से भी पुस्तक की अनेक बातों पर परामर्श हुए हैं। उन्हे धन्यवाद देना तो उसे घर में ही रख लेना है।

अन्त में मैं सबसे अधिक आभारी हूँ डाक्टर बालकृष्ण वि. केसकर जी का। उन्होंने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हुए भी इतना समय निकाल ही लिया कि मेरी पुस्तक पढ़ी और अनेक महामहत्व के काम छोड़कर भी पुस्तक की प्रस्तावना

लिख भेजी। वास्तव में मेरे अर्थशास्त्र के ज्ञान का श्री गणेश काशी विद्यापीठ में सन् १९२८ में इन्होंने ही कराया था।

पुस्तक की त्रुटियों का उत्तरदायित्व केवल मुझपर है। पाठकों से मैं आशा करता हूँ कि बिना संकोच जो-जो त्रुटि दृष्टिगत हों अथवा नया सुझाव जो ध्यान में आवे उसे अवश्य लिख भेजें। मेरी ज्ञानवृद्धि भी होगी और अगला संस्करण अधिक उपयोगी बन सकेगा।

४३० मंफोर्ड गंज
इलाहाबाद।

रमणलाल अग्रवाल

विषय-सूची

१

लोकवित्त की रूपरेखा

"कोशदंड' के द्वारा राजा स्वपक्ष तथा परपक्ष को वश में करता है।" यह बात सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के महामंत्री चाणक्य ने आज से लगभग सवा दो हजार वर्ष पूर्व कही थी। राजकोष और राजदंड के सम्मिश्रण से यह शब्द उत्पन्न हुआ। शारीरिक दंड के अतिरिक्त कर भार अथवा जुर्माना भी दंड का स्वरूप है, इस प्रकार राजवित्त से 'कोशदंड' बहुत अधिक संबंध रखता है।

लोक व्यवस्था का विकास

किसी भी देश की सरकार चाहे वह जिस गठन के आधार पर बनी हो, दो कार्य तो अब तक करती ही रही है : पहला शासन और दूसरी व्यवस्था। शासन का अर्थ है आतंक। मानव के सामूहिक विकास की मूलस्थिति में तो सार्वजनिक व्यवस्था का रूप था, एक कुटुम्ब या समूह एक जगह, जंगल या खोह, में रहता, सभी मिलकर सबकी व्यवस्था करते, भोजन सामग्री प्राप्त करने और बांटने की, रहन सहन की, खतरे से बचने की, इत्यादि। समूह की वृद्धि के साथ–साथ यह व्यवस्था बहुआश्रयी न रह कर एक मुखिया, स्त्री या पुरुष, के हाथों में आई और राजा का उदय होते होते उसमें व्यवस्था के साथ आतंक की भावना जुड़ गई। राजा था ही एक गुट का सरदार जो दूसरे जनसमूह को डरा कर उसकी कमाई पर कब्जा किये रखने की व्यवस्था करता था। इस लिये शासन और व्यवस्था, ये दो कार्य राजा के थे। राजा धीरे धीरे एक संस्था ही बन गया। प्राचीनकाल, तथा अभी कुछ पहले तक आधुनिक काल में भी 'राजा' नामक संस्था रही है और कुछ देशों में अब भी है। राजा की दलसंख्या घटती बढती रही है। मक्कार और बदमाश लोग, जो ठगकर ही मुफ्त का माल उड़ाना चाहते थे, राजा के अनेक रूपों में साथी बने। शासन को इसलिये अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया गया। विदेशी आक्रमण से बचाने का अर्थ केवल इतना रहा कि तात्कालिक शासक वर्ग के लूटाधिकार और लूट खसोट को कोई बाहरी, उन्हीं की तरह का महान बटमार, न ले बैठे। जनता की भलाई के लिये शासन व्यवस्था में शासकवर्ग की तबदीली से, कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता था।

अतः रक्षात्मक साधन सेना, पुलिस आदि का उपयोग जनता की भलाई के लिये बहुत कम था।

किन्तु आगे चल कर व्यवस्था के रूप में बड़ा परिवर्तन हुआ। पहले व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यह था कि शासक की शक्ति अक्षुण्ण रहे। उसके लिये, उसकी सेना, पुलिस, पुरोहित, सेवक, सभी के लिये, जिन्दगी और ऐश के साधन राज्यक्षेत्र की जनता देती रहे। कहीं से भी दे, भूखी मर कर दे, परंतु दे बिना हिचक। इस बात से व्यवस्था का कोई संबंध न था कि जनता को जीवन साधन मिलते हैं या नहीं; नहीं मिलते तो कैसे मिलें; जनता का हर मानव सुखी और सम्पन्न हो। इस ओर दृष्टि रखकर व्यवस्था की ही नहीं जाती थी। एकाध सुरुचि पूर्ण कार्य कभी कोई शासक कर देता था तो वह इतने में ही पूजनीय और सुशासक कहलाने का अधिकारी हो जाता था। मध्यकाल में जब धार्मिक गुरुजन और सामंती सरदार जनता को लूटते तो राजा उन्हीं का पक्ष लेता था। यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो जाने के बाद जब वर्तमान पूंजीवाद का विकास होने लगा तो नये शोषकों की ओर से इस बात के लिये विशेषतौर पर आन्दोलन हुए कि राजा व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप न करे। वह अपनी सेना और कर से ही मतलब रक्खे, किन्तु सामन्ती तथा पूँजीवादी शोषण के फलस्वरूप साधारण जनता ने अपने हितों की व्यवस्था के लिये शासनाधिकार में स्थान मांगा। यूरोपीय राज्यक्रांतियाँ अमेरिकी स्वातंत्र्य युद्ध, चीनी रूसी राज्यक्रांतियां, भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध, इन सभी का परिणाम हुआ : व्यवस्था के रूप में परिवर्तन। व्यवस्था अब अधिकाधिक सार्वजनिक हितों को ध्यान में रख कर की जाने लगी और यहां तक कि आज की सरकारों को यह सिद्धान्त खुले तौर पर मानकर चलना पड़ता है कि शासकों का उद्देश्य जनता की सर्वतोमुखी भलाई ही है। समाजवादी देशों में तो यह है ही परंतु पूंजीवादी सरकारें भी अपने को जन कल्याणी राज्य (welfare state) कहने लगी हैं और कुछ हद तक उन्हें ऐसा प्रयत्न करना भी पड़ता है।

इस प्रकार 'सरकार' शब्द से भी शासन की भावना धीरे धीरे खतम होती जा रही है और व्यवस्था की ही भावना उसकी जगह भरती जा रही है। लोक-व्यवस्था का अर्थ है जन-साधारण के लिये व्यवस्था; परन्तु हम इसमें इतना और जोड़ना चाहते हैं कि यह लोक-व्यवस्था 'लोक' अर्थात् सम्पूर्ण जनता के हित में हो। इसी दृष्टि से हमने अंगरेजी के "पब्लिक फाइनेंस" का हिंदी रूपान्तर 'राजस्व' उपयुक्त नहीं समझा। जिन दिनों लोक व्यवस्था राजा के हित में थी वह राजव्यवस्था थी और अतः उसके आय - व्यय को हम 'राजस्व' कह सकते थे। वह आय-व्यय राजा का अपना होता था। राजा का ही उस पर पूर्ण अधिकार था। किन्तु आज शासन व्यवस्था जनता के हाथ में है। जनता निर्वाचित करके व्यवस्थापक

नियुक्त करती है। भारत में भी अब जनता की निर्वाचित सरकार है। जैनसेन* कहता है कि सरकार सभी की सम्मति से अस्तित्व में रहती है; परंतु हम यह और कहना चाहते हैं कि वह सभी के कल्याण की व्यवस्था करने के लिये अस्तित्व में रहनी चाहिये। इसलिये हम ऐसी सरकार के आय-व्यय-शास्त्र को 'राजस्व' न कह कर 'लोकवित्त' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। जो वित्त सरकार के हाथ में जनता देती है वह अब जनता का है, जनता की भलाई के लिये, जन प्रतिनिधियों की सम्मति से ही व्यय किया जा सकता है। सरकारी अध्यक्ष अर्थात् राष्ट्रपति तथा मंत्रिमंडल जनता के आज्ञाकारी वेतनभोगी सेवक हैं, न कि अधिकारी। इस दृष्टि से 'राजस्व' शब्द अब समीचीन नहीं रहा। इसलिये हमने सम्पूर्ण पुस्तक में लोकवित्त, लोकव्यय, लोकआय, लोकऋण आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है।

लोकवित्त का विकास

लोकवित्त का उदय हुआ राजस्व के रूप में। समाज के विकास के साथ ही साथ राजस्व का भी विकास होता गया और आज वह राजस्व से विकसित होते होते लोकवित्त बन गया है।

मानव समाज जब छिटपुट परिवारों की अवस्था में जंगली था तब भोजन और रक्षा ही सबसे बड़ी आवश्यकताएं थीं। भोजन सामग्री सारा परिवार मिल कर जुटाता और हिंसक पशुओं अथवा लुटेरों से रक्षा भी परिवार के व्यक्ति मिलकर करते थे; किन्तु जब 'राजा' नामक संस्था का आगमन हुआ तो राजा के सामने सबसे आवश्यक कार्य हुआ अपनी रक्षा करना--बाहरी आक्रमणकारियों से तथा आन्तरिक शत्रुओं से--और इस कार्य के लिये कोष की आवश्यकता हुई; जो कर तथा जुर्मानों के रूप में अपने राज्यान्तर्गत जनता से वसूल किया गया।

जो धन इस प्रकार एकत्र हुआ उस पर जनता का कोई अधिकार न था, वह राजा का अपना धन हो गया, वह चाहे उसे नाचरंग में फूंक दे, अपनी रक्षा करे और अथवा जिस जनतासे लिया है उसीके सत्यानाशमें लगा दे, और चाहे अपने मित्रों म बांट दे। यह व्यवस्था उस समय तक रही जब तक 'राजा' निरंकुश रहा। किन्तु जैसे-जैसे जनता का हाथ राजकीय कार्यों में प्रवेश करने लगा वैसे-वैसे जनता द्वारा राजा को दिया हुआ धन, जनता के लिये आवश्यक कार्यों में लगता गया और इस प्रकार वह लोकवित्त का रूप लेता गया। इंगलैण्ड में हेनरी अष्टम, जेम्स प्रथम के मनमाने कार्य, चार्ल्स प्रथम के समय से राजा और पार्लियामेण्ट की कशमकश यही

---

* "State exists by common consent"
Problems of **P**ublic Finance, by Jens. P. Jensen P, 1.

प्रकट करते हैं। रोम में नीरो, भारत में औरंगजेब, बाजिदअली शाह आदि ऐसे ही थे। पहले वह राजा का 'स्व'—निजी, धन माना जाता था, अब वह पूरी तरह लोक-वित्त बन गया है। अब वह पूर्णरूपेण सार्वजनिक सम्पत्ति है और केवल सार्वजनिक हितों की अधिकाधिक वृद्धि का ही ध्यान रख कर व्यय किया जाना चाहिये।

पहले देश में शान्ति बनाये रखने के साथ साथ बाहरी शत्रुओं से रक्षा ही राजा का मुख्य काम था, किन्तु सार्वजनिक हितों के भी कुछ न कुछ कार्य करने चलने की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई।

राजस्व और लोकवित्त में अन्तर

राजस्व और लोकवित्त में एक मौलिक अन्तर उत्पन्न हो गया है। पहले जमाने में राजा जो कर लेता, जुर्माने वसूल करता अथवा अन्य राज्यों का माल लूट कर लाता उस पर केवल राजा का ही अधिकार था। वह उसका निजी धन था, उसे अपनी सत्ता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जो कुछ सेना, पुलिस, आदि पर व्यय करना पड़ता था, उतना ही व्यय करता था, बाकी अपने आनन्द साधनों में लगाता था और कुछ प्रजा की असंतुष्ट ज़बानों को बंद करने के लिये शिक्षा सिन्चाई आदि में भी व्यय कर देता था। मुख्य उद्देश्य था उसकी अपनी सत्ता और आनन्द साधनों की रक्षा। जन कल्याण की तो भावना ही उसके सामने नहीं थी। किन्तु 'लोकवित्त' में आधारभूत तथ्य इसके नितान्त विपरीत है। जनता कर अथवा अन्य रूपों में देशाधिपति को धन देती है। देशाधिपति, (एक अथवा अनेक) उसने निर्वाचित किया है, उसका कार्यकाल निर्धारित है। वह राजा की तरह जीवन भर के लिये, और फिर पुश्त दर पुश्त, अबाधकाल के लिये जनता के सिर पर लदा नहीं है। जनता यदि उसके निर्धारित काल के बीच में ही असंतुष्ट हो जाय और उस व्यक्ति का देशाधिपति बने रहना हानिकर प्रतीत हो तो वह उसे तुरन्त ही पृथक कर सकती है। इसलिये लोकवित्त का अधिकारपत्र अर्थात् बजट, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा, प्रति वर्ष लोक सभा द्वारा पास किया जाता है और किस कार्य में कितना व्यय किया जाय यह स्पष्टतया देशाधिपति को आदेश के रूपमें बता दिया जाता है। देशाधिपति को वर्ष भर उसी प्रकार उसी आधार पर 'आयव्यय' करना पड़ता है। यदि आवश्यक कारणवश उसमें न्यूनाधिक होता है तो भी बाद में लोकसभा से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर लेनी पड़ती है। यहां तक कि लोकसभा देशाधिपति के किसी कार्य की निन्दा करे अथवा बजट न पास करके दे तो उस व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह (मंत्रि-मण्डल) को स्थान छोड़ देना पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लोकवित्त जनता का धन है, और वह उसी के अधिक से अधिक कल्याण के कार्यों में ही व्यय होना चाहिये। देशाधिपति केवल नियुक्त किया हुआ प्रवन्धक है। समय और बीतने पर

इस विचार में आगे विकास होगा और देशाधिपति, राष्ट्रपति, शासक आदि भावनाओं से निहित शब्दों को त्याग कर हम शायद राष्ट्र-व्यवस्थापक, लोक प्रबन्धक आदि जैसे अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग करने लगेंगे ।

लोकवित्त का विकास सर्वतोमुखी हुआ है । फ्रांस के अर्थमंत्री कोलवर्ट ने एक बार कहा था कि राजस्व वह कला है जिससे बतख के अधिक से अधिक पर नोंच लिये जाँय और वह चिल्लाये भी कम से कम । यह बात राजसत्ता काल में ही लागू होती थी । आज भी जो सरकारें शोषक वर्ग की प्रतिनिधि हैं इसी सिद्धान्त का अनुसरण करती हैं । परन्तु जनता अब बहुत सजग हो रही है । इस चाल को भी समझने लगी है । अब वह सरकारी आवश्यकताओं को समझ कर 'कर' देती है, और अब कर-सिद्धान्त का एक अधिक विकसित रूप उपस्थित हो रहा है । इसका विस्तृत जिक्र हम कर-प्रकरण में करेंगे, किन्तु यहां सूक्ष्म निर्देश मात्र करते हैं, वह यह है कि कर व्यक्ति की आय के केवल उस भाग पर लगाया जाना चाहिये जो गत वर्ष की लोक व्यवस्था के फलस्वरूप उसे हुई है और जो उसकी उस समय के सामाजिक-स्तरीय आवश्यकताओं के ऊपर है । जो सरकार ऐसी लोक व्यवस्था नहीं कर सकती उसे 'कर' लेने का कोई अधिकार नहीं है ।

प्राचीन और मध्यकाल में बजट या तलपट जैसी कोई वस्तु न थी, उसके दोनों पक्ष आय और व्यय बराबर रख कर उसे संतुलित रूप दिया जाय इस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था । अंगरेजी में 'मौर्य कालीन राजस्व' के लेखक श्री एम. एच. गोपाल की राय है कि मौर्यकाल में बजट में बचत रखना ही आदर्श समझा जाता था ।*

एक साधारण व्यक्ति के आय व्यय की भाँति गाढ़े समय के लिये बचा कर कोष बढ़ाते रहना अधिक आवश्यक समझा जाता था, आज तो न बचत, न घाटा, बिल्कुल संतुलित बजट बनाया जाता है । अब बजट पर अधिकार भी राजा का नहीं रहा, जन प्रतिनिधियों का हो गया है ।

आज कर और व्ययके अतिरिक्त तीन नई बातें लोकवित्तमें आ जुड़ी हैं । अब महायुद्धोंने लोकऋण, जनताकी आवाजने वित्ताधिकार (बजट व्यवस्था) तथा लोका योजन इसीमें और सम्मिलित कर दिये हैं। बड़े युद्धोंमें सरकारोंको अपने देशकी जनता तथा बाहरी सरकारोंसे व्याजपर ऋण लेनेके लिये मजबूर होना पड़ा । ये ऋण इतने बड़े हो गये कि इनका चुकाना कठिन हो गया, और अब ये आय की एक नीति के रूप में अवतरित हो गये हैं । युद्धादि अनुत्पादक कार्य तथा दुष्काल निवारण, लोक-नियोजन, आदि उत्पादक कार्यों के लिये कर की अपेक्षा कुछ अवस्थाओं में ऋण लेना ही अधिक

* Mauryan Public Finance by M. H. Gopal P. 195

उपयुक्त समझा जाने लगा है। कुछ ऋण तो स्थायी रूप ले चुके हैं। उनका केवल व्याज चुकाया जाता है मूल कभी भी नहीं।

और भी एक नया पहलू लोकवित्त में आ जमा है, वह है नकली सिक्का। सरकार बजट की आय-पूर्ति, कर उगाहने तथा ऋण लेने के अतिरिक्त अब सरकारी छापखानेमें नोट छाप कर भी करती हैं। इसका भी लोकवित्त के बनाने बिगाड़ने में भारी हाथ है। प्रथम महायुद्ध काल में जर्मनी और इस महायुद्ध में चीन दोनों की सरकारों ने अन्धाधुन्ध नोट छाप - छाप कर अपने बजट बिगाड़ लिये और फलतः जनता ने उनको उखाड़ फेंका।

रूस, चीन आदि समाजवादी देशों में लोकवित्त का गहरा सम्बन्ध लोक-नियोजन से जुड़ गया है, लोक-बीमा उसकी बहुत महत्वपूर्ण मद हो गई है। इसके फलस्वरूप लोकवित्त के रूप में भी परिवर्तन हो गये हैं।

लोकवित्त का महत्व

अंगरेजी काल की भारत सरकार के एक वित्त मंत्री श्री जेम्स विल्सन ने ठीक ही कहा था कि "लोक वित्त' अंकगणित नहीं है बल्कि एक महान नीति है" लोक वित्त देश की व्यवस्था का मूलाधार है। आगे हम देखेंगे कि लोक व्यय, कर प्रणाली आदि को इस प्रकार नियोजित किया जा सकता है कि देश का देश समृद्ध हो जाय और शोषक सरकारें, जैसे भारत में अंगरेज सरकार, उन्हीं को वह रूप दे सकती हैं कि देश में दरिद्रता ही दरिद्रता फट पड़े। सरकार का हर काम लोकवित्त पर निर्भर है। कौटिल्य भी इसी मत का है कि "सभी कार्य वित्त पर निर्भर होते हैं, इस लिये कोष पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाना अनिवार्य है।" और " जब आय तथा व्यय दोनों का उचित ध्यान रक्खा जाता है तो राजा कभी स्वयम् को वित्तीय अथवा सैनिक अवस्थिति में नहीं पायेगा× " उस समय भी वित्त राजा के सर्वाधिकार का आधार समझा जाता था। सोवियत क्रांति के तुरन्त बाद जब लोकवित्त की समस्यायें लेनिन के समक्ष उपस्थित हुई तो उसने कहा:– " हमको यह नहीं भूल जाना चाहिये कि हमारे सभी द्रुत सुधार असफल हो जायेंगे यदि हम वित्तीय नीति में सफलता नहीं प्राप्त करेंगे"÷ और ऐसा हुआ भी, सोवियत वित्ताधिकारियों को अपने "लोकवित्त" के स्वरूप में कई बार उलट फेर करने पड़े *

× Mauryan Public Finance by M. H. Gopal. P, 19

÷The Development of the Soviet Economic system by Alexender Bykov, Cambridge Press. P. 30

*वही

'लोकवित्त' एक औजार है जिसकी सहायता से सरकार देश की जन-अवस्था का रूप गढ़ती है। यदि सरकारी आय को देश के उद्योग धंधों को बढ़ाने, व्यक्ति की उत्पादन शक्ति के साधन बढ़ाते रहने, उत्पादन की सामग्री को इस प्रकार नियोजित करने में लगाया जाय कि जनता की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर पूर्ण होती जायँ, उसके हर सदस्य का जीवन स्तर ऊँचा होता जाय, तो देश शक्तिशाली और सम्पन्न होता चला जायगा, 'लोकवित्तीय' सुव्यवस्था आज की बेकारी को बहुत ही अल्प काल में दूर कर सकती है। अनेक भारतीय अपने देश में तो भूखों मरते और भिखमंगे हैं ही, दूसरे देशों में भी बहुतों की दुरवस्था है, दक्षिण अफ्रीका, लंका आदि भारतीयों को वापिस खदेड़ रहे हैं, पाकिस्तान से अनेक विस्थापित यहां आपहुंचे हैं और सरकार इन सबको तथा बढ़ती हुई जन संख्या को देख देख कर नौ नौ आंसू रो रही हैं, यह लोकवित्त की अव्यवस्था के कारण ही है। अफ्रीका में जनसंख्या काफी कम होते हुये भी अफ्रीकी लोग अभी पशु के स्तर से अधिक अच्छे नहीं है। यह सरकारी वित्त व्यवस्थापकों की ही कृपा का फल है। भारत अभी तक देश में लोक.बीमा कार्य ढंग से नहीं चालू कर सका, यह भी इसी कारण।

'लोक—वित्त'की बड़ी कमी यही है कि वह औजार मात्र है, जिसके हाथमें पड़ता है वह उसे अपने लिये ही इस्तैमाल करता है। अतः लोकवित्त व्यवस्थापक ऐसे ही व्यक्ति होने चाहियें जो जनता के निम्नतम स्तर में से जन-कठिनाइयों और आवश्यकताओं के अनुभव लेकर आये हों और जन-सुपास के कट्टर पक्षपाती हों। देश के विकास के लिये अनेक कार्य एक वर्ष के बजाय कई वर्षो तक चल कर पूरे हो पाते हैं। अतः उनका काम वार्षिक बजट से नहीं चलता, उनके लिये लोकवित्त में बहु-वर्षीय व्यवस्था की जा सकती है। रूसी पँचवर्षीय योजनाएँ और वर्तमान भारतीय पंचवर्षीय योजनाएँ लोकवित्त के महत्व को डंका बजाकर बता रहीं हैं। प्रयाग विश्व विद्यालय के प्रोफेसर श्री ऐस. के. मुकर्जी ने लिखा है कि 'एक सुदृढ़ राजस्व की कसौटी यह नहीं है कि सरकार अपने कार्यों के लिये कितना व्यय करती है या कितना द्रव्य उगाहती है वरन् यह है कि ये कार्य किस प्रकार किये जाते ह और उनसे जनता का वास्तविक लाभ कितना होता है" (अर्थशास्त्र के मूलाधार—पृष्ठ ५०४)। महात्मा गांधी की प्रेरणा से लिखी हुई अंगरेजी की पुस्तक 'लोकवित्त और हमारी दरिद्रता' के पूर्वाभास में लेखक श्री जे. सी. कुमारप्पा लिखते हैं कि 'यदि हम आधुनिक काल में आयें तो हम पाते हैं कि सरकारी विभागों में से राष्ट्र के कल्याण से और किसी का इतना गहरा सम्बन्ध नहीं है जितना 'लोकवित्त' का। वास्तव में जब जब यह लोक—भावी, तथा दूरन्देश नीतिज्ञों के हाथ में होता है तो यह राष्ट्र को शक्तिशाली बना सकता है, किन्तु यदि उसका दुरुपयोग किया जाय तो अच्छे से अच्छे राष्ट्र का सत्यानाश कर सकता है। अन्य सभी शक्तिशाली औजारों की भांति यह

वित्त-शक्ति भी बुरे या भले दोनों प्रकार से प्रयुक्त की जा सकती है इसलिये वह केवल सिद्ध-मित्रों ही के हाथ में सौंपी जानी चाहिये ।*

लोकवित्त का क्षेत्र

लोकवित्त सिद्धान्त भी है। फिण्डले शीराज के अनुसार 'लोकवित्त' उन सिद्धांतों का अध्ययन है जिनके आधार पर 'लोकाधिकारी' धन एकत्र करते और उसे व्यय करते हैं । 'लोकाधिकारी, का तात्पर्य इस संबंध में देश के केन्द्रीय, प्रान्तीय और नागरिक शासन तीनों से है।

'लोकवित्त' एक क्षेत्र विशेष की सम्पूर्ण जनता से संबंध रखता है । क्षेत्र की दृष्टि से उसके चार प्रकार हैं।

१ स्थानीय अथवा नागरिक, जिसमें शहरों की म्यूनिसिपैलटियों, कारपोरेशनों आदि के आय व्यय का विचार होता है। उसी प्रकार में जिला बोर्डों के आय - व्यय का अध्ययन भी सम्मिलित हो जायगा ।

२ प्रान्तीय अथवा उपदेशीय–इस विभाग में राष्ट्र भर के विभागों का, जिन्हें एक-क्षेत्रीय (Unitary) शासन में प्रान्त तथा गणतंत्रीय (Federal) में राज्य, उपराज्य आदि कहते ह, शासकीय आयव्यय का अध्ययन होता है ।

३ राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय–जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की सरकार के आयव्यय का अध्ययन किया जाता है ।

४ अन्तर्राष्ट्रीय–जिसमें संसार के अधिकांश अथवा सभी राष्ट्रों के सम्मिलित संगठन, जैसे राष्ट्र संघ के लोकवित्त का अध्ययन हो ।

एक और पांचवां भी विभाग अभी है और वह है, एक साम्राज्य शक्ति के अधिपत्य में जो कई राष्ट्र रहे हैं और वे फिर किसी रूप में साम्राज्य से निकलकर भी उसमें शामिल हैं, ऐसे संगठन का नाम अब कामनवैल्थ रख दिया गया है, जैसे अंगरेजी कामनवैल्थ, जिसमें भारत, पाकिस्तान आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, कनाडा आदि शामिल हैं । इस प्रकार के 'कामनवैल्थ' के केन्द्रीय आयव्यय का अध्ययन भी कुछ सीमा तक लोकवित्त में आ सकता है । यद्यपि ४ तथा ५ पहले तीनों रूपों की भांति पूर्णरूपेण 'लोकवित्त के क्षेत्र में नहीं आ सकते ।

लोकवित्त का रूप

लोकवित्त प्रारम्भिक काल से कुछ ही समय पूर्वतक उपज के भाग के रूप में वसूल किया जाता रहा था । उदाहरणार्थ एक किसान ने गेहू उपजाया तो गेहूं ही वह कर रूप

---

*"Public Finance and our Poverty, by J. C. Kumarappa P. 1"

में देगा, ज्वार उपजी है तो ज्वार देगा परन्तु इससे शासकोंको कई कठिनाइयाँ हुई और फिर अब सिक्के का चलन पक्का स्थान ग्रहण कर चुका तो हर जगह सिक्कों में ही कर लिया जाने लगा। आज जिस रूप में लोकवित विकसित होते होते आ पहुँचा है उसमें बिना निश्चित मूल्य-द्रव्य-अर्थ-गठन के काम नही चल सकता अर्थात् लेनदेन का साधन सिक्का हो और उसकी क्रयशक्ति लगभग निश्चित हो। इस प्रकार का आर्थिक गठन लोक वित्तीय क्षेत्र में होना आवश्यक है, अन्यथा बजट वनाना अति कठिन होगा। यह अन्दाज लगना कठिन हो जायगा कि कितना व्यय किस कार्य में किया जाय ताकि अमुक प्रभाव उत्पन्न हो अथवा अमुक कार्य सम्पन्न होजाय और फिर उसके आधार पर कर के स्वरूप, भार, प्रभाव, ऋण की व्यवस्था आदि का हिसाब नहीं लगाया जा सकेगा।

विभिन्न सरकारों की लोकवित्तीय समस्याएँ बिल्कुल एक सी नहीं होतीं। व्यवस्था क्षेत्र, जनसंख्या, कार्यविस्तार, आय प्राप्ति के तरीके, व्यय के उद्देश्य, अन्य सरकारों तथा अधिकारियों से सम्बन्ध आदि के अनुसार समस्याओं में अन्तर आ पड़ते हैं। फिर भी सिद्धांतों की दृष्टि से मुख्य समस्याएँ बहुत कुछ एक सी ही रहती हैं।

अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

'लोकवित्त' का संबंध अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के साथ बहुत गहरा रहा है। अर्थशास्त्र का तो यह एक भाग है ही। देश की हर आर्थिक अवस्था पर 'लोक-वित्त' के कार्यो का प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्र के अन्य सिद्धांतों को, जैसे मुद्राचलन, मूल्य सिद्धांत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, बंक कार्य आदि समझे वगैर 'लोकवित्त' समझा नहीं जा सकता।

लोकवित्त का राजनीति से और भी गहरा सम्बन्ध है किन्तु प्रभाव के रूप में है। राजकीय गठन पर लोकवित्त का स्वरूप बहुत कुछ निर्भर होता है। यदि सरकार राजतंत्री है और निरंकुश शासक है तो 'राजस्व' रूप होगा, जनता लूटी जायगी और राजा और उसके मित्र रँगरेलियाँ मनायेंगे। कर भार साधारण जनता पर भयंकर होगा। व्यय, सरकार जन-कल्याण की दृष्टि से तो करेगी ही नहीं, सिर्फ वाचाल लोगों का मुंह बन्द रखने के लिये कुछ वित्त व्यय किया जायगा। यदि सरकार गणतांत्रिक अथवा पूंजीवादी है तो सरकारी कार्य, रक्षा, पुलिस आदि के अति-रिक्त कुछ सीमा तक सार्वजनिक कार्य भी किये जायँगे, यथा सिंचाई, शिक्षा आदि क्योंकि गणतंत्र अथवा सामन्तशाही और पूंजीवाद में 'कमसे कम हस्तक्षेप' का सिद्धांत माना जाता है और व्यक्ति स्वातंत्र्य पर जोर दिया जाता है। फ्रांस की प्रसिद्ध कहा-वत 'लैजज् फेयरे 'मत छेड़ो' का बोलबाला रहता है किन्तु जनवादी सरकार की अव-स्था में सरकार की सारी शक्ति हर प्रकार से जन कल्याण में ही लगती है, अतः सर-कार का आयव्यय वास्तव में 'लोकवित्त का रूप ले लता है और उसकी कौड़ी कौड़ी

हर प्रकार से जन-कल्याण में ही काम आ सकती है। इस अवस्था में कर भार का प्रश्न, व्यय के आधार और लोक कल्याण के प्रश्न का स्वरूप ही कुछ और हो जाता है।

'लोकवित्त' का उद्देश्य प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आडमस्मिथ के अनुसार दो प्रकार का है—

१ जनता की आय बढ़ाना

२ सरकार को जनसेवा के लिये काफी धन प्राप्त कराना।

लोकाधिकारी के अर्थ के संबंध में फिण्डले शीराज लिखता है "सरकार रक्षा और नियमन की औजार है, इस पुराने विचार के बजाय अब विचार यह हो गया है कि सरकार लोकसेवाओं का समूह, मनुष्य की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को पूर्ण करने का साधन है।*

परंतु वे दिन अब निकल गये है जब जनता और सरकार में दुश्मनी की भावना सी ही रहती थी। अब तो सरकार जनता की सेवकमात्र है। जनता का कल्याण ही उसका एक मात्र उद्देश्य हो सकता है। अतः अब लोकवित्त का उद्देश्य केवल एक ही हो सकता है—हर प्रकार से लोक कल्याण। 'यह बात अलग है कि कोई सरकार अक्षम या बहानेबाज़ हो, अथवा जनकल्याण किस व्यवस्था में संभव है, यह न समझ पाती हो तो उसे समझाना या बदलना अब पूर्णरूपेण जनता के हाथ में है। "लोक-वित्त' केवल उन तथ्यों से संबंध रखता है जो वास्तव में हैं, उन वास्तविकताओं और स्थितियों की ओर ही वह ध्यान देता है जिनका वास्तव में अस्तित्व है। उसे आदर्शों से कोई मतलब नहीं।" शीराज के इस मत में बहुत कुछ तथ्य है किन्तु लोकवित्त का उद्देश्य चूँकि परिस्थिति को यथापूर्व रखना नहीं है अतः वर्तमान की वास्तविकताएं केवल आधार मात्र रह सकती हैं, उद्देश्य नहीं बन सकतीं।

'लोकवित्त' के मुख्य विभाग हैं:—

१ लोक व्यय

२ लोक आय

३ लोक ऋण

४ लोकवित्त व्यवस्था (बजट, हिसाब परीक्षण)

५ लोक आयोजन

लोक व्यय के अंतर्गत सरकारों के कार्यों का क्षेत्र तथा उसमें होनेवाले व्ययों का अध्ययन किया जा सकता है।

लोक आय में सरकारों के आय प्राप्त करने के उपायों तथा उनसे संबंध रखने

*Science of Public Finance Vol. I. P.169

वाली समस्याओं का अध्ययन होता है। उसीमें सरकारें जो नोट छाप कर आय करती हैं उसका विचार किया जाता है।

लोकऋण के प्रकरण में सरकारों द्वारा प्राप्त किय आन्तरिक तथा वाह्य, ऐच्छिक तथा बलात् ऋणों के रूपों, तरीकों और परिणामों का अध्ययन होता है।

लोकवित्त व्यवस्था के दो भाग हैं, बजट और हिसाब परीक्षण। इस विभाग के अन्तर्गत मुख्यत: लोकवित्त अधिकारियों के उद्देश्य, राष्ट्रगठन, बजट की विभिन्न मदों के पारस्परिक संबंधों, बजट के अधिकार आदि पर विचार होता है और हिसाब परीक्षण के अन्तर्गत परीक्षण के उद्देश्य, सरकारी आयव्यय, और उसके विभागीय विभाजन पर नियंत्रण आदि का अध्ययन किया जाता है।

लोकायोजन लोकवित्त का एक बिल्कुल नया पहलू है जिसके अंतर्गत देश–निर्माण की लम्बी योजनाओं पर विचार और तज्जनित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

लोकवित्त ग्रौर वैयक्तिक वित्त में ग्रन्तर

लोकवित्त तथा वैयक्तिक वित्त व्यवस्था में बड़ा भारी अंतर है। केवल वैयक्तिक वित्त के अध्ययन से लोकवित्त की समस्याएँ समझ में नहीं आ सकतीं, परन्तु कुछ एक सा पन भी है। सरकार और व्यक्ति दोनों ही आय और व्यय बिना जीवित नहीं रह सकते। अपने भविष्य का दोनों को ख्याल रखना पड़ता है, परन्तु इन दोनों में अन्तर काफी है।

एक सर्वमान्य अन्तर तो यह है कि व्यक्ति अपने व्यय को अपनी आय के अनुरूप बनाकर चलता है। पहले अपनी आय का हिसाब लगा लेता है और व्यय को इससे आगे नहीं बढ़ने देता। परन्तु सरकार का काम उलटा है। सरकार अपनी आय को व्यय के अनुरूप बना सकती है। सरकार पहले अपनी आवश्यकताओं का हिसाब लगाती है और बाद में वह विचार करती है कि यह इतनी आय कौन कौन से कर या ऋण आदि से की जाय।

व्यक्ति को कभी कभी परिस्थितियों से अनुसार अपनी आय को व्यय के अनुरूप भी करना पड़ जाता है। यदि उसने विवाह कर लिया या नया घर बनाना है तो वह अधिक प्रयत्न करके अपनी आय बढ़ायेगा। इसी प्रकार यदि बाल-बच्चे बड़े होकर कमाने लगे तो वह अपनी मेहनत कम करके जरा आराम के जीवन का विचार कर लता है। सरकार का भी यही हाल है। यदि व्यय युद्ध अथवा बाढ़ आदि कारणों से एकदम सिर पर आ पड़ता है तो वह कुछ तो कर बढ़ा कर आय बढ़ा लेती है कुछ ऋण से लेती है, कुछ नोट छाप डालती है। इसी प्रकार बजट के घाटे का प्रबन्ध

किया जाता है। यदि किसी वर्ष आय अधिक हो गई तो अगले वर्ष कर में कमी कर दी जाती है। ऋण चुका दिये जाते हैं या नये कार्य हाथ में ले लिये जाते हैं।

व्यक्ति और सरकार में यह अन्तर भी है कि सरकार बाह्य या आन्तरिक लोगों से ऋण ले सकती है, नोट छाप सकती है, कर लगा सकती है, परन्तु व्यक्ति न तो अपने कुटुम्बियों या बाहर वालों पर कर लगा सकता है और न उसके रुक्के नोट की तरह चल ही सकते हैं, उसके अकेले के भरोसे उसे ऋण भी अपनी ही भूत भावी बचत के आधार पर भले ही मिल जाय। सरकार की साख तो देश भर की संपत्ति और आय के आधार पर होती है।

डाल्टन इस बात को मानता है कि व्यक्ति की तरह सरकार को भी अपने व्यय और आय विभिन्न मदों की सीमान्त उपियोगिताओं की समानता के आधार पर निश्चित करने चाहियें। यद्यपि उसका निश्चय करना प्रत्यक्ष आधार पर नहीं, केवल वैयक्तिक समझ पर निर्भर है। फिर भी वह कहता है कि वैयक्तिक समझ के बजाय प्रत्यक्ष बातों के आधार पर ही सरकार को ऐसे निश्चय करने चाहियें।

सरकार के विभिन्न विभाग व्यय को अपनी पारस्परिक रस्साकशी और वित्त-विभाग से कशमकश के फलस्वरूप तै करते हैं फिर भी अधिकांश व्यय तो पुरानी व्यवस्था के आधार पर तथा पुराने समझौतों और जिम्मेदारियों के आधार पर पूर्ववत् होते ही रहते हैं। जितने भाग को तै करना पड़ता है वह वास्तवमें बहुत कम होता है जबतक कि नई नीति पुरानी व्यवस्था में भारी हेरफेर करने की न हो।

व्यक्ति आय-परक कार्यों को अपने मनमाने समय और तरीके से जमाने में बहुधा असमर्थ रहता है। उसे अकसर बँधे समय में बंधे तरीके से सबके साथ काम करना पड़ता है। कुछ लेखक या फेरीवाले स्वतंत्र व्यक्ति ऐसे हैं जो ऐसा कर सकते हैं परन्तु सरकार ऐसे किसी बंधन में बँधी नहीं होती।

भविष्य का विचार व्यक्ति की तरह सरकार को भी करना चाहिये। सरकार का आधार राष्ट्र है, राष्ट्र की जनता है। ये कभी नहीं मरते, हमेशा रहते हैं। अतः सरकार को सुदूर भविष्यत् का पूर्ण विचार करके लोकवित्तीय व्यवस्था करनी चाहियें। कई बार सरकारें आगे आने वाली पीढ़ियों पर ऋण छोड़ जाती हैं। एक सरकार ऋण लेती है और उसे मनमाने व्यय करके खतम कर डालती है और फिर वह बादमें आगे आने वाली जनता से कर के रूप में वसूल करके ब्याज सहित चुकाया जाता है तो यदि भावी संताने ऋण के लिये उत्तरदायी बना दी जाती है तो भलाई भी उनके लिये कर के छोड़नी चाहिये। कुछ लोगों का यह ख्याल है कि सरकार को एक वर्ष से आगे की बात नहीं सोचनी चाहिये, सर्वथा अनुचित है बल्कि लोकायोजन मदों के आविर्भाव ने अब इस ख्याल को सदा के लिये खतम कर दिया है।

लोक-व्यय

२

लोक व्यय का स्वरूप और विस्तार

प्राचीन काल में और यहां तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश में भी लोकव्यय के सम्बन्ध में कोई सिद्धांत स्थिर करने की ओर प्रवृत्ति ही नहीं थी। सर-कारें, चाहे वे किसी भी प्रकार की रही हों, केवल कर वसूली की ओर ही ध्यान देतीं थीं। उसी के संबंध में अनेक प्रकार के विचार और मनन होते रहे। कर वसूली के ही सिद्धान्तों की ओर प्रयत्न भी होते रहे, किन्तु व्यय तो राजा की स्वेच्छा पर ही निर्भर था। अंगरेज, अमरीकी तथा फ्रान्सीसी लेखकों ने भी कभी लोकव्यय की ओर कति-पयांश के अतिरिक्त अधिक ध्यान नहीं दिया। भारतीय पराधीनता ने भारतीयों को इस ओर कुछ कर सकने का अवसर ही नहीं दिया। मुसलमानी काल में और अँग-रेजी काल में भी भारतीयों को सरकारी व्यय पर उँगली उठानेकी भी स्वतंत्रता नहीं थी।

केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा स्थानीय शासनों के अनुसार लोकवित्त का उपयुक्त वर्गीकरण भी नहीं किया गया था। व्यय के लिए किन्हीं कसौटियों अथवा नियमों पर भी विचार नहीं किया गया था। परंतु अब यह हर सरकार मानती है कि 'लोकव्यय' का प्रश्न भी उतना ही महत्व रखता है जितना 'लोकआय' का। बल्कि यह कहना होगा कि इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की सांसारिक राजनीतिक गतिविधि में तो लोकव्यय ही सबसे अधिक ध्यान देने का विषय है। उसीसे संपूर्ण राष्ट्र का जीवन बनता अथवा बिगड़ता है।

फिण्डले शीराज लिखता है कि 'लोकवित्त' क्रयशक्ति का एक श्रेणी से लेकर दूसरी श्रेणी को हस्तान्तरणों की एक लड़ी है, विशेषतः धनी वर्ग से दरिद्र वर्ग को। उससे आमदनियों में जो असमानता हैं वह कम होती जाती है, और इस शताब्दी में 'अधिकतम सामाजिक लाभ' का जो सिद्धान्त है उसके लिये व्यय के किसी भी सिद्धान्त में जोर देना आवश्यक हैं।*

लोक व्यय के स्वरूप का जिक्र करते हुए डाक्टर डाल्टन ने उन लोगों की खिल्ली उड़ाई है जो यह सिद्धान्त बधारते हैं कि 'सरकार की अपनी निजी आवश्यकताएँ होती

---

*The Science of Public Finance – Shiraz P. 46

हैं और सरकारी व्यय से ही वे पूरी हो सकती हैं" । वे कहते हैं कि इस सिद्धान्त के कारण विचार में उलझन पैदा होती है। यदि ज्यों का त्यों उस पर विचार करें तो यह एक हीगलीय (हीगल एक दार्शनिक की सी) बकवास है, और यदि इसे अलंकारिक रूपक समझें तो यह हमको किसी रास्ते पर नहीं ले जाती। वास्तव में बात यह है कि केवल व्यक्तियों की ही आवश्यकताएँ होती हैं, लेकिन इनमें से कुछ आवश्यकताएं ऐसी हैं जिन्हे सरकार द्वारा ही, और लोकव्यय से ही सन्तुष्ट किया जा सकता है ।×

लोक व्यय बढ़ रहा है

लोक व्यय की मात्रा लगातार बढती है चली आ रही है । उसके कई कारण हो सकते हैं ।

१ सरकार के अधिकार के अन्दर का क्षेत्र और जनसंख्या बढ़ जाना ।

क्षेत्र बढ़ जाने से सरकार की जिम्मेवारी बढ़ जाती है । हर जगह बढ़े हुए भाग में भी पुलिस और फौज का प्रबंध करना होता है । न्यायालय भी खोलने पड़ते हैं । कर वसूली आदि का प्रबंध, शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई आदि अनेक खर्च बढ़ जाते हैं । जनसंख्या यदि थोड़ी है पर अधिक क्षेत्र में फैली है तो भी खर्च बढ़ेगा जैसे कनाडा, आस्ट्रेलिया,और रूस में । क्योंकि थोड़े से लोगों के लिये हर प्रकार का प्रबंध करना आवश्यक हो जाता है । उदाहरणार्थ एक ही जज आज क्वीबैक और कल ही वेंकूबर नहीं पहुँच सकता । कनाडा के इन दो शहरों के बीच में ३००० मील का फासला है ।

अधिक और संगट्ट जनसंख्या में भी व्यय अधिक होता है। जैसे बंबई, दिल्ली, लंदन, पेकिंग । इनमें हर मुहल्ले में पुलिस, थाना, सफाई प्रबंध आदि आवश्यक है ।

जनसंख्या की हर ओर वृद्धि भी व्यय बढ़ाती है । १६८८ में अंगरेजों के अनुसार संसार की जनसंख्या ४७ करोड़ से अधिक नहीं थी परंतु अब तो दो अरब से भी अधिक है । हर सरकार के क्षेत्र की जनसंख्या बढ़ी है ।

२ कीमतों की वृद्धि से भी लोकव्यय बढ़ता है। सरकारी कर्मचारियों के वेतन , तनख्वाहें, भत्ते आदि बढ़ाने पड़ते हैं अन्यथा कर्मचारी काम नहीं कर पायेंगे। सरकार जो माल खरीदती है–फौज, दफ्तर, सामाजिक कल्याण के कार्यों आदि के लिए यह खरीद होती ही रहती है–उसका दाम अधिक देना पड़ता है ।

३ राष्ट्रीय संपत्ति और राष्ट्रीय आय की वृद्धि से भी लोकव्यय उसी के अनुरूप बढ़ जाता हैं । लोगों का रहन-सहन अधिक सम्पन्न हो जाता है । उन्हें सामाजिक सुविधाएँ भी उसी स्तर की आवश्यक हो जाती हैं । अच्छी सड़कें, अच्छे पार्क आदि । संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस उदाहरण हैं । यह ठीक ही कहा गया है कि 'यह

× Principles of Public Finance by H. Dalton, P. 196

तो कोई नहीं चाहता कि कर ऊँचे हों पर हर व्यक्ति ऐसी वस्तुएँ अवश्य चाहता है कि जिससे कर ऊँचे होने आवश्यक हो जाते हैं ' ।

इस सम्बन्धमें दो बाते कही जाती हैं, एकतो यह कि राष्ट्रकी प्रतिव्यक्ति संपत्ति जितनी ही अधिक होगी उतने ही व्यय के क्षेत्र और स्तर बढ़ेंगे । रक्षा और प्रबंध के अतिरिक्त सामाजिक कल्याण के काम बढ़ेंगे परन्तु इनमें विभिन्न वर्गों में संवर्ष होगा । अँगरेज अर्थशास्त्री मिल का कहना है कि "सार्वजनिक हित की ऐसी कोई बात नहीं है जो वांछनीय नहीं होती, किन्तु वे होती हैं सरकार के किये ही । क्योंकि ऐसा नहीं है कि व्यक्ति उसे कर नहीं सकते' बल्कि असल बात यह है कि वे करना चाहते नहीं"

मिल इस मामले में हमको सत्य को समझते कम दिखाई देते हैं । यह ठीक है कि कुछ स्वार्थी व्यक्ति अवश्य ऐसे हो सकते हैं जो शक्ति हो तो भी सार्वजनिक काम नहीं करेंगे, परन्तु अधिकांशत: सरकारी काम ऐसे ही होते हैं जिन्हें व्यक्ति कर ही नहीं सकता । देश के, या संसार के व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति ही उन्हें पार लगा सकती है, उदाहरणार्थ देश रक्षा एक व्यक्ति नहीं कर सकता, फौज ही आवश्यक है । निःशस्त्रीकरण अकेला कोई राष्ट्र करेगा तो धोखा खायेगा । सभी अथवा अधिक शक्तिशाली कई राष्ट्र मिलकर ही कर सकते हैं । रेल निर्माण और व्यवस्था, बड़े कारखाने आदि जन-समूह-शक्ति द्वारा ही सम्भव हैं ।

इतना तो प्रयाग विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका कुमारी साधना गुप्ता ने भी अपने लेख 'सार्वजनिक-व्यय' (अर्थशास्त्र के मूलाधार नामक ग्रंथ, पृष्ठ ५१७) में मान लिया है कि जहां भी व्यक्तिगत साहसोद्यम किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति करने में, केवल इसी कारण कि उसे लाभ नहीं होता, असफल रहा है, और जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ और सार्वजनिक हित में विरोध हो गया है या जहां सार्वजनिक संस्थाएँ अधिक मितव्यय सेवा प्रदान कर सकी हैं वहां राजकार्य अनिवार्य हो गया है ।" अर्थात् कुछ ऐसी भी स्थितियां हैं जिनमें सरकार का पैर रखना अनिवार्य है ।

दूसरी बात यह है कि जितना ही देश में सम्पत्ति और आमदनी में विभिन्न वर्गों में अन्तर होगा उतना ही अधिक सरकारी व्यय बढ़ेगा । यहाँ सार्वजनिक हित के कार्य अधिक करने आवश्यक होंगे और क्रमागत-वृद्धि–प्राप्त कर वसूल करने का प्रबन्ध करना होगा ।

४. युद्ध भी लोकव्यय बढ़ने का एक बहुत ही बड़ा कारण है । धनी से धनी राष्ट्र युद्धों में तबाह हो चुके हैं । युद्ध का अर्थ इतना ही नहीं है कि किसी ने अपने देश पर आक्रमण कर दिया तो हमें लड़ना ही है, परन्तु यह भी है कि हमें अपने बचाव के लिये हमेशा तैयार रहना है और इसके लिये भारी व्यय होता है । संसार की सभी सरकारों पर जो भारी ऋण आज हैं, वे अधिकांश में युद्धों में ही हुए हैं । लोकऋण

जिस पर हम एक अलग ही अध्याय में विचार करेंगे, मूल तथा व्याज दोनों के भारसे ही देश को नहीं दवाता बल्कि साहूकार, यदि कोई साम्राज्यवादी सरकार है तो, कर्ज-दार के गले में राजनीतिक तथा व्यापारिक शोषण की फाँसियाँ और डाल दी जाती हैं।

युद्ध के नये से नये साधन भी बड़े खर्चीले हैं। पहले समय में सभ्य समाज को जंगली और असभ्यों के सामने हार खानी पड़ती थी परन्तु अब युद्ध केवल शारीरिक शक्ति का काम नहीं रह गया। युद्ध अब एक कला हो गया है। उसको विज्ञान मदद करता है, जो देश जितना ही वैज्ञानिक तथा औद्योगिक दृष्टि से उन्नत है और जिसकी जनता भर एक विश्वास के साथ प्राणपण से भिड़ जाती है वही देश विजयी होता है।

५. लोकसत्ता की भावना का उदय और वृद्धि भी सरकारी व्यय को बढ़ाते हैं। योरुप में फ्राँस की राज्यक्रान्ति के ही समयसे जनतामें लोकसत्ता, भातृ-भाव आदि घर करने लग गये थे और जन कल्याण के लिये सरकार द्वारा कार्य किये जाने चाहियें, यह भावना बढ़ने लगी थी। फिर भी 'छेड़ो मत' के सिद्धान्त के कारण जनता के आर्थिक जीवन से वसूली के अलावा सरकारें दूर ही रहती थीं। परन्तु सन् १९१७ की रूसी क्रान्ति के समय से समाजवाद की स्थापना हुई और सरकार का कर्त्तव्य 'छेड़ो मत' के स्थान पर 'पूर्ण-आयोजित व्यवस्था' हो गया। अतः लोकवित्त का रूप ही बदल गया और जनता का पूरा आर्थिक जीवन, आर्थिक उत्पादन, वितरण आदि सभी लोकवित्त का एक अंग बन गया और सम्पूर्ण देश के आर्थिक उत्पादन का व्यय, कम से कम, आदर्श के रूप में तो लोक व्यय के अन्तर्गत आ गया और वस्तुतः अनेक अंशों में ऐसा हुआ भी। हाल ही में चीन, रूमानिया, बल्गारिया, अल्बानिया, जेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड आदि में लोकसत्ता का यही रूप आ गया है। द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप, लोकव्यय युद्ध ऋणादि के अतिरिक्त उस रूपमें भी बढ़ा है।

भारत में भी स्वतंत्रता के पश्चात् से ही पंचवर्षीय योजना द्वारा अनेक जन-कल्याण के कार्यों की ओर लोकव्यय बढ़ता जा रहा है। वयस्क मताधिकार द्वारा पूरा देश व्यवस्था में भाग ले रहा है। फिण्डले शीराज लिखता है "जनता की, जनता के लिये और जनता द्वारा, शासन सस्ता नहीं होता, क्योंकि उस स्थिति में जनता में पारस्परिक कशमकश बहुत होती है।" हाल ही में फ्राँस में थोड़े ही समय के अन्दर बीस बार सरकार बदल चुकी है।

लोकव्यय घटाया भी जाता है

इसके मुख्य तरीके होते हैं मितव्ययता और कटौती। इस सम्बन्ध में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं।

१. द्रव्य के मूल्य में अन्तर आजाना। रुपये का मूल्य बढ़ जाय अर्थात् पहले की अपेक्षा आज यदि रुपये में अधिक सामान खरीदा जा सकता है तो सरकार द्वारा

खरीद में व्यय कम होगा। वेतनादि कम किये जा सकते हैं। मँहगाई भत्ते कम या बंद हो सकते हैं, लोक ऋणों का कुल व्याज कम किया जाना चाहिये इत्यादि।

(२) बहुत से कम आवश्यक विभाग या काम बंद किये जा सकते हैं। वेतनों अथवा व्ययों में मितव्ययिता के अतिरिक्त, कुछ कम आवश्यक और अनावश्यक वेतन-भोगियों को हटाया जा सकता है, जैसे एक व्यक्ति तंगी के समय अपने खर्च कम करता है उसी प्रकार सरकार भी कर सकती है।

(३) मितव्ययता की इच्छा और योग्यता पर ध्यान देना भी आवश्यक हैं। कुछ सरकारें ऐसी होती हैं कि अँधाधुंध व्यय करती हैं। शासक लोग रुपये को सार्वजनिक कार्य में लगाने का नाम लेकर उससे अपने और अपने आदमियों के घर भरने में लग जाते हैं। चीन के च्यांगकाईशेक की सरकार इसके लिये बदनाम थी। हर अधिकारी बहती गंगा में हाथ धोने लगता है और लोकव्यय महा अपव्यय का रूप ले लेता है। ऐसी अवस्था में मितव्ययता की इच्छा का ही अभाव समझा जाता है और ऐसे लोग बहुधा होते भी अयोग्य हैं। ऐसी सरकार मितव्यय नहीं कर सकती।

मितव्ययता अथवा अल्पव्यय का दूसरा पहलू है अधिक कर लगाना। परंतु यह और अधिक बोझ बन कर जनता पर बैंठेगा और 'लोकवित्त' की मशीन टूट जायगी। कागजी द्रव्य का सहारा लेना पड़ेगा जो किसी भी सरकार के लिये खतरनाक है। जर्मनी प्रथम महायुद्ध में और चीन हाल ही में च्यांगकाईशेक के अन्तिम दिनों में इसके कुपरिणाम भोग चुके हैं।

लोक व्यय तथा व्यक्तिगत व्यय की तुलना

लोक व्यय और व्यक्तिगत व्यय में अथवा उसकी व्यवस्था में कई अंतर हैं। मोटे तौर पर उन्हें यों गिन सकते हैं—

१ व्यक्तिगत व्यय आय के आधार पर निर्भर होता है। आय कम या अधिक होते ही व्यय में घटा बढ़ी करनी पड़ती है। व्यक्ति के सामने आय करने का सवाल पहले है। आय यदि वह नहीं कर सकता, तो व्यय भी नही कर सकता। परंतु 'लोक व्यय' अथवा सरकारी खर्च पहले निश्चित करके उसके आधार पर आय का प्रबन्ध किया जाता है। सरकार को सोचना होता है हमें कुल कितना व्यय करना है साल विशेष में अथवा काल विशेष में, जैसे पंचवर्षीय योजनादि में। उसकी पूर्ति के लिये फिर जनता पर कर लगाकर अथवा ऋण लेकर सरकार आय कर लेती है। व्यक्ति की तरह सरकारें भी बिना एक न्यूनतम आय के नहीं जीवित रह सकतीं। सरकारों के लिये भी सेना, पुलिस, कर्मचारी तो आवश्यक हैं हीं। परंतु सरकार मनमानी आय भी नहीं कर सकती। युद्धादि में आकस्मिक व्यय बहुत अधिक बढ़ जाने पर कर द्वारा आय पूरी नहीं पड़ पाती और ऋण लेना आवश्यक हो जाता है।

कभी कभी राष्ट्र की सम्पूर्ण आय और सरकारी आय के अनुपात का भी विचार कर लिया जाता है और इस विचार के आधार पर नियामक सभाएं, कर स्वीकृति में आपत्ति उठा सकती हैं। भारत में कुल राष्ट्रीय आय लगभग ९००० करोड़ रुपये है और सरकारी आय लगभग ४५० करोड़ रुपये। इस प्रकार सरकारी वार्षिक व्यय राष्ट्रीय आय का बीसवाँ भाग हो जाता है।

२ लोकव्यय-अनिवार्य होता है। हर सरकार को ऋण-शोधन, व्याज, और रक्षा तथा शान्ति रखने के लिये तो व्यय करना ही पड़ता है, फिर भी कुछ व्यय ऐसे हैं जिनमें अनिवार्यता के उतार चढ़ाव हैं। अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी की अवस्था में प्रतिरक्षा अथवा युद्ध व्यय परमावश्यक हो उठते हैं। पर विदेशी ऋण उड़ाया जा सकता है जैसे ब्रिटेन और रूस ने अपने कुछ विदेशी ऋण देने से इन्कार कर दिया था।

परंतु अब तो लोक व्यय में अनिवार्यता की सीमा बढ़ती जा रही है और उसका लोच कम होता जा रहा है। रक्षा, शांति के अतिरिक्त जनकल्याण कार्य, जैसे सड़कें, पुल, बन्दरगाह, जल प्रबंध, बिजली उत्पादन, वितरण, रेलें, डाक, तार, स्वास्थ्य-सफाई, शिक्षा आदि भी अब उपेक्षित नहीं किये जा सकते। यदि कोई वित्त मंत्री इन पर कुल्हाड़ा चलाता है तो जनमत उसके विरुद्ध हो जाता है और उसको बदल दिया जाता है।

३ लोक व्यय में मुनाफे की धारणा नहीं रहती। व्यक्ति अपना व्यय मुनाफ़े का या बचत का ख्याल रख के करता है पर सरकार के व्यय में बचत संयोगवश ही हो जाती है और जन-सेवा कार्यों में भी मुनाफ़े की धारणा केवल संपूर्ण बजट को समतल करने ही की दृष्टि से रहती है, न कि कम्पनियों की तरह कुल मिलाकर मुनाफ़ा ही मुख्य उद्देश्य हो।

४ व्यक्ति हमेशा अपना लाभ देख कर ही व्यय करता है पर सरकारों के व्यय में कई बार किसी धारणा विशेष अथवा गुट विशेष को राजी करने के लिये भी व्यय करना पड़ता है। जैसे भारतीय सरकार को, स्वतंत्रता के बाद भी अंगरेजों को पेंशनें और व्यापार–लाभ देने पड़ रहे हैं। इंग्लैण्ड में एक बार जल सेना के व्यय में कटौती नहीं की जा सकी। *

५ एक और भी अन्तर है। व्यक्ति अपने पेशे या काम शुद्ध सुविधा का ध्यान रख कर चुनता है, किन्तु सरकार ऐसा चुनाव नहीं कर सकती। उसे तो रक्षा, शांति स्थापन में व्यय करना ही होगा। सार्वजनिक हित के काम जैसे जन-स्वास्थ्य, शिक्षा और अर्ध व्यापारिक काम जैसे रेल, सड़क, नहर टेलीफोन, तार, डाक, आदि पर व्यय रुकाया नहीं जा सकता।

* शीराज–Science of Public Finance P. 71

लोक व्यय का विस्तार

लोक व्यय के विषय में इस शताब्दी के प्रारंभ के राजस्वशास्त्रियों के अनुसार दो प्रकार के मत थे। एक तो ऐसे लोग थे जो यह कहते थे कि सरकार को रक्षा, पुलिस, राजकर्मचारी व्यय के अतिरिक्त और कोई व्यय नहीं करना चाहिये। और दूसरे वे थे जो सरकार के प्राथमिक कर्तव्यों के अतिरिक्त कुछ सार्वजनिक हितों के कार्यों की ओर भी अधिकाधिक व्यय करने के पक्ष में थे।

प्रथम प्रकार के लोगों में आडमस्मिथ, पार्नेल और ग्लैडस्टन मुख्य हैं। आडमस्मिथ अपनी पुस्तक 'राष्ट्रों की संपत्ति' में लिखते हैं कि "हरव्यक्ति, जब तक कि वह कानून के विरुद्ध नहीं जाता, अपने हितों के अनुसार चलने में स्वतंत्र है, अपनी पूंजी तथा उद्योग को किसी भी व्यक्ति या समूह की प्रतिस्पर्धा में ला सकता है। सम्राट एक ऐसे कर्तव्य से पूर्णतः मुक्त है जिसे पालन करने में उसे असंख्य भ्रमों का सामना करना पड़ता, जिसकी उचित पूर्ति के लिये कभी भी मनुष्य की बुद्धि अथवा ज्ञान उपयुक्त नहीं हो सकता। वह कर्तव्य है लोगों के निजी उद्योग धन्धों की देखभाल करना और उनको इस प्रकार चलाना कि समाज का अधिक से अधिक हित हो"।×

परंतु साथ ही आडमस्मिथ ने शासन और व्यापार को एक ही हाथों में देना भी उचित नहीं समझा, यदि व्यापार के लाभ बजट में शामिल नहीं होते हैं तो। ईस्ट इंडिया कम्पनी को उन्होंने बुरी तरह लताड़ा है। वे कहते हैं, निजी व्यापार और शासन का सम्मिलन नहीं हो सकता। यह एक बिल्कुल ही अनोखी सरकार है जिसका हर व्यक्ति सरकार को तिलांजलि देकर देश से यथाशीघ्र निकल भागना चाहता है। सारा धन लेकर अपने चले जाने के दिन से ही उस देश को ऐसे भूल जाता है कि मानो उसे कोई भूकम्प निगल गया हो।

पार्नेल ने सवा सौ वर्ष पूर्व अपनी पुस्तिका 'राजस्व सुधार पर' (१८३०)' में लिखा था कि 'सामाजिक शांति रखने और विदेशी आक्रमण से रक्षा करने के लिये जितना बिल्कुल ही आवश्यक है, उसके अतिरिक्त सभी व्यय राष्ट्र के धन को बेकार बरबाद करना है, अन्याय है, और जनता पर जुल्म का बोझ है।' ग्लैडस्टन कहा करता था कि 'द्रव्य को जनता की जेब में छोड़कर उसे फलने दो।' परंतु हक्सले ने इनको करारा उत्तर दिया और सरकारी हस्तक्षेप को आवश्यक बताया।

दूसरी प्रकार के लोगों में जर्मन लेखक थे जो सरकारी हस्तक्षेप जीवन के हर कार्य में चाहते थे। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सरकारें जनजीवन के अधिकाधिक कार्यों में अपने हाथ डालती जा रहीं थीं, किन्तु व्यक्तिवादी-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में

× शीराज द्वारा उद्धृत Wealth of Nations Bk.2

इससे अधिक हो भी नहीं सकता कि सरकारें अपने फौज, पुलिस, व्यवस्था आदि प्राथमिक कार्यों के अतिरिक्त सार्वजनिक कार्य यथा लोकस्वास्थ्य, प्रकाश, रेलों, सड़कों, तार, डाक आदि के लिए भी व्यय करें। कुछ रेल, तार आदि अर्धव्यवसायी कार्य के रूप में पूरी तरह हाथ में भी लिए जा सकते हैं।

'शीराज ने तो एक आदर्श सीमा की कल्पना की है कि लोकव्यय की हद वहाँ तक है जहाँ कि यह अवस्था आ जाय कि यदि एक मुट्ठी और द्रव्य व्यय करने से जो हितवृद्धि होगी वह उसके लिए आवश्यक कर वृद्धि जनित अहित की तुलना में कम होने लगे।'*

जैसा हम कह चुके हैं इस शताब्दी के उत्तरार्ध में जो लगभग आधी दुनियाँ में अर्थ प्रणाली लागू हो गई है, वह समाजवादी है। उसमें लोकव्यय की सीमा है ही नहीं। यद्यपि काल्पनिक आदर्श यह माना जा सकता है किन्तु इस अर्थव्यवस्था में लोकव्यय की वृद्धि कभी हानिकर हो ही नहीं सकती। लोकव्यय का विस्तार राजनीतिक व्यवस्था पर निर्भर अवश्य है परंतु अब राजनीतिक व्यवस्था जनसमृद्धि की ओर ही अधिकाधिक अग्रसर होती जा रही है, अतः लोकव्यय का विस्तार बढ़ता ही जायगा। अब सरकारी व्यय में प्रथम उद्देश्य जनसमृद्धि होना चाहिए। उसके लिये आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न करने के ही एक प्रयत्न का नाम प्रतिरक्षा और आन्तरिक रक्षा रहेगा। उत्पादन के साधनों को कोई गुट या व्यक्ति दबाकर न बैठ जाय और किसी के श्रम के फल को कोई दूसरा न हड़प जाय, ये परिस्थितियाँ उत्पन्न करना तो प्रथम है ही किन्तु उससे भी प्रथम कर्तव्य है कि देश की जनता में पारस्परिक संघर्ष की स्थिति के स्थान में उत्पादन के लिए हार्दिक सहयोग की भावना उत्पन्न होने की स्थिति उत्पन्न हो जाय।

वास्तविक और हस्तान्तरित व्यय

वास्तविक व्यय वह है जिसमें सरकार क्रीतमाल अथवा सेवाओं का स्वयं उपभोग करे, जो कि यदि सरकार न इस्तैमाल करती तो अन्य कार्य के लिए उपलब्ध रहतीं, परंतु हस्तान्तरित व्यय में सरकार ऐसा उपभोग नहीं करती बल्कि उसका अधिकार औरों को दे देती है। हथियारबन्दी और शिक्षा प्रबन्ध आदि वास्तविक व्यय हैं, परन्तु लोकऋण के व्याज की अदायगी, पेन्शन आदि हस्तान्तरित व्यय हैं। स्मार्त नामक एक अर्थशास्त्री ने इसे अच्छा स्पष्ट किया है। ज्वारी और पेटू दोनों ही अपव्यय करते हैं परन्तु ज्वारी के अपव्यय से संसार की कोई हानि नहीं हुई क्योंकि क्रयशक्ति केवल एक जेब से दूसरी जेब में चली गई किन्तु पेटू ने पूराही नुकसान कर दिया क्योंकि उसने क्रयशक्ति का उपभोग कर उसे नष्ट कर दिया।

---

* Science of Public Finance P. 75

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वास्तविक व्यय की श्रेणी में ही हस्तान्त-रित व्यय भी आ जायगा यदि वह हस्तान्तरण विदेशी के हाथ में हुआ है तो। क्योंकि इस देश की लोकवित्त व्यवस्था से वह निकल गया। यदि हस्तान्तरण स्वदेश में ही हुआ है तो ही वह अपनी दृष्टि से हस्तान्तरण है।

जैसा कि हम आगे विचार करेंगे, वास्तविक व्यय का प्रभाव देश के साम्पत्तिक उत्पादन के रूप और परिणाम पर पड़ता है। किन्तु हस्तान्तरित व्यय का प्रभाव ऐसे प्रत्यक्ष नहीं पड़ता। हां– अप्रत्यक्ष प्रभाव उत्पादन और वितरण दोनों पर पड़ता है।

३

लोक व्यय की कसौटियाँ

लोक व्यय सरकार करती है। सरकार का इस प्रसंग में अर्थ है राजा, उसका अर्थमंत्री अथवा आज की अवस्था में राज्य या राष्ट्रपति का मंत्रिमंडल। सरकार के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसी व्यय की मद को रक्खें या न रक्खें अथवा कितना उसमें व्यय करें, कितना दूसरी मदों के लिये रक्खें। इस प्रश्न को हल करने की दृष्टि से ही लोकवित्त शास्त्रियों ने कुछ कसौटियाँ निर्धारित कर दी हैं। कसौ-टियाँ धीरे धीरे बनी हैं। अनेक अर्थमन्त्री अपनी अपनी कठिनाइयों को विद्वानों और विचारकों के समक्ष रखते गये। प्रारंभ में निरकुंश शासकों के समक्ष मितव्ययता का तो प्रश्न ही न था। लोकहित भी बाद में आया। अनुमति की कसौटी का अर्थ था कि अर्थमंत्री केवल राजा की अनुमति प्राप्त करले, फिर वह चाहे कुछ भी करता रहे। बल्कि इंग्लैंड में राजा और पार्लियामेण्ट के अधिकारों की कशमकश के दौरान में व्यय की अनुमति का तो प्रश्न ही नहीं उठा, सिर्फ "कर लागू करने की अनुमति पार्लियामेण्ट से ले लेनी आवश्यक है" यही मुख्य माँग थी।

शासक के जनसंपर्क के साथ ही जनता की संतुष्टि का प्रश्न उठ खड़ा हुआ और फिर अर्थमंत्री को सतर्क होना पड़ा।

फिण्डले शीराज ने चार मुख्य कसौटियाँ लोकव्यय के लिये सामने रक्खी हैं।

१ हित

२ मितव्ययता

३ स्वीकृति

४ बचत

इसके अतिरिक्त ३ कसौटियाँ और सामने आई हैं, जो कि श्री विश्वम्भरसहाय तथा श्री मालीराम ने अपनी पुस्तक 'राजस्व की सरल रूपरेखा' में प्रस्तुत की हैं :-

५. लोच

६. उत्पादन वृद्धि

७. समान वितरण

इस प्रकार हम इन सातों कसौटियों पर अलग अलग विचार करेंगे। यद्यपि पुराने लेखक शीराज, डाल्टन आदि ने इन बातों को उन्हीं चार कसौटियों के पहलुओं के रूप में अन्तर्निहित कर लिया है तथापि इन लेखकों ने मौलिक रूप में उन्हें सामने रक्खा है, जो वास्तव में उनकी महत्त्वपूर्ण देन है ।

१–हित की कसौटी–हित का अर्थ लोकव्यय के प्रसंग में अभी क्षेत्र विस्तार की अवस्था में है । पहले राजा का हित ही उसका अर्थ था । फिर हित के क्षेत्र में उसके सामन्त और उसी स्तर के अन्य व्यक्ति आ गये । यूनानी जनतंत्र वास्तव में स्वतंत्र नागरिकों का ही हित लोकव्यय की इस कसौटी के अन्तर्गत समझता था, दासों और स्त्रियों के हित कोई पृथक नहीं समझे जाते थे । भारतीय लिच्छिवी आदि गण राज्यों में भी यही अवस्था थी ।

अब हित का अर्थ है देश की सम्पूर्ण जनता का हित । अधिकतम सामाजिक कल्याण की कसौटी अन्य सभी कसौटियों से महत्वपूर्ण है । बेन्थम ने प्रेस्टले से सीखा कि अधिकतम संस्था का अधिकतम सुख ही नैतिकता तथा कानून का मूल आधार है। बेच्चारिया (१७६४) ने भी यही कहा । कुछ का ख्याल है कि शायद मारकस औरेलियस तक इस विचार का मूल पहुँचता हो । शीराज अधिकतम सामाजिक कल्याण में तीन बातें गिनता है । एक, उत्पादन में वृद्धि, दूसरे, देश की समाज समष्ठि को विदेशी आक्रमण से बचाकर पूर्ण बनाये रखना और आन्तरिक शांति रखना तीसरे व्यक्तिगत आमदनियों की विषमता को यथासाध्य कम करना ।

इस पर और अधिक विचार की आवश्यकता है । शीराज ने जो तीन बातें गिनाई हैं उनके अन्तर्गत लोकव्यय की सभी मद आ जाने पर भी बात अस्पष्ट रह जाती है । परन्तु किस मद में कितना व्यय करना, उसकी एक जाँच निकल्सन ने बताई है कि सभी मदों के व्यय में सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके । कुमारी साधना गुप्ता (प्रयाग विश्वविद्यालय) ने अर्थ शास्त्र के मूलाधार नामक पुस्तक के अपने विभाग में सार्वजनिक व्यय का ज़िक्र करते समय लिखा है "सामाजिक कल्याण का एक वस्तुनिष्ठ प्रमाण रखने वाले शासक के लिये समस्त समाज के धन तथा ॠण की सम्भावनाएँ व्यय करने के लिये उपस्थित रहती हैं, और चूंकि सार्वजनिक व्यय किसी समाज के धन तथा उसके वितरण को परिवर्तित कर सकता है इसलिये व्यय की किसी निश्चित रकम का वितरण विभिन्न दिशाओं मे सम-सीमान्त उपयोगिता को ध्येय मानकर ही होना चाहिये ।"*

---

* अर्थशास्त्र के मूलाधार　पृष्ठ ५२०

अधिकतम लोकहित की कसौटी का एक और पहलू भी देखना पड़ेगा । केवल सम्पत्ति का उत्पादन बढ़ा देने से सार्वजनिक कल्याण नहीं हो जाता । भारत में अंगरेजी शासन काल में आर्थिक उत्पादन मुसलमानी काल की अपेक्षा बहुत बढ़ गया था । कृषि में भी, उद्योग धन्धों में भी, परन्तु जनहित की अपेक्षा जनशोषण और अकल्याण ही अधिक रहा । यदि उत्पादन के आधिक्य के साथ वितरण की समानता को कार्यान्वित करने की ओर व्यय किया जाय तो ही जनकल्याण अधिकतम हो सकेगा । रक्षा और शान्तिरक्षा की मदें सबसे अधिक आवश्यक हैं अवश्य, किन्तु इन्हीं मंदों में सरकारें इस कसौटी की सबसे अधिक उपेक्षा करती हैं । सैनिक व्ययों के सम्बन्ध में यह निश्चय करना कि कहाँ इसकी सीमा है समाजवादी सरकारों के अतिरिक्त सभी सरकारों को कठिन पड़ा है । इसकी सीमान्त उपयोगिता खोजना और अन्य मदों की सीमान्त उपयोगिता से समानता बैठाना बड़ा कठिन है । इस मद में बहुधा कुल आय का ४०% से ७० % तक चला जाता है । लोकसभाको इस पर बहस नहीं करने दी जाती । अनुमति केवल धमकी देकर ले ली जाती है कि अन्यथा शत्रु को सब कच्चा चिट्ठा हाथ लग जायेगा और गुट विशेष, जो फौजी नियंत्रण का अधिकारी है, के हित पर सार्वजनिक हित निछावर कर दिया जाता है ।

कई बार ऐसा भी होता है कि पहले लोकहित की दृष्टि से जो व्यय प्रारम्भ किया था वह परिस्थिति बदलने पर भी चालू रह जाता है और कभी बहुत से अत्यन्त लोकहित के कार्य भी खाली हाथ का सामना करते हैं ।

असमानता यथाशक्ति कम करने का विचार भी केवल बेकारी भत्ता देने के आधार पर सफल नहीं हो सकता । निर्धनता की तुलना में और कोई वस्तु अधिक व्ययसाध्य नहीं है, और भत्ता देने से गरीबी मिटती नहीं । प्रोफेसर जे. डी. बरनाल (ब्रिटेन) लिखते हैं––सोवियट हाइड्रोजन विस्फोट की घोषणा से कम से कम एक भला प्रभाव पड़ा होगा कि सोवियत संघ के विकास की ओर ध्यान आकर्षित हुआ, यह किसी भी हथियार से अधिक महत्त्वपूर्ण है । इतनी सफलता तो उन्हें मिल चुकी है । विज्ञान के उपयोग और शिक्षा के द्वारा जनता की बुद्धि के साधनों को वे प्रत्यक्ष कर चुके हैं । विश्वपूँजीवाद विशेष कर अमरीकी पूंजीवाद, सोवियत रूस से औद्योगिक विकास में काफ़ी आगे थे । इनका आगऊपन बहुत तेज़ी से समाप्त होता जा रहा है और तीन युद्धों में हुई रूस को भयानक हानि के बावजूद भी । यह एक ऐसी वस्तु है जो एक समाजवादी देश में ही सम्भव है और ज्यों ज्यों वर्ष पर वर्ष निकलते जाते हैं, यह बात गले उतरती जायगी कि समाजवादी उत्पादन व्यवस्था प्रत्यक्ष और बौद्धिक रूप में ऊँची होती है । आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र में, उच्च उत्पादकता अधिक कठोर परिश्रम करने और मजदूरी न लेने का फल नहीं है । यह निर्भर है इस बात पर कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्रुतगत परिणाम कलपुर्जों के रूप में आते चले जाँय ; चीजों

को अधिक अच्छी, अधिक जल्द और कम माल लगाकर बनावें, क्योंकि न्यूनतम लागत उन देशों में नहीं पड़ती जहाँ मजूरी न्यूनतम है, बल्कि उसके विरुद्ध, निर्धनता, अस्व-स्थता , तथा अज्ञान के मुकाबले में और कोई वस्तु अधिक मँहगी नहीं होती ।" †

इस प्रकार उत्पादन वृद्धि के लिये लोकव्यय का उपयोग अधिकतम जन कल्याणकारी तभी हो सकता है जब प्रो. बर्नाल के उपरोक्त उद्धरण पर ध्यान रख कर व्यय किया जाय ।

इस संबंध में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसी एक व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय अथवा थोड़े से व्यक्ति समूह के लिये ही व्यय न किया जाय, जब तक कि या तो

क—व्यय की रकम नगण्य न हो

ख—न्यायालय में उसका हक सिद्ध न हो सके

ग—सरकारी नीति के लिये आवश्यक न हो, जैसे किसी व्यक्ति विशेष को किसी कार्य के लिये पारितोषिक आदि देना अथवा जैसे अँगरेज सरकार भारत में ईसाइयों के स्कूल और गिरजाघरों को मदद देती थी । मुसलमान, हिन्दू आदि को नहीं देती थी । इस सम्बन्ध में श्री प्राणनाथ बिद्यालंकार लिखते हैं कि "भूखे मरते हुए दरिद्रों तथा कार्य में अशक्त वृद्धों को राजकीय सहायता मिलनी चाहिए क्योंकि ऐसे स्थलों में राजकीय धन व्यय की उपयोगिता जीवनोपयोगी उपयोगिता है । जीवन संरक्षण के सम्मुख शिक्षा आदि के सम्पूर्ण व्यय गौण हैं । इसी प्रकार दरिद्र लोग शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं, अतः राजकीय धन व्यय के द्वारा उनको शिक्षा मुफ्त दी जाय ।" ×

२ मितव्ययता की कसौटी

मितव्ययता तो हित के ही अन्तर्गत आ जाती है, क्योंकि फजूलखर्ची से अनेक हित के काम धरे रह जाते हैं और इच्छित प्रभाव उत्पादन आदि पर नहीं पड़ पाता ।

यदि वित्त व्यवस्थापक कमजोर हैं तो उस कसौटी का बहुधा उल्लंघन होता है, जैसे कोई भी व्यक्ति अपने निजी व्यय के सम्वन्ध में हमेशा सतर्क रहता है उसी प्रकार लोकवित्त व्यवस्थापक को भी हमेशा, हर रकम पर सजग और चौकन्ना रहना आवश्यक है कि माल अथवा सेवा, जिस किसी वस्तु के लिए सरकार व्यय करती है, उसका दाम उचित दिया जा रहा है और क्या वह आवश्यक है ही । भारत में भी अनेक व्यक्तियों की सेवाओं का अँगरेजी राज्य में इतना मूल्य दिया जाता था जो

† Labour Monthly December 1953

× राष्ट्रीय आयव्यय शास्त्र पृष्ठ ४८८

संसार में कहीं नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ वाइसराय, गवर्नरों और अन्य अनेक अफ़सरों के वेतन और भत्ते।

सामान के दामों में तो लगभग हमेशा ही ऐसा होता रहा है, खास तौर से गुलाम देशों में अँगरेज व्यापारियों को सड़ी से सड़ी चीज के दाम उसके उचित मूल्य से अनेक गुने दिये गये हैं। कुछ ऐसे लोग सरकार में घुस जाते हैं जो सारी अर्थ व्यवस्था को गन्दी कर डालते हैं, जैसे स्वतन्त्रता के बाद भारत में इंगलैंड से जीप-गाड़ियाँ खरीदने में धोखादेही और अपव्यय हुए।

३ स्वीकृति की कसौटी

लोकव्यय जिस कर्मचारी को करना है उसे सम्बन्धित अधिकारी से पूर्व स्वीकृति ले लेनी आवश्यक है। मंत्रिमंडल को लोकसभा से, और कर्मचारियों को अर्थमंत्री से। इस कसौटी का सर्वोपरि अर्थ तो यह है कि किसी भी मंत्रिमंडल को हर सम्भाव्य व्यय के लिए लोकसभा की खुली स्वीकृति लेनी चाहिए। लोकसभा में पूरी बहस, काटछाँट होकर पास हो जाय वही व्यय करना स्वीकृति से किया हुआ व्यय है। शीराज ही से हम एक उदाहरण संक्षेप में यहाँ देते हैं——भारत की एक प्रान्तीय सरकार ने एक बँगला बनवाना आवश्यक समझा। अप्रैल १९२० में बनना शुरू हो गया। लागत में १,९७०००) रुपये का बिल भारत सरकार के पास स्वीकृति के लिए जून में भेज दिया गया क्योंकि प्रान्तीय सरकार ३००००) से अधिक बिना केन्द्रीय आज्ञा के नहीं व्यय कर सकती थी। केन्द्र को बँगला आवश्यक नहीं जँचा, खास तौर से ऐसे बँगले की मामूली तौर पर लागत ९०००)से अधिक नहीं आती और उन्होंने 'ना' कर दी, पर बँगला बन गया। अब जब बन गया, तो दाम देना ही पड़ा, और २० गुना देना पड़ा। कितना अपव्यय है! बिना पूर्व-स्वीकृति व्यय करने से कितनी भारी हानि हुई! यह ग़लती बाद में हिसाब परीक्षक विभाग ने पकड़ी। इस स्वीकृति की कसौटी के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि——

क——किसी अधिकारी को ऐसा व्यय नहीं अधिकृत करना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप व्यय बढ़ेगा और उसके अपने अधिकार से बाहर की बात हो जायेगी।

ख——ऋण को जिसलिए लिया गया है उसी मदमें व्यय करना चाहिये और उसके व्याज और मूल की अदायगी का प्रबन्ध करके ही व्यय करना उचित है। इससे वह उन मदों में खर्च होने से बच जायगा जिनमें चालू बजट से व्यय मंजूर है।

४ बचत की कसौटी

यह बहुत ही अच्छा तरीका है कि आय अधिक रहे और व्यय उससे कम ही रहे, परन्तु कुछ का विचार है कि सरकारी मामलों में यदि आय हलकी सी कम ही

रहे तो मितव्ययता में सहायता मिलती है। ग्लैडस्टन का कहना है कि "फिजूलखर्ची के कारण क्रान्ति और सत्यानाश नहीं होते बल्कि आय और व्यय के संतुलन को खो बैठने से ये गड़बड़ें होती हैं। जो व्यय किया जाय उसके लिए यदि लोग देते हैं तो कोई दिक्कत नहीं हो सकती।" शीराज का मत है कि आय, व्यय से कुछ अधिक होनी चाहिए अथवा व्यय के इस अध्याय में यों कहें कि व्यय आय से कुछ कम ही होना चाहिए, परन्तु हमेशा बचत करते रहना और उसी के लिए जनता को अधिक कर भार से लादते रहना भी कल्याणकारी नहीं हो सकता। चाणक्य के काल में बचत अत्यन्त आवश्यक थी क्योंकि सरकार की स्थिति आज की भाँति सुदृढ़ नहीं थी। आज की भाँति वित्त विकास नहीं हुआ था, परन्तु आज तो बजट को संतुलित रखना ही उचित है इसलिए हम इस कसौटी को संतुलन की कसौटी ही कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यह कसौटी व्यय और आय दोनों पर ही लागू होती है।

लोच की कसौटी

इसके प्रतिपादकों की राय में लोकव्यय पूर्णरूपेण लोचदार होना चाहिये। परिस्थितियों के अनुसार लोकव्यय में कमी वेशी करना सम्भव होना चाहिए। अनेक ऐसे मौके हो सकते हैं जबकि अदृष्ट आवश्यकताएँ आ खडी हों तो उस समय व्यय बढ़ाया जा सके और ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि आय की कोई एक अथवा अधिक मदें अचानक सूख जाँय। उदाहरणार्थ शराब का आयात कर इसलिये सूख जाय कि लोग देशी ठर्रा ही पीने लगें। ऐसी अवस्था में लोक व्यय तुरन्त कम किया जा सके। परन्तु यदि लोकव्यय वास्तव में जन-समृद्धि में लग रहा है और उत्पादन वृद्धि तथा वितरण समानता के फलस्वरूप जनता को लोकव्यय का प्रत्यक्ष लाभ अनुभव हो रहा है तो ऐसी स्थिति आने की सम्भावना नहीं के बराबर रह जायगी क्योंकि जनता सानन्द सरकार को अन्य किसी प्रकार का कर आदि देने को राजी हो जायगी।

परन्तु व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था में व्यय में लोच रखना यहा कठिन कार्य है। सरकारी व्यय के अधिकांश को हड़पने वाले गुटों पर तो सरकार कुल्हाड़ा चला नहीं सकती क्योंकि वे उस सरकार के स्तम्भ होते हैं अत: सार्वजनिक सेवा कहे जाने वाले कार्यों में ही कटौती की जाती है। लोच का प्रभाव साधारण जनता के विरुद्ध ही पड़ता है।

६–उत्पादन वृद्धि की कसौटी

यद्यपि यह कसौटी लाभ की कसौटी के अन्तर्गत ही आ जाती है फिर भी इसका अपना महत्व है और बहुत प्रभावशाली महत्व है। बल्कि यह कसौटी अन्य

सभी से पहले गिनी जानी चाहिये, इसी कसौटी का यदि पूरा ध्यान रक्खा जाय तो देश समृद्ध होता चला जाय।

इस कसौटी का अर्थ है कि देश की सरकार का एक भी पैसा इस प्रकार व्यय नहीं होता कि उससे उत्पादन को अधिकतम सहायता न मिले, भारत सरकार द्वारा खाद का कारखाना, बड़े बड़े जलबन्द आदि इस ओर प्रयत्न हैं। परन्तु इनमें लगे रुपये का बहुत सा भाग बड़े गुटों की जेबों में जाकर ताले में पड़ गया और इसकी उत्पादन शक्ति समाप्त हो गई। भारतीय व्यय अभी अधिकांश व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति को उपयोग में आने से रोके हुए हैं। इस कसौटी पर केवल समाजवादी बजट ही सही उतर सकते हैं। हाँ हमारी जैसी वैयक्तिक लोकव्यय व्यवस्था में भी व्यय को ब्रिटेन या अमेरिका की भांति काफी हद तक उत्पादन वृद्धि-सहायक बनाया जा सकता है।

लोक व्यय की एक कसौटी और है। एक लेखक का मत है कि "उत्पादन की दृष्टि से लोक व्यय के वे रूप सामाजिकतः वांछित है जिनसे उत्पादन शक्ति अधिक बढ़गी, बजाय उस अवस्था के जबकि वही रुपया व्यक्तिगत हाथों में रहता †

७–समान वितरण

यह भी एक बहुत आवश्यक कसौटी है। उत्पादन यदि समानता से वितरित नहीं होता तो हमारे देश की तरह कुछ घरों में पड़ा सड़ता है। अनेक उत्पादन के साधन असमान वितरण के कारण कुछ हाथों में रह कर बेकार पड़े हैं और अधिकांश लोग भूखों मरते हैं, इससे उत्पादन रुकता है, देश-समृद्धि को धक्का लगता है।

इस प्रकार ये कसौटियाँ बड़ी लाभदायक हैं। इन पर हम अपने हर बजट के लोक व्यय को कस कर देखें तो पता चलेगा कि देश की वित्त व्यवस्था कहाँ तक ठीक काम की है।

---

† H. Dalton– Public Finance P. 220

लोकव्यय का वर्गीकरण

विज्ञान का तरीका यह है कि किसी बात को समझने के लिये हम उसे कुछ सुगम भागों में विभाजित कर लेते हैं। यह विभाजन या वर्गीकरण भिन्न दृष्टिकोणों से हो सकता है। वर्गों के नाम भी इसी दृष्टिकोण के आधार पर होंगे। दृष्टिकोण, किसी वस्तु को विशेष पहलू से, अध्ययन करने के लिये, देखना है। अध्ययित सामग्री को सूक्ष्म छानबीन के लिये विभिन्न कसौटियों पर कसना होता हैं, विभिन्न घोलों में घोलना होता है। यही नहीं, इससे भी अधिक 'लोकवित्त' के विषय में यह बात सच है। लोकवित्त की हर छोटी बड़ी रकम के आदान प्रदान, उसकी विधि उसके पात्र, उसके उद्गम, उसकी अवधि आदि सभी के, देश के विभिन्न सामाजिक स्तरों, अंशों और सम्पूर्ण पर अनेक प्रकार के बड़े गहरे प्रभाव पड़ते हैं।

अंगरेजी शासन काल में लोकवित्तीय कुव्यवस्था के कारण ही भारत महा दरिद्र और हीनोत्साह हो गया था और लोकवित्तीय सुव्यवस्था ने ४, ५ ही वर्ष में चीन को दरिद्रता के चंगुल से बाहर निकाल लिया। अत: लोकव्यय का महत्त्व देखते हुए उसे बारीकी तक समझना आवश्यक है और इसके लिए वर्गीकरण भी। किन्तु वर्गीकरण ऐसा होना बहुत कठिन है कि विभिन्न वर्गों में लौहभित्ति खड़ी हो जाय। केवल मोटे तौर पर ही विभिन्न वर्ग एक दूसरे से अलग होते हैं, वैसे एक की दूसरे पर प्रतिच्छाया तो पड़ती ही है। उदाहरण के लिये उत्पादन की दृष्टि से यदि हम कुल लोकव्यय के मोटे दो भाग करें, उत्पादक और अनुत्पादक तो सैनिक और पुलिस व्यय अनुत्पादक वर्ग में रक्खे ही जायेंगे और कारखाने, उत्पादन की वैज्ञानिक शोध, रेलें, आदि उत्पादन में आयेंगीं। किन्तु यदि गहरी दृष्टि से देखे तो क्या देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा और आन्तरिक शान्ति रक्षा उत्पादन कार्य के लिए आवश्यक नहीं है? उनके बिना तो उत्पादन असम्भव है, या हो भी जाय तो दूसरा उसे लूट ले जा सकता है। अत: वर्गीकरण केवल मोटे तौर पर सुलझे प्रकार से दृष्टिगत करने के लिए ही होता है। श्री मेहता तथा अग्रवाल ने अपनी अँगरेजी पुस्तक 'पब्लिक फाइनेन्स थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस' में अन्य लेखकों के वर्गीकरणों की इस आधार पर भी आलोचना की है (पृष्ठ ३१) किन्तु अपने वर्गों में इसी असंगति पर मजबूरी प्रगट की है (पृष्ठ ३६)।

जलदृढ़ पार्थक्य ऐसे वर्गीकरणों में असम्भव सा ही है । वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों से हो सकता है । एक दृष्टिकोण से कुल व्यय को देखने से उसमें से कई ऐसे व्यय निकल आते हैं जो एकसे हैं । उन्हें हम एक वर्ग में रख देते हैं जैसे प्रतिरक्षा सम्बन्धी सैनिक व्यय तथा आन्तरिक शान्तिस्थापन संबंधी पुलिस व्यय उत्पादन की दृष्टि से दोनों अनुत्पादक हैं । इसी प्रकार रेलों और उत्पादक शोध पर किये जाने वाले व्ययों को एक वर्ग में रक्खा जा सकता हैं क्योंकि दोनों उत्पादन में सहायक हैं । दरिद्र सहायता तथा आन्तरिक ऋण का व्याज दोनों एक कोष्ट में रक्खे जा सकते हैं क्योंकि दोनों हस्तान्तरित वर्ग के व्यय हैं । उनमें प्रतिरक्षा आदि की भाँति सरकार सीधा उपभोग नहीं करती बल्कि जनता के कुछ लोगों से क्रयशक्ति कर या ऋण रूप में लेकर दूसरों के हाथ में दे देती है ।

इंगलैण्ड में कालविन कमेटी द्वारा, जो राष्ट्रीय ऋण और कर सम्बन्धी जाँच कर रही थी, किया हुआ वर्गीकरण इस प्रकार है :—

१ विदेशी ऋण पर व्यय

२ आन्तरिक ऋण का व्याज

३ आन्तरिक ऋण का चुकाना

४ पेंशनें

५ प्रतिरक्षा

६ सामाजिक व्यय

७ अन्य व्यय

यह कालविन कमेटी का वर्गीकरण बजट की छानबीन या उसकी योजना को सुलझे रूप में रखने के लिए विशेष काम का नहीं है । यह तो एक विशेष उद्देश्य से विशेष अवसर पर किया गया वर्गीकरण है ।

हित के आधार पर वर्गीकरण

जर्मन लेखक कोहन और अमेरिकी लेखक प्लेहन ने इसी आधार पर वर्गीकरण किये हैं :—

१ सभी के हित का व्यय—यथा, प्रतिरक्षा

२ वर्गविशेष का हित, किन्तु अप्रत्यक्ष तौर पर सार्वजनिक हित—यथा वृत्ति-हीनों की सहायता

३ व्यक्ति विशेषों को विशेष लाभ, साथ ही सामान्य लाभ सभी नागरिकों को—न्याय व्यवस्था, जनमार्गों का निर्माण तथा मरम्मत ।

४ व्यक्ति विशेषों के ही हित का व्यय–यथा सरकारी उद्योगों पर व्यय

यह वर्गीकरण जनहित की दृष्टि से बहुत अच्छा है। हम जो एक नया वर्गीकरण, व्यय की एक कसौटी 'समान वितरण' के आधार पर दे रहे हैं उसका यह अच्छा पूर्व रूप है। कोई व्यय जनसाधारण में सभी के लाभ का है और कोई व्यक्तिविशेषों को ही लाभ दे पाता है, किन्तु यह फिर भी हमारी समस्या को हल नहीं कर पाता। आज की स्थिति में इस प्रकार का वर्गीकरण जनहित की केवल दिखावट करनेवाली सरकारों के लिए ही उपयोगी हो सकता है।

शीराज ने एक इस सुझाव पर भी विचार किया है कि हित आधारी वर्गीकरण में प्रत्येक वर्ग के साथ कर–वर्ग का भी सम्बन्ध जोड़ दिया जाय। उदाहरणार्थ, शिक्षा व्यय तथा अन्य सामाजिक व्ययों को आवश्यक पदार्थों के करों के साथ जोड़ दिया जाय। अर्थात् इस गठबंधन के अन्दर जो व्यय की मदें हैं उनको इसी के अन्दर बँधी आय की मदों से पूरा किया जाय। इसी प्रकार जनमार्ग निर्माण को मोटर कर के साथ जोड़ा जाय और आन्तरिक तथा बाह्य ऋणों का व्याज तथा मूल का भुगतान आय-कर में से ही हो आदि।

इस प्रकार आय और व्यय का एक लेखा रखना अनिवार्य हो जायगा। इससे व्यवस्था में काफी कठिनाई होनी अनिवार्य है।

आय के आधार पर वर्गीकरण

यह सेवा के बदले की आय के आधार पर किया गया है।

१ व्यय, जिसके बदले में प्रत्यक्ष आय नहीं होती। यथा, वृत्तिहीनों की सहायता अथवा बहुधा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कोई आवक नहीं–यथा युद्ध व्यय।

२ जिस व्यय से प्रत्यक्ष आय नहीं परंतु अप्रत्यक्ष आय हो–शिक्षा (क्योंकि शिक्षित लोग भिखारी तथा अपराधी से अधिक अच्छे कर दाता होते हैं और सरकार पर कम बोझ बनते हैं।

३ अधूरी आवक के व्यय–शिक्षा, जिसके लिए फीस ली जाय, इम्दादी रेल, जो कुछ आय दे।

४ व्यय पूरक या कुछ मुनाफा भी दें।

डाकखाना, सड़कें गैस कारखाने और सरकारी उद्योग।

यह वर्गीकरण राजनीतिज्ञों के काफी काम का है। जिन्हें बजट में व्यय की पूर्ति का ध्यान रखना है, उन्हें इस वर्गीकरण से बहुत सहारा मिल सकता है।

इसी आधार पर अँगरेजों के यहाँ की गिनावट कुछ ही पहले दो भागों में थी।

१– सामान्य व्यय

२– स्वपूरक व्यय—डाकविभाग आदि

असैनिक अनुमानों के ९ वर्ग किये जाते थे ।

१– केन्द्रीय सरकार और वित्त—यथा लोकसभा, लार्डसभा, कोष, शाही कमीशन ।

२– विदेशी तथा साम्राज्यिक—यथा राजदूत, व्यापारदूत, विदेश सम्बन्धी कार्यालय, औपनिवेशिक कार्यालय, राष्ट्रसंघ ।

३– गृहविभाग—न्याय और कानून ।

४– शिक्षा—यथा शिक्षा समितियाँ, अजायबघर, विश्वविद्यालय कॉलेज ।

५– स्वास्थ्य, श्रम, बीमा—यथा स्वास्थ्य मंत्रालय, श्रम मंत्रालय, वृद्ध विधवा पेंशनें ।

६– व्यापार और उद्योग– यथा, कृषि मंत्रालय, व्यापार-समिति, चुकन्दर-चीनी सहायता, सड़क, कोष, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शोध ।

७– सामान्य सेवाएँ ।

८– पेंशनें ।

९– विभिन्न ।

अँगरेजों के यहाँ सामान्य व्यय तथा स्वपूरक व्यय का वर्गीकरण निकलसन के वर्गीकरण से अधिक भिन्न नहीं है । असैनिक व्यय के ९ विभाग तो केवल मदों के प्रदर्शक हैं जो सरकार के विभिन्न कार्यों के आधार पर ही अधिक है । कार्यों के आधार पर तो बजट को समझना आवश्यक है ही क्योंकि उसकी व्यवस्था उसी तरह करनी पड़ती है । श्री मेहता तथा श्री अग्रवाल ने अपनी अंगरेजी पुस्तक पब्लिक फाइनेंन्स–थ्योरी एण्ड प्रक्टिस में लोक व्यय के वर्गीकरण का जिक्र करते हुए एक वर्गीकरण उत्पादक और अनुत्पादक भी किया है किन्तु उसका तात्पर्य वहाँ देश में सम्पत्ति उत्पादन में सहायक होने से नहीं है जैसा कि शीर्षक से प्रगट होता है, वरन सरकारी आय जुटाने के सामर्थ्य को ही उन्होंने उत्पादक का नाम दे दिया है । आय जुटाने के सम्बन्ध का वर्गीकरण तो निकलसन ने किया है ही फिर इस नाम से अलग वर्गीकरण उसी अर्थ में करना बेकार है । हिन्दी पुस्तक 'राजस्व की सरल रूपरेखा' के लेखक श्री मालीराम तथा श्री विश्वम्भर सहायजी ने इस वर्गीकरण का सही अर्थ लिया है । हम भी यही अर्थ लेकर इस वर्गीकरण को आगे दे रहे हैं ।

उद्देश्य के आधार पर वर्गीकरण

आडम्स ने लोकव्यय का वर्गीकरण कार्य के अनुसार किया है,

१ रक्षार्थ कार्य

(क) सैनिक

(ख) पुलिस और न्यायालय

(ग) सामाजिक खराबियाँ मिटाना (जेल. पागलखानें, गरीब घर, सफ़ाई इत्यादि)

२ व्यापारिक कार्य

३ विकास कार्य

(क) शिक्षा

(ख) मनोरंजन

(ग) निजी व्यापार

(घ) सार्वजनिक खोज तथा सामाजिक अंकों का एकत्रीकरण

(ङ) देश के अन्य विकास कार्य, यथा जन,कार्य (Public works) बंदरगाह और प्रकाश स्तंभ ।

आडम्स द्वारा रक्षार्थ, व्यापारिक तथा विकास वर्गों में विभाजित करना अवश्य ही उद्देश्यों की दृष्टि से बजट योजना में सहायक होगा । इससे सरकार के कर्तव्यों की ओर भी दृष्टि जाती हैं और बजट को अध्ययन करने में अच्छी सहायता प्राप्त होती है ।

आवश्यक और वैकल्पिक

मिल का वर्गीकरण है—

(१) आवश्यक

(२) वैकल्पिक

मिल का वर्गीकरण, आवश्यक और वैकल्पिक ऐसा ही है जैसा शीराज का प्राथमिक तथा गौण । इस वर्गीकरण का आधार यह विचार है कि सरकार का अनिवार्य कर्तव्य है रक्षा, शान्ति आदि । अतः उनको तो अनिवार्य अथवा आवश्यक वर्ग में रक्खो और बाकी सरकार की मर्जी है, उसे वह करे न करे, किन्तु यह स्थिति अनुत्तरदायी सरकारों पर ही लागू हो सकती है । आज यह वर्गीकरण हमें कोई सहायता नहीं कर सकता । आज सरकार शासक नहीं है । 'शासकत्व' सरकार नामक संगठन में से निकाल कर फेंका जा रहा है । वह केवल जनता के उन कार्यों को मूर्त रूप देने के लिये संगठित की जाती है जिनको यैयक्तिक प्रयत्न अथवा छोटे संगठनों द्वारा नहीं किया जा सकता, अतः जनता के हर प्रकार के समृद्धि कार्य करना उसके महा कर्तव्य का मूल मंत्र है । इसलिये अब सरकार के लिये वैंकल्पिक जैसी वस्तु कोई नहीं रह गई ।

आवश्यक, लाभप्रद, सजावटी

रोशर ने वर्गीकरण किया है इस प्रकार—

(१) आवश्यक
(२) लाभप्रद
(३) अनावश्यक अथवा सजावटी

रोशर के वर्गीकरण के विषय में भी वही बातें लागू होती हैं जो मिल के वर्गीकरण पर। रोशर ने सम्भवतः उतावली को ध्यान में रख कर ये वर्ग बनाये हैं। आवश्यक, जो तुरन्त करना है। लाभप्रद की बारी उसके बाद आयेगी और तीसरे वर्ग का व्यय तो फिजूल है; केवल जनता को भ्रम में डालने अथवा बहलाये रखने के लिये ही।

हस्तान्तरित, अहस्तान्तरित

प्रोफेसर पीगू द्वारा लोक-व्यय के दो विभाग किये गये हैं—

(१) हस्तान्तरित
(२) अहस्तान्तरित

हस्तान्तरिक व्यय सरकारी आय को केवल औरों में बाँट देना है जैसे-वृद्धों की पेंशनें आदि। अहस्तान्तरित व्यय सीधा उपभोग होता है। उदाहरणार्थ सेना आदि का खर्च, सरकार जो कर दूसरों को देती है, बाहरी ऋण का व्याज और चुकाव, कर्मचारियों के वेतन। श्री पीगू की राय है कि अहस्तान्तरित व्यय वास्तविक है। इसमें समाज के साधन वास्तव में सरकार द्वारा इस्तैमाल हो जाते हैं। पीगू का यह वर्गीकरण कोई विशेष कारगर नहीं है। अहस्तान्तरित व्यय तात्कालिक सेवाओं तथा सामान की खरीद में लगता है। यह खरीद सरकार अपने हाथ से करती है। परंतु हस्तान्तरित व्यय से सरकारी बजट के इस भाग का अन्दाज़ लग जाता है जिसे वह जनता के जन विशेषों के हाथ में दे देती है। व्याज जो आन्तरिक ऋणदाताओं को दिया जाता है, हस्तान्तरित क्रयशक्ति है। यह ऋण का क्रय मूल्य है। इनसे जनता को लाभ नहीं। हाँ—दरिद्र या वृद्ध भत्ते जन सहायक हैं, पर यह वर्गीकरण इसे प्रगट नहीं करता। इस वर्गीकरण से जो एक विशेष लाभ है वह यह है कि जब अहस्तान्तरित व्यय बढ़ता है तो यह समझने में आसानी होती है कि वैयक्तिक क्रयशक्ति खिचकर सरकार के हाथ में आ रही है, परतु हस्तान्तरित व्यय के बढ़ने की अवस्था में या तो सरकारी क्रयशक्ति उधर खिचेंगी अथवा नये कर लगाकर सरकार अपनी क्रय-शक्ति को पुनः पूरित कर लेगी।

हस्तान्तरण का, चूँकि, अर्थ है करदाता से लेकर अन्य व्यक्तियों को क्रय-शक्ति देना, अतः यदि दोनों की आवश्यकता की वस्तुओं में अन्तर हुआ तो वस्तुओं के उत्पादन पर भी प्रभाव पड़ेगा। करदाताओं की माँग की वस्तुओं के उत्पादन से पूँजी

निकल कर नये क्रय-शक्तिवानों की माँग की वस्तुएँ बनाने लगेगी । हाँ, यदि दोनों की माँग की वस्तुएँ वही रहीं तो कोई ऐसी उथल पुथल नहीं होगी ।

महत्व के आधार पर

श्री शीराज के अनुसार आदर्श वर्गीकरण कार्यों के अनुसार होता है। उसके मुख्य दो भाग हैं –

(१) प्राथमिक
(२) गौण

प्राथमिक में चार मुख्य बातें आती हैं:–

(१) प्रतिरक्षा——नौ सेना, फ़ौज और वायुसेना ।
(२) कानून और न्याय——न्याय विभाग, जेल तथा पुलिस आदि ।
(३) व्यवस्था (Civil administration)–सरकारी कर्मचारियों के वेतन, विधान सभाओं के व्यय, विदेश में अपने प्रतिनिधियों के व्यय ।
(४) ऋण भुगतान और व्याज ।

गौण व्यय में शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, दरिद्र वृत्ति, बेकारी बीमा, दुष्काल वृत्ति आदि शामिल होते हैं ।

इस वर्गीकरण पर वही बात लागू होती है जो मिल के वर्गीकरण पर। शीराज इस बात पर जोर देते हैं कि कैसी भी सरकार हो उसे रक्षा, शान्ति आदि कार्य तो करने ही पड़ते हैं, परन्तु आज जन शिक्षा और जन स्वास्थ्य भी उतने ही आवश्यक हैं बल्कि अधिक ।

डाल्टन के अनुसार मुख्य दो विभाग हैं :–

(१) अनुदान
(२) क्रयमूल्य

जब सरकार जो व्यय करती है उसके बदले में उसे उसी वक्त कोई सेवा अथवा वस्तु मिल जाती है तो वह व्यय क्रय-मूल्य है, और जिस व्यय के बदले में सेवा या वस्तु तुरन्त कुछ नहीं मिलती, वह अनुदान है । परन्तु इस वर्गीकरण में भी दोनों वर्ग एक दूसरे पर अन्तर्छाया डालते हैं। उदाहरण के लिए ऋण का व्याज जो दिया जाता है उसके बदले में कुछ नहीं मिलता अतः वह अनुदान हुआ परन्तु ऋण मिलने की एक शर्त व्याज ही है । उसके बिना ऋण मिलता ही नहीं । अतः व्याज ऋण का मूल्य हो गया । यदि व्याज को अनुदान ही मानें तो दरिद्रता और व्याज एक ही श्रेणी में आ जायेंगे ।

अनुदान प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों होता है। प्रत्यक्ष अनुदान वह है जिसका लाभ जिसे अनुदान दिया जाय उसी को मिले जैसे वृद्ध-भत्ता, परन्तु अप्रत्यक्ष अनुदान में वह उद्दिष्ट के पास चक्कर खाकर पहुंचता है, जैसे किसी कारखाने को दी गई सहायता। उससे माल का उत्पादन सस्ता होगा और जनता को वह माल कम दाम पर मिलेगा। अथवा विक्रय-मूल्य का कुछ भाग ही सरकार भुगत लेती है, हाँ यदि अनुदान में प्राप्त रुपये का व्यय ही न किया जाय तो अप्रत्यक्ष लाभ किसी को न होगा।

डाक्टर डाल्टन ने व्यय के उद्देश्यों का विचार करते समय व्यय को और भी दो वर्गों में विभाजित किया है—

(१) देश के सामाजिक जीवन को बाहरी अथवा आंतरिक विध्वंसक शक्तियों से बचाना।

(२) सामाजिक जीवन का स्तर ऊँचा करना

इस वर्गीकरण में एक नई और शुभ आकांक्षा अन्तर्निहित है। रक्षा-शान्ति के विचार के साथ साथ दूसरा भाग गौण या सजावटी नहीं बतलाया बल्कि उसे सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने का वर्ग कहा है। उन्होंने वास्तविक लोकव्यय के निम्नांकित ७ विभाग किये हैं।

(१) युद्ध और शान्ति में फौज और पुलिस का व्यय

(२) न्याय

(३) देश के वैधानिक प्रधान (Serimonial Head) के व्यय, राजा और उसके दरबार का व्यय, राजदूतों का व्यय

(४) सरकारी मशीन (मंत्रिमण्डल, विधान सभाएँ और कर्मचारी)

(५) लोकऋण, ब्याज, चुकाव और प्रबन्ध

(६) उद्योग व्यापार विकास, विदेशों में व्यापार दूत, औद्योगिक तथा व्यापारिक कार्य, जैसे—सिक्का, प्रबन्ध, डाकखाना, रेल, सड़कें आदि।

(७) सामाजिक व्यय, स्वास्थ्य, शिक्षा, वृद्धवृत्ति, दरिद्रवृत्ति, बेकारवृत्ति आदि।

परिवर्ती तथा अपरिवर्ती

श्री मेहता तथा अग्रवाल ने यह वर्गीकरण अपनी ओर से सामने रक्खा है। वे कहते हैं कि अपरिवर्ती व्यय वह है जिसके द्वारा आयोजित सेवाओं का जनता द्वारा उपयोग करने अथवा न करने से उसमें घटाबढ़ी नहीं होती जैसे सैनिक व्यय।

परिवर्ती व्यय जनता के उपयोग से बढ़ता है और अनुपयोग से घटता है।

जैसे डाक विभाग का व्यय । परन्तु कोई भी विभाग हो, कुछ न कुछ व्यय तो अपरिवर्ती होता ही है, चाहे उसका उपयोग कम लोग उठायें अथवा अधिक ।

इस वर्गीकरण के परिवर्ती वर्ग के व्यय पर जनता नियंत्रण कर सकती है, उसकी सेवाओं का उपयोग करके या न करके ।

उत्पादक और अनुत्पादक

हम पहले ज़िक्र कर आये हैं कि हम इस वर्गीकरण को इसके असली अर्थ में मानते हैं । अर्थात् सरकार का वह व्यय जो देश के आर्थिक उत्पादन में सहायक होगा; सीधे मशीन औजार कच्चा माल आदि कारखानों या कृषिकार को देकर, अथवा उत्पादन के लिए आवश्यक उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करके । यह व्यय उत्पादक माना जायगा । उदाहरण के लिये यदि सरकार हर तहसील के केन्द्र में अपना एक ट्रेक्टर रख दे और किसानों के सहयोगी कृषि संगठनों को केवल नहीं के बराबर भाड़े पर जोतने के लिए दे तो इससे कृषि उत्पादन में भारी सहायता मिलेगी । यह उत्पादक व्यय होगा । परन्तु सेना या पुलिस पर किया गया व्यय उत्पादक नहीं हो सकता क्योंकि युद्ध होने की सम्भावना अब घटती जा रही हैं । लोग अब यह समझने लगे हैं कि रक्षादि के व्यय उत्पादन के मार्ग में भारी रोड़े हैं । जो सैनिक और पुलिस के सिपाही निठल्ले बैठे खाते हैं उनको यदि उत्पादन में लगाया जाय तो उत्पादित सामग्री का ढेर लग जाय । हथियारों के बजाय काम की वस्तुएँ बनें ।

आज तो सबसे महत्वपूर्ण वर्गीकरण यही है । देश की समृद्धि के लिए उत्पादन की अथक वृद्धि ही मूलमंत्र है । पूँजीवादी देशों में अमेरिका, ब्रिटेन आदि कुछ हद तक इस ओर चले । सरकारों ने तट-कर लगाकर, अनुदान देकर उत्पादन वृद्धि की परन्तु बाद में अपनी ही पूँजीवादी नीति के कारण उत्पादन को नष्ट भी किया ।

परन्तु रूस या चीन मे सरकारी बजट का अधिकाँश उत्पादन के प्रोत्साहन में लगता है ।

समान तथा असमान वितरण

अब हम यहाँ लोकव्यय की एक कसौटी के आधार पर इस नये वर्गीकरण को सामने रखते हैं । यह एक नया वर्गीकरण है । पहिले ही से यह विचार तो चला आता है कि सरकार अपनी लोकवित्तीय कार्यवाहियों द्वारा देश की भारी असमानताओं को कम करने का प्रयत्न करे । उसी को लेकर हमने लोकव्यय को समझने के लिए यह एक वर्गभेद उत्पन्न कर दिया है ।

जो व्यय देश की उत्पादित सामग्री के जनता में समान वितरण में सहायक हो वह समान वितरक । जैसे साधारण जनता की सहयोगी—उत्पादन—समितियों को

दिये गए उत्पादन साधन, अनुदान अथवा क्रय मूल्य । जैसे जोतने को सस्ते भाड़े पर ट्रेक्टर या उत्पादि,त अनाज उचित मूल्य पर क्रय । रूस में ऐसा ही होता है ।

जो व्यय किसी अनुदान या मूल्य के रूप में व्यक्ति विशेष को या गुट विशेष को, जो पहिले ही करोड़पति हैं दिया जाय वह असमान वितरण व्यय है । जैसे बड़े बाँध बनाने या माल देने के ठेके अधिकांश करोड़पतियों के हाथ में जाना ।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों से लोक व्यय को देख कर उसके वर्ग बनाये जा सकते हैं । इससे उसको समझनें में काफ़ी सहायता मिलती है ।

लोक समृद्धि व्यय तथा अन्य

एक और दृष्टि से भी अब लोक व्यय का वर्गीकरण किया जा सकता है क्योंकि सरकार संगन का मुख्य उद्देश्य ही अब यह मान लिया गया है । बल्कि यह वर्गीकरण सरकारी कार्यों को तुरन्त जनता की दृष्टि में तोलता है । यों तो 'उत्पादक तथा अनुत्पादक' में भी समृद्धि कार्य अन्तर्निहित हो सकते हैं किन्तु हमेशा नहीं। भारत में अँगरेजी शासन काल में उत्पादन बढ़ाने के काफी साधन बनाये गए । रेलें, कारखाने आदि नील, अफ़ीम की खेती भी बढ़ाई गई । परन्तु क्या यह सब जन समृद्धि के लिए था ? जन समृद्धि के बजाय जनता को उन्होंने इन व्ययों से और लूटा । अत: उत्पादन बढ़ते हुए भी देश की जनता भूखी नंगी रह सकती है । समान वितरण तथा असमान वितरण का वर्गीकरण उत्पादन के वितरण को दृष्टिकोण में लाने में सहायक होगा परन्तु समृद्धि तो उससे नजर में नहीं आयेगी । अत: हमने उसे अलग ही वर्ग बनाना उपयुक्त समझा ।

उत्पादन की ऐसी स्थिति उत्पन्न करना जिससे जनोपयोगी उत्पादन हो । जनता की उत्पादन क्षमता ऊँचे से ऊँचे दर्जे की मशीनें और औजार बनाकर या प्रोत्साहन देकर अधिकाधिक बढ़ाई जाय । प्राकृतिक धन, कच्चा माल और मशीन औजार आदि उत्पादन के साधन कुछ व्यक्तियों के हाथों से निकालकर, जहाँ वे बेकार पड़े हैं, जनता की सहयोगी समितियों के हाथ में दिये जाँय । इस प्रकार के कार्यों में व्यय ही जन-समृद्धि-कार्य-व्यय होता है । इस प्रकार का उपयोगी विभक्तीकरण समाजवादी देशों के बजटों में है ।*

---

* देखिए—Development of Soviet Economic System by Alexander Bykov (Cambridge)

५

लोकव्यय का विस्तार

सभ्यता के विकास के साथ लोकव्यय का विस्तार भी बढ़ता जा रहा है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् यातायात के साधन बहुत ही तेजी से बढ़ते जाने के परिणाम स्वरूप संसार के सभी देशों में आना जाना बहुत सुगम और शीघ्र होने लगा। साम्राज्यवाद की पूंजीवादी आय लिप्सा ने युद्धों को सार्वभौमिक बना डाला। दूसरी ओर वैज्ञानिक अनुसंधानों के सहारे मनुष्य की आर्थिक उत्पादन शक्ति दिन दिन बढ़ती ही चली गई और उसी वैज्ञानिक अनुसंधान ने यह भी सम्भव कर दिया कि आर्थिक उत्पादन में जितना ही अधिक मात्रा में सामाजिक सहयोग होगा उतना ही अधिक उत्पादन का अनुपात बढ़ता ही चला जायगा। इस विकास के परिणामस्वरूप दो प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई। एक तो, दूसरों की उत्पादित सामग्री तथा प्राकृतिक उत्पादन साधनों को अपने कब्जे में करने के लिये कूटनीति और युद्ध आवश्यक हो गये। हमलावर शक्तियों से प्रतिरक्षा आवश्यक हो गई। यहां तक कि देश की आय का एक बहुत बड़ा भाग इसीमें व्यय होने लगा है। दूसरे, मनुष्य के सुख साधन बढ़ाने की ओर जनसाधारण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और अब यह भी सरकार का एक आवश्यक कर्त्तव्य अधिकाधिक होता जा रहा है।

वाह्य–रक्षा व्यय

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व फ्रांस के विचारक, मांटेस्क्यू ने कहा था कि योरुप में एक नई बीमारी फैल गई है। इसने हमारे राजाओं को अपने चंगुल में फँसा लिया है और उनको बहुत भारी सेना रखने पर मजबूर कर दिया है। यह आवश्यकता बढ़ती जा रही है और छूत की बीमारी बन गई है। ज्योंही एक राज्य अपनी फौज बढ़ाता है दूसरे भी अपनी फौजें तुरन्त ही बढ़ा लेते हैं और इससे सभी के सत्यानाश के सिवाय काम कुछ भी नहीं होता। हर राजा इतनी फौजें रखता है कि मानों उसकी सारी जनता नष्ट होने जा रही है और यह 'सबका सबके विरुद्ध संघर्ष' 'शान्ति' कहलाता है।* अंगरेजी राज्य में भारतीय सैनिक व्यय कुल सरकारी आय का ७०% तक हो

* शीराज द्वारा उद्धृत

जाता था। यहाँ तक कि खुद शासकों ने इस भयंकर खर्चको अनुभव किया है। लिटन कमेटी रिपोर्ट में कहा गया है कि भारतीय राजस्व की एक असाधरण बात यह है कि कुल व्यय के साथ प्रतिरक्षा के व्यय का अनुपात बहुत अधिक है (६१॥%) संसार के किसी भी देश में प्रतिरक्षा व्यय इतने ऊँचे अनुपात में नहीं है।×

अन्य देशों के प्रतिरक्षा व्यय के प्रतिशत अंक, १९४९–५० के* :—

अमेरिका	२५ प्रतिशत कुल बजट आय का
रूस	१७ ,,
इंग्लैंड	१३ ,,
कनाडा	१२ ,,
स्पेन	४० ,,
स्विटज़रलैण्ड	२५ ,,
तुर्की	५० ,,

मांटेस्क्यू के बीस वर्ष बाद फ़ानजुस्ती ने कहा कि यूरोपीय राज्यों का आधा व्यय फौज पर हो जाता है। कुछ का दो तिहाई और प्रशा का तो तीन चौथाई व्यय फ़ौज पर होता है। १९२० के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन से पता चला कि जोर-दार निगरानी और पाई पाई की बचत का ध्यान रखकर भी प्रतिरक्षा पर व्यय २० प्रतिशत से कम नहीं हो सकता था। सम्मेलन ने स्वीकार किया कि पारस्परिक सह-योग ही इस भयंकर नाश से बचा सकता है। युद्ध के व्यय को केवल उत्पादन में लगाने से ही देशों का कल्याण हो सकता है।

सैनिक व्यय, आज की स्थिति में (१९५५) जबकि अभी आधी दुनिया के देशों में आक्रमणकारी शक्तियाँ मौजूद हैं, अनिवार्य ही है। जो देश आज भी केवल आर्थिक उत्पादन में ही जी जान से लगे हुए हैं, उन्हें अपने आपको बचाने के लिये प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करना ही पड़ता है। नये स्वतंत्र हुए देश जैसे—भारत, इण्डो-नेशिया, चीन, पाकिस्तान आदि को भी प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करना आवश्यक हो उठा है। इस व्यय का विस्तार इस बात पर निर्भर है कि सम्भावित आक्रमणकारी से बचाव के लिये कितनी फौज और कितने हथियार आवश्यक हैं। किन्तु हाइड्रोजन बम के इस काल में सामूहिक प्रतिरक्षा ही एक उपाय सम्भव है और इसलिये अधिक से अधिक देशों की शक्ति एकत्र करने के लिये सहयोग की परिस्थितियां उत्पन्न करने तथा नीतिज्ञों की उपलब्धि इस सैनिक व्यय को सीमित कर सकती हैं। साथ ही उप-योगी आर्थिक उत्पादन के ऐसे कारखानों का निर्माण—जो किसी भी समय क्षणिक

× Public Finance. Mehta & Agrawal– p. 225

* वही पृष्ठ २३३

इशारे मात्र से प्रतिरक्षा का सामान बनाने में समर्थ हो सकें—करते जाने से भी युद्ध व्यय कम हो सकता है। युद्ध व्यय का एकदम अन्त तो सन् १९२० के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन के शब्दों में, "सभी देशों के पारस्परिक सहयोग करने तथा युद्ध की सम्भावना को ही एकदम मिटा देने से ही संभव होगा।" अब भी समाजवादी देशों में ऐसा पारस्परिक सहयोग से हो रहा है। यौद्धिक व्यय नितान्त ही अनुत्पादक और बेकार होता है। इतना ही नहीं, जो बड़ी फौजें हर समय युद्ध के लिये सजी रहती हैं और जो कारखाने हर समय युद्ध सामग्री का उत्पादन किया करते हैं, उन सबकी उत्पादन शक्ति आर्थिक उत्पादन से विमुख रह जाती है और उतने अंश में जन-कल्याण पीछे रह जाता है।

आन्तरिक शान्तिरक्षा

आन्तरिक शान्तिरक्षा भी बाह्य प्रतिरक्षा से कम आवश्यक नहीं है। भारत में इस मद पर ५४ करोड़ रुपया खर्च होता है जो प्रतिरक्षा व्यय के मुकाबले में बहुत कम है। श्री आडमस्मिथ की राय है कि "आन्तरिक शान्तिरक्षा के लिये तो पुलिस और न्यायालय आवश्यक नहीं है किन्तु वहीं, जहां जायदाद का झगड़ा नहीं है।" हमारे यहाँ कहावत है कि सभी झगड़ों की जड़ तीन हुआ करती हैं ज़र, जोरू और ज़मीन। समाजवाद ही एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें इनके झगड़े लगभग मिट ही सकते हैं। श्री आडमस्मिथ का विचार है कि 'धनवानों का लालच और महत्वाकांक्षा, गरीबों में परिश्रम से घृणा, आरामतलबी, ये ऐसे भाव हैं कि जिनसे जायदाद पर हमला होता है'। जहाँ भारी जायदाद होगी वहीं भारी असमानता होगी। एक धनी के पीछे कम से कम पाँच सौ गरीब होने ही चाहियें। थोड़ों का धनी होना बहुतों के दरिद्र होने का कारण है। गरीब आवश्यकताओं के मारे हुए धन पर हमला करते हैं और इसलिये पुलिस और न्यायालयों की आवश्यकता होती है। आवश्यक यह है कि पुलिस में जनसेवी भावना वाले लोग हों और जेलों का व्यय कैदियों के आर्थिक उत्पादन द्वारा निकाला जाय तथा न्याय सर्वसुलभ और सस्ता हो तो इस मद का व्यय काफ़ी कम हो सकता है।

सरकारी व्यवस्था

सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत निम्नांकित व्यय सम्मिलित हैं।

(क) सरकारी सत्ताधीश—यथा भारत में राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपाल

(ख) विधान सभाएँ

(ग) मंत्रिमंडल और उनके सचिवालय

(घ) जिला कर्मचारी

(ङ) कर वसूली कर्मचारी

इन व्ययों में वेतन ही नहीं, कार्य व्यय भी सम्मिलित है। इस मद में व्यय बहुत कारणों से बढ़ा हुआ है और बढ़ता ही जा रहा है। केवल दिखावटी सत्ताधारियों का अस्तित्व राजतंत्रीय दिनों से रूढ़ि के रूप में अब तक चला आ रहा है। इनके द्वारा न तो कोई जनकल्याण का कार्य होता है और न आर्थिक उत्पादन ही। केवल शोभा बढ़ाने के कार्य पर इतना अधिक व्यय जनता के कन्धों पर व्यर्थ का बोझ ही है। अंगरेजी काल में भारत का गवर्नर जनरल संसार में सबसे अधिक वेतन वाला व्यक्ति होता था। जब तो मजबूरी थी किन्तु आज स्वतंत्रता में भी राष्ट्रपति का वार्षिक व्यय लगभग २४ लाख रुपये है (१९४८–४९)।× अवश्य इधर यह व्यय राष्ट्रपति के वेतन में कुछ कमी होने से घटा है किन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि राष्ट्रपति और उसके निजी दफ्तर, दिखावट आदि के व्ययों पर लोकसभा को मतदान करने या उन पर बहस करने का अधिकार नहीं है। गवर्नरों का व्यय भी भारतीय जनता के सिर पर भारी बोझ है। इतने अधिक व्यय को बचाकर जनकल्याण की मद में डाला जा सकता है। अमेरिका के प्रेसीडेण्ट का वेतन १९४९ तक ७५००० डालर वार्षिक था और उसके बाद से १००००० डालर वार्षिक है जबकि वहां का प्रेसीडेण्ट केवल दिखावटी नहीं है। वहां के प्रधान मंत्री की तरह कार्यकर है।

विधान सभाओं का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक है। जनता उन्हीं के द्वारा अपनी व्यवस्था का नियमन कर सकती है। राजाओं के समय में विधान सभाएं अनावश्यक समझी जाती थीं किन्तु आज जनता स्वयं शासक है और इसलिये शासन व्यवस्था के नियम बनाने के लिये उसके प्रतिनिधियों का एकत्र होना अनिवार्य है। मंत्रिमंडल भारतीय गवर्नर जनरल के समय में तो तात्कालिक व्यवस्थापिका सभा की ही भाँति अनावश्यक था क्योंकि सर्वसत्ता गवर्नर जनरल के हाथ में थी किन्तु अब मंत्रिमंड़ल ही व्यवस्थापिका सभाओं के आदेशों को कार्यान्वित करने की व्यवस्था करते हैं, इसलिये उनका व्यय आवश्यक है। किन्तु व्यय सीमा के अन्दर ही किया जाना चाहिये। अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाने का अवसर ही न उत्पन्न होने देना चाहिये। सचिवालय और अन्य सरकारी कर्मचारी हैं अत्यन्त आवश्यक किन्तु उनके वेतनों में दुरुह असमानता, घूसखोरी का बाजार गर्म करती है। सरकारी कर्मचारी इतने निष्पक्ष होने चाहिये कि मंत्रिमंडल में कोई भी आये और जाये पर उन्हें अपने काम से काम रहे। हर्बर्टपाल इंगलैण्ड के इतिहास में सरकारी कर्मचारियों की अवस्था बताते हुए कहते हैं कि साधारण समय में सिविल सर्विस के स्थायी सदस्यों द्वारा शासन कार्य होता है और ये लोग दोनों ही राजनीतिक दलों के प्रति एक सी घृणा अथवा एक सी भक्ति से काम करते हैं।

कर वसूल करने की व्यवस्था मे लगे कर्मचारी भी इसी मद में शामिल हैं।

× Public Finance– Mehta and Agrawal– p. 253

कर चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष, इन कर्मचारियों का बहुत ही योग्य और ईमानदार होना आवश्यक है क्योंकि बेईमानी की इसमें अधिक से अधिक सम्भावना है। इस व्यय में ऐसी बचत नहीं करनी चाहिये जिससे क्षमता में कमी आ जाय।

लोकऋण का व्याज और चुकाव

शीराज का कहना है कि उधार लेना, कल्याण का सीधा मार्ग नहीं है। अधिकांश राष्ट्रीय ऋण गत दोनों महायुद्धों में यौद्धिक व्यवस्था के लिये लिए गए थे और एक बार लेने के बाद ऋण लेने की प्रथा सी ही चल पड़ी। प्रतिरक्षा के कारण बजट का मुंह इतना बढ़ा कि कर से ही भर सकना सम्भव न हो सका और ऋण लेना अनिवार्य हो गया। इस सम्बन्ध में विस्तार से इसी सम्बन्धी अध्याय में आगे कहेंगें। यहां इतना ही पर्याप्त है कि विदेशी ऋणों का, जो अनोत्पादक कार्यों जैसे युद्ध आदि के लिये लिए जाते हैं, व्याज और चुकाव दोनों ही भयंकर बोझ होते हैं और न दे पाने की अवस्था में साम्राज्यवा ी सत्ताएँ ऋणी देश को राजनैतिक अथवा व्यापारिक दास बनाये बिना नहीं छोड़तीं। इसलिये उनका देना बजट का एक अत्यावश्यक भाग हो जाता है। जो देश ऋण देता है वह कुछ सेवाओं अथवा माल के रूप में ऋण देता है और भविष्य में ऋणी देश से उसका माल और सेवाएँ व्याज और मूल भरने के लिये लेता है अथवा इनके अभाव मे सोना। अब यदि लिया हुआ ऋण उत्पादक कार्य में लगा है जैसे रेलवे, उद्योगधन्धे तब तो यह सुव्यवस्था की अवस्था में, अपने मूल्य में वृद्धि करेगा और उसका मूल और व्याज चुकाने में देश पर बोझ नहीं पड़ेगा। किन्तु यदि ऋण रूप में आया हुआ माल और सेवाएँ युद्ध आदि अनुत्पादक कार्यों में नष्ट हो गये तो वह एक भारी भार देश की उत्पादन शक्ति पर हो जायगा। बाहरी ऋण से इस अवस्था में उत्पादन शक्ति नहीं बढ़ती। आन्तरिक ऋण इसके बजाय कहीं अच्छा है। अनुत्पादक कार्यो पर व्यय होने पर भी मूल के अतिरिक्त दिया हुआ व्याज देश में रहेगा और उत्पादन शक्ति की वृद्धि करेगा क्योंकि यह केवल हस्तांतरित व्यय है, जबकि बाहर भेजा हुआ व्याज तो हमेशा के लिये देश से चला गया।

लोक समृद्धि कार्य

लोक व्यवस्था के आधारभूत कार्यों का विवरण देते हुए हमने उन कार्यों को गिनाया जिनका होना देश की जनता को समृद्धि की ओर बढ़ने के लिए प्राथमिक तौर पर आवश्यक है। देश की सम्पूर्ण जनता की समृद्धि और सुख लोक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य होता है। परंतु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न करना पहला काम है। देश पर लुटेरे हमला करते रहें, जैसे भारत में महमूद ग़जनवी, तैमूर, चंगेज, नादिरशाह आदि ने किया, अथवा लुटेरे और शोषक 'चोट्टी बिल्ली दूध

की रखवाली' अंगरेजों की तरह बन बैठें, तो कोई जन-समृद्धि का कार्य नहीं हो सकता। हमारा कितना काम अंगरेजों ने बिगाड़ा और जनसमृद्धि के काम में कितनी अड़चनें पैदा कीं, इसका मोटा अन्दाज आज हमारी स्थिति से ही लग सकता है जबकि अभी तक हम दरिद्र हैं और अभी तक विदेशियों को अरबों रुपये का माल हर साल हमें मुफ्त में ब्याज, पेशनें, मुनाफ़े, वेतन आदि के रूप में देना पड़ रहा है।

अत: इस प्रकार की लूट से बचाव और आन्तरिक शान्ति तथा नियमानुसार सरकारी व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक हैं। इन परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर ही जन समृद्धि कार्य सम्भव है। जिन देशों में ऐसी परिस्थिति नहीं बन सकी है वहाँ जन–समृद्धि कार्य भी लोकसेवा के नाम पर केवल दिखावट बन कर रह गया है। आज भी सम्पूर्ण अफ्रीका, सम्पूर्ण दक्षिणी अमेरिका, जापान, हिन्दचीन, ईरान, अरब, तुर्की, अफगानिस्तान आदि साम्राज्यक शोषण के क्षेत्रों में यही अवस्था है।

लोक सेवा और जन समृद्धि कार्यों में हम अन्तर करते हैं। राजस्व और लोक–वित्त में जिस लोक तत्व के आधार पर हमने अन्तर प्रगट किया है और लोकवित्त की स्थापना की है। उसी प्रकार लोकसेवा और जन समृद्धि में भी हम अन्तर करते हैं। इस शताब्दी के पूर्वार्ध के इस विषय के लेखकों ने सरकारी व्यय में प्रतिरक्षा, आन्त-रिक शान्ति आदि सरकार के प्राथमिक कर्तव्यों के अतिरिक्त जो गौण व्यय बतलाया है इसे लोकसेवा नाम दिया है। इससे उनका तात्पर्य है कि सरकार से जितना बन पड़े, जनता की सेवा कर दे। एक इस प्रकार का भाव प्रगट किया गया है कि जैसे सरकार जनता को दान दे रही हो, जैसे भिखमंगे को कृपा करके दे देते हैं। परंतु हम यह फिर दुहराते हैं कि आज इस शताब्दी के उत्तरार्ध में लोकवित्त का अध्ययन करते समय हमें यह नहीं भुलाना होगा कि अब भारत स्वतंत्र है और उसकी सरकार जनता की सरकार है। सरकार जनता पर कृपा नहीं कर सकती। जनता का हर आवश्यक काम करना ही उसका परम कर्तव्य है। इस दृष्टि से देखने पर सरकार ऐसा रुख नहीं अपना सकती कि मेहरबानी करके कुछ स्कूलों को रुपया दे दिया, वह शिक्षा का प्रबन्ध हो गया। कुछ गरीबों को टुकड़े फेंक दिये, उसका नाम निर्धन वृत्ति रख दिया। ऐसे ही कुछ बेकार वृत्ति और वृद्ध वृत्ति दे दी और कर्तव्य समाप्त हो गया। अब तक के लेखकों ने इसी भाव को दृष्टि में रखकर इस मद के व्यय का नाम लोकसेवा व्यय रक्खा। किन्तु हम इसे लोकव्यय की 'लोक-समृद्धि-व्यय' मद कहेंगे। इसका अर्थ हम स्पष्ट करते हैं।

जनता सरकार इसलिये चुनती है कि जिन कार्यों को जनता का व्यक्ति समु-दाय अलग अलग व्यक्ति के रूप में अथवा थोड़े से व्यक्ति मिलकर नहीं कर पा सकते उन्हें सरकार संपूर्ण जनता की सम्मिलित तथा संगठित शक्ति संपादित करके करे।

प्रतिरक्षा जनता व्यक्तिगत स्वरूप में रह कर नहीं कर सकती । इसी प्रकार लोक-समृद्धि का कार्य भी व्यक्तिगत रूप से नहीं हो सकता ।

जन समृद्धि का अर्थ दो भागों में बाँटा जा सकता है, एक तो आर्थिक समृद्धि और दूसरी सांस्कृतिक समृद्धि । दोनों ही अनिवार्य हैं । आर्थिक समृद्धि का अर्थ है आर्थिक उत्पादन का बढ़ते ही चले जाना और हर व्यक्ति को उपलब्ध होना, अपने उत्पादन में लगाये श्रम के आधार पर । * इसके लिये आवश्यक है औसत व्यक्ति की उत्पादन शक्ति बढ़ाना । उत्पादन शक्ति मशीनों तथा वैज्ञानिक खोजों से बढ़ती है । मशीनें एक से एक बढ़ कर ऐसी पेचीदा बनाई जा सकती हैं कि मनुष्य का काम बटन दबाने और पहिया घुमाने से अधिक लगभग न रहे । यहाँ तक कि कुछ कारखाने अब भी ऐसे बन गये हैं, अमेरिका और रूस में , कि जहाँ केवल एक मजदूर पूरा कारखाना चला लेता है, जिससे इतना उत्पादन होता है जितना आज के ही अन्य साधारण कारखानों में हजार मजदूरों के लगाने पर होगा । वैज्ञानिक अनुसन्धानों से औजार तथा मशीनें भी अधिकाधिक क्षम बनती हैं और उत्पादन के लिये कच्चे माल और साधनों में उन्नति होती है ।

सामूहिक उत्पादन वैसे भी अलग अलग व्यक्गित उत्पादन की तुलना में कहीं अधिक होता है ।

इस प्रकार जन समृद्धि के लिए सरकार का एक तो यह कर्तव्य हो गया है कि वह औसत वैयक्तिक उत्पादन शक्ति को बढ़ाती चली जाने के संपूर्ण आवश्यक आयोजन करे । भारतीय पंचवर्षीय योजना द्वारा भारत सरकार ने इस उत्तरदायित्व को तथ्य रूप में स्वीकार किया है और अपनी समझ-शक्ति के अनुसार वह उसमें लगी है । यहाँ उसकी आलोचला का प्रकरण नहीं है अतः हम यही कहेंगे कि वार्षिक बजट में लोकसेवा बाले व्यय को जनसमृद्धि-व्यय रूप देना आवश्यक है । आर्थिक समृद्धि के बाद की बात है सांस्कृतिक समृद्धि । अपने समय की सर्वोच्च आर्थिक उत्पादन क्षमता के आधार पर उत्पादित सामग्री और उसी के फलस्वरूप निर्मित मानसिकविकास की उच्चतम स्थिति में आविर्भूत मानसिक आनन्दाकांक्षा का बाहरी रूप है संस्कृति । संगीत, साहित्य, चित्र, वास्तुकलाएँ, श्रृंगार, सामाजिक व्यवहार आदि सभी संस्कृति के द्योतक हैं । इनकी उच्चतम विकास-स्थिति लाना मानव को ऊँचा पहुँचाना है । यही सरकार का कर्तव्य है ।

अब हम आजकल के पूँजीवादी ढंग के लोकसेवा कार्यों का ज़िक्र करते हैं । उर्सुलाहिक्स द्वारा ब्रिटेन के लोकसेवा कार्यों के निम्नांकित तीन विभाग किये गये हैं—

१— शिक्षा

---

* श्रम का अर्थ उस समय की सामाजिक उत्पादन शक्ति के अनुसार क्षम श्रम ।

२– जनस्वास्थ्य, जिसमें गृह व्यवस्था और स्वास्थ्य बीमा सम्मिलित हैं।

३– आयवर्धन

(१) शिक्षा की मद में वह नीचे लिखी बातें मानती हैं। स्कूल और विशेष ज्ञान के कॉलेज, अध्यापक, प्रबंधकों के वेतन, वजीफ़े, छात्रवृत्तियाँ, अनुदान, जैसे स्कूल में भोजन, दवादारू तथा पुस्तकालय, अजायबघर, चित्रशालाएँ आदि। इंग्लैंड में शिक्षा मद का लगभग ७० प्रतिशत से ऊपर तो प्रारम्भिक शालाओं में लग जाता है।

(२) हिक्स के अनुसार जन स्वास्थ्य मद में आने वाले काम का तो बहुत विस्तार है और उसके कई प्रकार हैं। कुछ तो सम्मिलित और अविभाज्य सेवाएं हैं, जैसे सड़कों की सफाई, मोरियों तथा नालियों का काम, बगीचों और स्नानागारों का प्रबन्ध। कुछ सम्मिलित तो हैं पर अविभाज्य नहीं हैं (उनके लिये कुछ कीमत ली जा सकती है) अस्पताल, स्वास्थ्यगृह (सेनोटोरियम) अनेक प्रकार के दवाखाने। उसी प्रकार की सेवाएँ विकसित होकर 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा' का रूप धारण कर रही हैं इसी में 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा' भी है, जिसका उद्देश्य है व्यक्तिगत आय में कुछ वृद्धि करना; नकद देकर नहीं, बल्कि वस्तु देकर जैसे डाक्टर, दवाएं, चीरफाड़ के सामान आदि। इसी में वह प्रतिफल मुआवजा भी शामिल है जो औद्योगिक चोट चपेटों के बदले में मजदूरों को दिया जाता है। पर यह गैर सरकारी बीमा के तौर पर ही पहले चालू हुआ और पनपा था। राष्ट्रीय योजना में यह कार्य कभी का ले लेना चाहिए था। भारत में हाल ही मे कर्मचारी बीमा योजना का प्रारम्भ हुआ है। दिल्ली कानपुर, बम्बई और नागपुर में यह चालू हो चुकी है। दिल्ली और कानपुर में तो योजना पिछले ३ वर्षों से कार्यान्वित हो रही है। नागपुर में इसी वर्ष के मध्य में और बम्बई में गत महात्मा गाँधी जन्म दिवस को (२ अक्टूबर १९५४) उसका उद्घाटन हुआ। किन्तु अभी यह प्रयोगावस्था में है। है यह योजना बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण किन्तु आज की हमारी वित्त व्यवस्था अनेक समस्याओं को हल करना नहीं जानती।

(३) आयवर्धन की मद में नकद रुपये के रूप में मदद ही मुख्य है। पेंशनें, बेकारी भत्ता, वृद्धभत्ता आदि, सब नकद ही दिये जाते हैं। इनकी रकम प्रतिव्यक्ति इतनी होती जा रही है जितनी कि एक बिना सीखे मजदूर की मजदूरी। हाँ किराये और भोजन की टिकटें नगद के रूप में नहीं दी जातीं।

'लोक सेवा' कार्य मे भावना यह नहीं रहती कि देश के प्रत्येक व्यक्ति को समृद्ध बनाया जाय बल्कि यह रहती है कि जो व्यक्ति किसी भी कारण से आर्थिकत: बुरी अवस्था मे है उनको मनुष्यता के नाते कुछ मदद कर दी जाय। भूखे मरते,

फटेहाल लोगों को देखा नहीं जाता। आडमस्थिम ने तो दरिद्रवृत्ति का जिक्र भी नहीं किया।

किन्तु जब हम लोक समृद्धि का विचार करते हैं तो परिस्थिति कुछ और ही दृष्टिगोचर होती है। यह कार्य समाजवादी वित्त व्यवस्था में अच्छा अध्ययन किया जा सकता है। †

---

† देखिए–Development of Soviet Economic System by Bykov
और– Soviet Economic Development Since 1917 by Maurice Dobb

६

लोकव्यय का प्रभाव

'लोकवित्त' के मुख्य दो पहलू लोकव्यय तथा लोकआय दोनों ही किसी भी देश की सरकार के हाथ में बहुत भारी कारगर यंत्र हैं। ये ऐसे यंत्र हैं जो प्रयोग के अनुसार मारक अथवा तारक दोनों बन सकते हैं। यदि जनता का शत्रु शासनारूढ़ हो जाय तो इन दोनों यंत्रों के ज़रिये शासित जनता को सत्यानाश के गर्त में ढकेल सकता है। साम्राज्यवादी शासकों ने अपने शासित उपनिवेशों के साथ यही हाल किया। अँगरेजी कुशासन के फलस्वरूप २०० वर्षों में ही भारत-दरिद्रता तथा गृहकलह और तज्जनित सभी खराबियों के निम्नतम स्तर पर आ पहुँचा है। अफ्रीका की सभी जातियाँ यूरोपीय तथा अमरीकी शोषकों की शिकार हैं।

इतना ही नहीं स्वतंत्र देश के शासकों को भी ये साम्राज्यवादी लोग किसी न किसी प्रकार से अपने चंगुल में फँसाकर उनके इन यंत्रों का उनकी जनता के विरुद्ध प्रयोग कराकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। दक्षिणी अमेरिका के सभी स्वतंत्र देश इसी प्रकार के शिकार हैं। लोकव्यय द्वारा जनता की भलाई करने के बजाय विदेशी ठग कम्पनियों को अनुदान (bounty) दे दिया। फलतः विदेशी शोषण और बढ़ गया। उन पर कर लगाना ही पड़ा तो कर की कोर जनता पर सरका दी। जनता पिस गई। भारत में अँगरेज यही करते थे। अब भी उस दृष्टि से भारत विदेशी शोषण के चंगुल से निकला नहीं है। इस अध्याय को पढ़कर पाठक अपने समय के लोकव्यय के तत्कालीन प्रभाव का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

उत्पादन पर

सैनिक और पुलिस व्यय का

हम अध्याय ५ में लोकव्यय के दो भाग कर आये हैं। एक तो लोक-व्यवस्था के आधारभूत कार्य और दूसरा लोक समृद्धि कार्य।

लोकव्यवस्था के आधारभूत कार्यों पर जो व्यय होता है उसमें बहुत बड़ा भाग सैनिक व्यय है। उसके हम दो भाग कर सकते हैं। सिपाही, अफसर आदि व्यक्ति समूह के लिए वर्दी, घर, स्वास्थ्य सामग्री आदि और दूसरे युद्ध के सामान जहाज

विमान, मोटरें, तोप, गोला, बारूद आदि । डाल्टन के अनुसार आधुनिक लोकव्यय का बड़ा भारी भाग ऐसे कामों में लगा दिया जाता है जिनसे जन कल्याण में सीधे तौर पर कोई योग नहीं मिलता । हथियार बन्दी और फौजों पर किया हुआ व्यय उसका ज्वलन्त उदाहरण है और यह बहुधा कहा ही जाता है कि ऐसा व्यय आर्थिक बरबादी है क्योंकि मनुष्य तोपों और बम गोलों को खा सकते नहीं, और युद्ध पोतों को बढ़ाते जाने से मकानों की समस्या का आर्थिकतः हल नहीं होता । ×

यह अवश्य कहा जाता है कि तोप, गोला बारूद, युद्धपोत विमान आदि पर जो व्यय किया जाता है यदि वह अपने ही देश में बनवाये जायँ तो उनको बनाने के लिए कारखानें चलेंगे । इतने सारे आदमियों को काम मिलेगा । इसमें पूँजी विनियोग (Investment) की दृष्टि से अन्तर नहीं पड़ता । उत्पादन को सहारा मिलता है । यहाँ तक कि जो सरकारें अपनी जनता के कल्याण की अधिक चिन्ता नहीं करतीं अथवा युद्ध द्वारा दूसरे देशों की जनता को लूट कर ही अपने देश की सम्पत्ति बढ़ाना चाहती हैं वे युद्धों को जान-बूझकर छेड़ती हैं ताकि युद्ध सामग्री के उत्पादन से उनके कारखाने चलते रहें । युद्ध-कर के नाम पर जनता का धन छीनकर थोड़े से निठल्ले यौद्धिक कारखानेदारों के खज़ाने भर दिए जायँ ।

किन्तु युद्ध सामग्री के उत्पादन से जनता का लाभ नहीं होता । वह उत्पादन जनता की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता । साथ ही बड़ा भारी हानिकर प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है कि सैनिक उत्पादन में लगे हुए जितने उत्पादन के साधन हैं—मशीनें, माल और मजदूर, सभी का दुरुपयोग हो जाता हैं । यदि वे तीनों ही जनता की आवश्यकता की वस्तुएँ बनाने में लगाये जाते तो वास्तव में उस हद तक जनता सुखी हो जाती । देश सुखमय होता ।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण सैनिक जवान भी उत्पादन कार्य से अलग रक्खे जाते हैं । सैनिक जवान देश के अच्छे से अच्छे छटे हुए शक्तिशाली व्यक्ति होते हैं । उनकी कार्य शक्ति अधिक से अधिक होती है । यदि उनको उत्पादन कार्य में लगाया जाता तो वे अपनी आवश्यकताओंसे अधिक सामग्री का उत्पादन करते । यह श्रम शक्ति सैनिक कार्य के कारण बेकार जाती है और देश के अन्य श्रमिकों द्वारा उत्पादित बहुत सी अच्छी से अच्छी सामग्री को ऊपर से हजम और कर जाती है । इस प्रकार सेना और युद्ध सामग्री देश की उत्पादन क्रिया पर एक भारी बोझ की तरह जमे रहते हैं । एक ही भलाई है जिसके लिए सेना रखना आवश्यक है, कि विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा होती रहे । यदि देश आक्रमणों से सुरक्षित नहीं रहेगा तो जो उत्पादन अन्यथा सम्भव है वह भी नहीं हो सकेगा । यह बात बहुत अंशों में ठीक भी है क्योंकि आक्र-

× Principles of Public Finance by Hugh Dalton— P.213

मण की अवस्था में हर उत्पादन कार्य अस्त व्यस्त हो जाता है और अरक्षित देश देखकर शोषक लोग आक्रमण किये बिना नहीं रह सकते। यह अवस्था तबतक रहेगी जबतक सभी देशों की अर्थ व्यवस्थाएँ शोषण पर या लूट पर नहीं, निजी उत्पादन पर आधारित नहीं हो जातीं।

किन्तु आज की दुनियां में युद्ध "देश की इज्जत खतरे में है" अथवा "सन्धि को निभाना है" आदि के नाम लेकर या "कमजोर को बलवान खाये जा रहा है" कहकर छेड़ दिये जाते हैं, जिनका अपनी रक्षा से कोई अभिप्राय नहीं होता। शान्ति के समय में सेना रखने का अभिप्राय यही होता है कि दूसरों की दृष्टि में हम हमेशा तैयार दिखाई दें। यह उद्देश्य रखना तो बड़ा कठिन है कि हमारी सैनिक शक्ति इतनी अधिक हो कि अन्य सम्पूर्ण देशों की सैनिक शक्ति कुल मिलाकर भी हम अकेले से कम रहे। यह तो आज के संसार में असम्भव है। संयुक्त राज्य अमेरिका भी आज उसमें अपने को असमर्थ पाता है और उसे अनेक अन्य सरकारों को अपनी ओर मिलाना पड़ रहा है। पर यह हर शक्तिशाली देश चाहता है कि अपने जोड़े के अन्य देशों से, जिनसे कि वह सम्भवत: आक्रमण की आशंका कर सकता है, अपनी सैनिक शक्ति किसी भी अकेले से कम न रहे। युद्धपोतों की अनुपात आदि की बात प्रथम महायुद्ध के बाद होती थी और अब तो ऐटम बम और हाइड्रोजन बम के उत्पादन और सैनिक प्रयोग को काबू में रखने ही तक बातचीत होती है, क्योंकि इन महाघातक शस्त्रों के समक्ष अन्य युद्ध सामग्री तुच्छ हो गई है। जहां इन हथियारों के आविष्कारों से सैनिक व्यय घटना चाहिए था वहां और बढ़ रहा है। डाल्टन की राय में रक्षा अधिकांशत: मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। "जिस देश के जीवन में सैनिक शक्ति और सैनिक आदतें जितनी ही अधिक क्रियाशील होंगी वह उतना ही अपने को अरक्षित अनुभव करेगा।" उनकी राय में संसार भर की कुल सेना इतनी ही रह जानी चाहिए कि सभी देशों में पुलिस का काम कर सके। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि यह तभी सम्भव है जब उस जग-पुलिस की संचालक शक्ति कहाँ रहेगी, इसपर सबका एक मत हो जाय यह आज सम्भव नहीं दीख पड़ता।

डाल्टन ने एक और बात भी इस सम्बन्ध में विचारणीय कही है कि "उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय तौर पर नियमित कर दिया जाय।"* इस बात में तथ्य काफी है। अधिकांश युद्ध देश के आर्थिक उत्पादन को बाहर के देशों में खपाने के लिए होते हैं और माल बेचने के बहाने खूब लूटने के लिए सैनिक शक्ति का उपयोग किया जाता है। यदि औद्योगिक देश जो बाहर माल 'खपाने' के लिए ही उत्पादन करते हैं, आपस में समझौता कर लें कि हम में से हरेक एक निश्चित तादाद में ही माल बनाये तो युद्ध की आवश्यकता नहीं रहेगी। उसके लिए एक क्षेत्र-विभाजन, जो पहले महायुद्ध

* Principles of Public Finance by H. Dalton P. 215

के पूर्व ही हो चुका था, असफल रहा। उत्पादन समझौता भी उन्हीं कारणों से कारगर होना सम्भव नहीं दीख पड़ता। दूसरों के मत्थे अपना उत्पादन जबर्दस्ती मढ़ने के युग की संसार ने खूब परीक्षा कर ली। लूट की प्रतिस्पर्धा से उत्पादन में बाधा पड़ती है। प्रतिस्पर्धा में सफल होने और प्रतिस्पर्धी की युद्धशक्ति को रोकने की चेष्टा के कारण जन-सुपास की सामग्री नहीं बन पाती अतः इस मार्ग को अपनाना उत्पादन के लिए महा हानिकारक होगा।

किन्तु सैनिक व्यय एक ऐसा व्यय है जो सभ्यता और संस्कृति के निर्माण के साथ साथ समय पाकर आवश्यक नहीं रह जायेगा। पुलिस व्यय जो आन्तरिक शान्ति स्थापना के लिए आज आवश्यक है, सभ्य और सक्षम सरकार होने पर अनावश्यक सा हो जावेगा। उत्पादन पर पुलिस व्यय का प्रभाव भी शान्ति स्थापन के अतिरिक्त सेना जैसा ही है।

सैनिक व्यय तो भारत में कुल व्यय का ७०% तक हुआ है। १९५१–५२ में यह व्यय ५२.५ प्रतिशत था। पुलिस का व्यय भी कुल व्यय का लगभग १५ प्रतिशत हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्र निर्माण के लिए सरकारी आय का इतना भाग बेकार रहा। यही रुपया मशीन बनाने के कारखानों में लगता, उपयोगी सामान बनाने में लगता, तो कितनी समृद्धि बढ़ती ! और फिर व्यक्ति जो इन विभागों में निठल्ले पड़े हैं, उनका अन्दाज देखिए—फौज में ही कुल जनसंख्या के २४ प्रतिशत हैं, अर्थात् लगभग ९००००० नौ लाख व्यक्ति, जो अधिक से अधिक सशक्त हैं। बम्बई में बीस से अधिक मज़दूरवाले कुल कारखानों में साढ़े चार लाख मज़दूर हैं जो इतनी सब मिलों और कारखानों को चलाते हैं और इतना भारी उत्पादन करते हैं। बम्बई से दूने कारखाने ये नौ लाख आदमी चला सकते हैं। स्पष्ट है कि आज बम्बई के उत्पादन का दूना तो आज की उत्पादन शक्ति के हिसाब से बेकार जा रहा है।

लोक समृद्धि कार्यों का

वास्तव में शासन व्यवस्था का आधारभूत कार्य है, 'व्यवस्था' अर्थात् शासन प्रबन्ध। देश के सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध सम्बन्धी सभी व्यय उत्पादन और वितरण में वही काम करते हैं जो कारखाने में मैनेजर आदि व्यवस्थापक मण्डली करती है॥ अतः देश की सरकार को व्यवस्थापन की दृष्टि से उत्पादन कार्य का ही एक काम समझना चाहिए। इसपर किये गए व्यय का प्रभाव उत्पादन की सम्पूर्ण देश भर की व्यवस्था पर होगा जैसा हमने पहिले कहा, ये शासकीय व्यवस्थापक लोकव्यय का यंत्र प्रयोग करके उत्पादन को बढ़ा या मिटा सकते हैं। एक प्रकार के बजाय दूसरे ढंग का कर सकते हैं। देश को सम्पन्न या विपन्न कर सकते हैं।

लोक समृद्धि कार्यों पर किये जाने वाले व्ययों का प्रभाव सबसे अधिक मन-

नीय है। किसी भी देश के लोकवित्त (बजट) की कुंजी यही विभाग है। यदि लोक-व्यय इस प्रकार सुव्यवस्थित और सुनियोजित है कि उसके प्रभाव स्वरूप देश के आर्थिक उत्पादन में सार्वजनिक कल्याणमयी वृद्धि होती ही जाती है और विदेशी शोषण तथा आन्तरिक गुटों द्वारा शोषण के लिए स्थान नहीं छोड़ा है तो भारी कर भार भी जनता को समृद्धि की ओर ही ले जायगा। जनता विचलित नहीं होगी, खुशी से कर प्रदान करेगी। पुलिस और निरीक्षण कर्मचारियों का व्यय बहुत कम रह जायगा। केवल गुट-शोषण या विदेशी शोषण की पोषक सरकारों को ही अपनी जनता को दबाने के लिए भारी सैनिक और पुलिस आदि का व्यय उठाना पड़ता है। जिस देश में पुलिस की संख्या और व्यय बहुत अधिक हों और शान्तिकाल में भी सैनिक व्यय असाधारण हो तो समझा जा सकता है कि वह जन समृद्धि कार्य लगभग नहीं के बराबर कर रही है।

शिक्षा व्यय का

लोक समृद्धि का सर्व प्रथम कार्य है शिक्षा। लोक सेवा का हर कार्य यदि हम जन समृद्धि की दृष्टि से करेंगे तो वह कोरा सुभाषित न रहकर कारगर बात हो जायगी। इसलिए हमने लोकवित्त के इस भाग का नाम 'लोकसेवा' से बदलकर 'लोकसमृद्धि कार्य' कर दिया है।

शिक्षा का लोक समृद्धि में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश की जनता की आवश्यकताओं के लिए जिस प्रकार के आर्थिक उत्पादन की आवश्यकता समय समय पर होती जाय उसी के अनुकूल शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। शिक्षा के हम दो स्वरूप स्थिर करते हैं—एक तो, आर्थिक उत्पादन के लिए विशेषज्ञता, मशीन, रसायन आदि का पूरा ज्ञान और क्रियामय अनुभव। दूसरे, सांस्कृतिक शिक्षा, जिससे मानव समाज भर को दृष्टि में रखकर व्यक्ति का मानसिक स्तर कलात्मक बने, सार्वजनिकता प्राप्त कर ले, वैयक्तिकता समाज-प्रतिमुखी न बन समाज–सहयोगी और समाज-पूरक बने।

यदि हम भारतीय शिक्षा व्यय का विचार करें तो उत्पादन की आज की दुरवस्था का रहस्य खुल पड़ेगा। हमारे देश में केवल ८.३ प्रतिशत शिक्षित हैं। × उनमें से केवल १ प्रतिशत कुछ ऊँचे पढ़े लिखे हैं अर्थात् केवल अंगरेजी या देशी भाषा की पुस्तक पढ़ लिख लेते हैं। उनका ज्ञान साहित्य, भूगोल, इतिहास, गणित, अर्थशास्त्र आदि अथवा कुछ सैद्धान्तिक रूप में भौतिक रसायन आदि विज्ञान तक सीमित है, अर्थात् यह शिक्षा केवल अर्द्धसंस्कृति की ही है, पूरी वह भी नहीं और साथ ही व्यक्ति-परक है जिससे १९ वीं शताब्दी के आर्थिक व्यक्तिवाद का ही प्रभाव

× Public Finance by R. N. Bhargava P. 502

बढ़ता है । फलतः उत्पादन में सहयोग के स्थान पर छिटफुटता, संघर्ष और स्पर्धा का बोलबाला होता है, देश की अर्थ व्यवस्था पिछड़ गई है ।

और इसके ऊपर से एक और बात यह है कि आर्थिक उत्पादन की शिक्षा का हमारे देश में प्रबंध नहीं के बराबर है, जो है वह लगभग बेकार जाता है। इंजिनियरी, रसायन–उत्पादन संबंधी, भूगर्भ शिक्षा, पोत निर्माण शिक्षा आदि का प्रबंध लगभग नहीं सा है, जो है वह अधूरा है । इस शिक्षा के होने पर भी काम पड़ने पर विदेशी ही बुलाने पड़ते हैं । फलस्वरूप उत्पादन ठप पड़ा हुआ है । मिलों में काम करने के लिये मजदूरों की शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं , बेचारे यों ही मर मर के उल्टा सीधा करते करते सीखते हैं । विदेशी विशेषज्ञ शोषक देशों से ही आते हैं और आज तक भारत का आर्थिक उत्पादन कार्य उन्होंने बिगाड़ा ही है । आर्थिक उत्पादन के साधनों के उत्पादन का कार्य तो अभी यहाँ छुआ ही नहीं गया , अर्थात् मशीन बनाने का , भारी रसाय-निक बनाने का, जहाज बनाने का, आदि । रेल्वे इंजिन, वायुयान और जल जहाज मोटर आदि वर्तमान प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जो बनाये जाने के आयोजन हैं वे तथ्य–परख में ढपोलशंखीय ही निकले कहे जाते हैं । देश की अर्थ-व्यवस्था के गुट परकता तथा विदेशी–परकता के दोष के अतिरिक्त ऐसी उत्पादन विशेषज्ञता की शिक्षा की कमी का भी यह भारी परिणाम है । शिक्षा पर किये गये व्यय से व्यक्ति–गत और समूहगत उत्पादन शक्ति बढ़नी चाहिये । यदि ऐसा होगा तो व्यय बोझ न होकर साधन हो जायगा । आज के भारत में शिक्षा का व्यय बोझ समझा ही नहीं जाता , वह ऐसा है भी । पूँजीवादी व्यवस्था में ज्ञान इतना आवश्यक समझा भी नहीं जाता ।

डाल्टन के अनुसार भी––पूँजीवाद की अर्थ–संस्थाएँ ऐसी हैं कि सरकारी हस्तक्षेप के अलावा, भावी उत्पादन शक्ति निर्माण का आयोजन नहीं के बराबर किया जाता है......और जो आयोजन किया भी जाता है, उसका गठन बहुत बुरा होता है । क्योंकि उनके गठन में भौतिक पूँजी का अनुपात बहुत अधिक और मानवीय पूँजी तथा ज्ञान का बहुत कम रहता हैं क्योंकि पूँजीपति को माली (भौतिक) पूँजी से मुनाफा बहुत अधिक और बहुत जल्द मिलता है । ×

मानवीय पूँजी तथा ज्ञान पूँजी को कम करके भौतिक या मालीपूँजी बढ़ाने की नीति हानिकर है, इससे उत्पादन घटेगा , बढ़ेगा नहीं । परंतु हाँ, उपभोग को कम करके भौतिक पूँजी बढ़ाने की नींति उत्पादन में सहायक होगी । बशर्ते कि ऐसे उप–भोग को कम किया जाय जिससे मनुष्य की उत्पादन–क्षमता में बाधा न पड़ती हो इससे सरकार अथवा जनता द्वारा बचत की ओर प्रयत्न होगा । इसमें बहुत बड़ी

× Principles of Public Finance. H. Dalton. P. 219

संभावनाएँ निहित हैं। अभी आधुनिक सरकारों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया है। हाँ सोवियत अरकार एक अपवाद है। इसकी पंचवर्षीय योजनाओं में, भविष्य के लिये आयोजन एक के बाद एक किया गया है' बहुत ही भारी तादाद में, सम्भवतः आवश्यकता से अधिक तादाद में लोकपूंजी का रोपन करके।†

देश की स्थिति से यह प्रत्यक्ष है कि हमारे यहाँ शिक्षा व्यय सु–प्रभाव रहित है।

उत्पादन का हम कुछ विवेचन करें तो यों रख सकते हैं कि उत्पादन के लिये आवश्यक साधन हैं, मनुष्य श्रम शक्ति और कच्चा माल। मनुष्य श्रम शक्ति को हम क्षमता भी कह सकते हैं। क्षमता के भी दो टुकड़े हो जाते हैं, मनुष्य का स्वस्थ शरीर जो डट कर काम कर सके तथा उत्पादक विशेषज्ञता, और साथ ही मशीन तथा औजार जिनके सहारे वह थोड़े से थोड़े श्रम द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन कर सके। परंतु इसके अतिरिक्त एक और बात रह जाती है जिसका नाम है, 'श्रमिक में उत्पादन की उत्कंठा'। पूंजीवादी समाज में इस उत्कंठा को उसके हृदय में घुस कर नहीं, उसको भूखों मरने पर मजबूर करके उत्पन्न किया जाता है। पर तब वह उत्कंठा नहीं मजबूरी रह जाती है और उत्पादन साधनानुकूल बढ़ नहीं पाता। उसके उपरान्त है उत्पादन व्यवस्था। सबको एक साथ रक्खें तो उत्पादन के निम्न साधन हैं–

१ कच्चा माल

२ श्रम क्षमता

(क) स्वस्थ शरीर

(ख) उत्पादन विशेषज्ञता

(ग) मशीन, औजार

(घ) उत्पादन उत्कंठा, श्रमिक में

(ङ) उत्पादन व्यवस्था

शिक्षा व्यय उनमें से प्रत्येक पर प्रभाव डालता है। विचार कीजिये

१ शिक्षा की कमीसे हम अभी तक अपने देश के प्राकृतिक धन का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं – उदाहरणार्थ, अनेक जड़ी बूटियाँ, हिमालयी प्रपात, खनिज, नारंगी के छिलके की तरह फेंके जाने वाले पदार्थ, सूर्य शक्ति आदि।

२ स्वस्थ भोजन प्रबंध के अभाव में भी अज्ञान का भारी हाथ है,

३ अज्ञान हमें मशीनें और औजार नहीं बनाने देता, हम उसी नगड़ दादाओं के चर्खे के पीछे दौड़ रहे हैं जिसकी उत्पादन शक्ति दो शताब्दी पिछड़ चुकी है।

---

†Principles of Public Finance- H. Dalton P. 223

४ साँस्कृतिक शिक्षा की कमी हमें सहयोग और उत्पादन उत्कंठा से दूर रख रही है ।

५ उत्पादन व्यवस्था की खराबी और स्वास्थ्य परक प्रबंध के मूल में सांस्कृतिक शिक्षा की कमी है । हालाँकि देश की अर्थ व्यवस्था ठीक किये बिना साँस्कृतिक शिक्षा की भूमिका तैयार नहीं हो सकती ।

इस प्रकार शिक्षा व्यय लोक व्यय का सबसे प्रभावशाली भाग है जो उत्पादन पर असर डालता है

डाल्टन की इस कसौटीं का फिर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि " उत्पादन की दृष्टि से लोक व्यय के वे रूप सामाजिकत: वांछित हैं जिनसे उत्पादन शक्ति अधिक बढ़ेगी वजाय उस अवस्था के जबकि वही रुपया व्यक्तिगत हाथों में रहता । " *

स्वास्थ्य व्यय का

शिक्षा के बाद स्वास्थ्य संबंधी व्यय का प्रभाव उत्पादन पर पड़ता ही है यह हम ऊपर कह चुके हैं । भारतीय सरकार ने हाल ही में एक नयी योजना चालू की है जिसका नाम है कर्मचारी सरकारी बीमा (Employees State Insurance) जिसके अंतर्गत फिलहाल कारखानों के मजदूरों के लिए बीमारी की अवस्था में कुछ सहायता दी जा रही है । उस सहायता में कुछ भाग मजदूर के वेतन से कटता है, कुछ कारखानों का मालिक देता है और सरकार केवल इस संस्था की व्यवस्था का व्यय उठा रही है । इंगलैंड और रूस में भी इस तरह की योजनाएँ क्रियान्वित हो रही हैं परन्तु वहां के कार्य अधिक लाभकारी और अधिक विकसित हो चुके हैं । वहाँ मजदूरों के लिये स्वास्थ्यगृह अथवा सेनेटोरियम, ठंडे स्थानों में गर्म जल के तालाब स्नानार्थ, बहुत ही सुन्दर बाग, बगीचे, पार्क, खेल के मैदान, घास की सपीलें, जीवट के कार्यों के साधन और सुविधा हैं । रहने और काम करने के स्थानों के आसपास की परिस्थिति मनोरंजक और स्वास्थ्यकर है । रूस की स्वास्थ्य योजना बहुत ही अध्ययन योग्य है । वहाँ कुल बजट का लगभग दसवाँ भाग केवल स्वास्थ्य प्रबन्ध पर लगता है जो कि फौजी कुल व्यय के तिहाई से भी अधिक है । फलस्वरूप मजदूर उत्पादन में गहरी दिलचस्पी लेता है, उसकी कार्य शक्ति हमेशा स्फूर्तिमय रहती है ।

कुछ अप्रत्यक्ष उत्पादक व्यय

कुछ व्यय ऐसे हो सकते हैं जिनका प्रभाव डालने के लिये ही उन्हें किया जा सकता है । निर्लोच माँग वाली वस्तु को जिसके दाम एकाधिकार अथवा अन्य कारणों से एक दम ऊँचे कर दिये गये हैं उत्पादक सहायता (Subsidy) देकर अथवा उप-

*देखिये , पीछे पृष्ठ ३०

भोग सहायता देकर कम दाम में बिकवाना । इससे उसकी माँग बढ़ जावेगी, उत्पादन बढ़ेगा । वस्तु विशेष या सेवा की माँग भी इस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है । सस्ते दाम में बिकवाने के फलस्वरूप माँग में जो वृद्धि होगी उसकी पूर्ति की व्यवस्था करनी चाहिये । पूर्ति को राशन करना होगा किन्तु शान्ति के समय भी राशन बनाये रखना ठीक नहीं रहता । अतः सस्ता या बिना दाम देना ही ठीक ठहरता है । डाल्टनके अनु-सार तो मुफ्त दवा का प्रबन्ध मुफ्त रेल सफर की व्यवस्था की अपेक्षा अधिक उप-युक्त ठहरता है ।

पूंजीवादी व्यवस्था के अन्दर उत्पादन में जब ढिलाई आ जाती है और एक गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तो सरकार कुछ न कुछ ऐसा कार्य आरम्भ कर सकती है जिससे देश के गरीब आदमी मजदूरी में लग जाँय । चाहे उत्पादन का काम न करें केवल गड्ढा खोदें और भरें और मुद्रा स्फीति द्वारा उनको मजदूरी चुकाई जाय तो भी उत्पादन बढ़ेगा। इससे गतिरोध मिट सकता है क्योंकि मजदूरों को जो मजदूरी छपे नोटों के रूप में मिलेगी उससे उनको अपनी अपनी आवश्यक वस्तुएं खरीदने की क्रय शक्ति मिली । कपड़ा, अनाज, मकान आदि सभी वस्तुओं की माँग बढ़ जायगी और इनका उत्पादन वितरण आगे बढ़ेगा । इस प्रकार सरकार किसी भी काम को करके जन साधारण में धन वितरण करे तो उत्पादन अवश्य बढ़ता है परन्तु वह धन जन साधारण में न बँट कर यदि कुछ महाधनी गुटों के हाथ में या विदेशों में चला गया तो उत्पादन नहीं बढ़ेगा ।

अब प्रश्न रहा सीधे आयवर्धक व्ययों का । आयवर्धक व्ययों में मुख्य है पेंशन, वृद्ध भत्ता, बेरोजगारी भत्ता । इनसे प्राप्तकर्त्ता को कुछ सहारा मिल जाता है और जीवन का भार रूप कुछ कम हो जाता है । पूंजीवादी व्यवस्था में इस प्रकार के व्यय का उत्पादन पर कोई बहुत भला प्रभाव नहीं पड़ता । जो रुपया उत्पादन में पूंजी बन कर लगता वह इस प्रकार अनुत्पादक काम में नष्ट हो जाता है । पूंजीवादी दृष्टिकोण से तो जितने अधिक बेरोजगार रहेंगे उतने ही अधिक सस्ते मजदूर मिलेंगे। वृद्ध तो उत्पादन के किसी काम आ ही नहीं सकते । अतः यह केवल दानभावना की संतुष्टि है । अमेरिका, इंगलैंड आदि पूंजीवादी देशों में यह बोझ इसलिये उठाया जाता है कि मजदूर जनता बिल्कुल नंगी भूखी रहने से कहीं उनका सिंहासन न उलट दे । समाजवादी व्यवस्था में बेरोजगारी होती ही नहीं । वृद्धों को भत्ते की आवश्यकता नहीं रह जाती । मशीन और औजारों की उन्नति के कारण नगण्य श्रम-साध्यता वृद्धों को भी काफ़ी उत्पादन करने में सहायक होती है ।

अब हम ऐसे कार्यों पर विचार करेंगे जो या तो व्यक्तिगत तौर पर किये ही नहीं जा सकते अथवा सरकारी तौर पर करने से वैयक्तिक से अधिक उत्पा-

दन होगा, अर्थात सर्वनिष्ठ कार्य ।

इनमें रेल, सड़कें, तार आदि यातायात के साधन गिने जाते हैं । उत्पादन पर इन मदों की सुविधा का भारी प्रभाव पड़ता है । बिना रेल, सड़क, तार, डाक आदि के आज की अवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन हो ही नहीं सकता । कच्चा माल, औजार, तैयार माल का लाना ले जाना, समय पर आवश्यक स्थान पर सामान का पहुँच जाना आदि अत्यावश्यक हैं । उनके द्वारा अन्य उद्योगों को उत्पादन में सहायता मिलती है । इसके अतिरिक्त इन कार्यो को स्वयं अपने लिये भी भारी उत्पादन आवश्यक है । सिंचाई और विजली उत्पादन के लिये बाँध बाँधना आदि । ये सभी कार्य अपना मूल्य धीरे धीरे अदा कर सकने वाले हैं ।

उपयोग बिकीर्णन

अर्थशास्त्र के मूलाधार के प्रणेताओं का मत है कि चूंकि सरकारी संस्थाएँ नि:शेषी तथा हस्तान्तरणीय दोनों प्रकार के व्यय करती हैं तथा सेवाओं और वस्तुओं के नियोक्ता तथा उत्पादक के रूप में अपार द्रव्य का व्यय करती हैं इसलिए उनका देश की उत्पादन व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ना निश्चित है । साधन के विभिन्न उपयोगों में विकीर्णन के कारण उनकी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में फैल जाती हैं और तब वे उत्पादन के प्रकार और परिमाण में परिवर्तन कर सकती हैं।

भौगोलिक छिटफुटता

लोक व्यय को विभिन्न स्थानों पर छिटफुट करने से भी उत्पादन बढ़ सकता है । कई स्थानों के उत्पादन साधन (प्राकृतिक धन और श्रम--शक्ति) यों ही पड़े रहते हैं और यदि सरकार वहां की म्यूनिसिपैलिटी या ज़िला परिषद को विशेष सहायता दे दे तो वह उस स्थान के लिए जनोपयोगी उत्पादन कर सकेगी, जैसे बिजली बनाकर ट्राम, रेल, कारखाने आदि चलाना । बम्बई और पूना के बीच में सरकारी मदद से बिजली खपौली में उत्पन्न की जाती है । लुनावला में पर्वत माला है,झील है, खंडाला में गह्वर है, तेज जलधारा गिराने के साधन हैं । उनका इस प्रकार उपयोग करके सारे बम्बई शहर की ट्राम, रेल, मिलें बिजली से चलने लगीं । इस प्रकार भौगोलिक व्यय वितरण से बेकार पड़े साधन कारगर होकर उत्पादन बढ़ा सकते हैं ।

यह अन्तर तभी तक अंतर दीखता है जब तक कि हम वैयक्तिक उत्पादन व्यवस्था को लेकर चलते हैं । सरकारी हस्तक्षेप कम से कम है । यदि सरकारी हस्तक्षेप और नियोजन की हद बढ़ती जाती है तो भौगोलिक वितरण स्वयं आ जायगा । डाल्टन कहता है कि सोवियत संघ में 'लोकवित्त' विस्तृत अर्थ में 'लोकअर्थ' के रूप में परिणत

हो जाता है और देश की जनता का सभी आर्थिक कामकाज केन्द्रीय नियोजन के दबाव में रहता है । इन कामकाजों का जानबूझकर चुना हुआ एक उद्देश्य रहता है इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना में हल्के उद्योगों पर कड़ा कर लगाया गया ताकि बिजली विस्तार और भारी उद्योगों को आगे बढ़ाया जा सके । उत्पादन के साधनों के अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वामित्व नष्ट हो गया । करीब सभी बड़ी आय और बड़ी संपत्ति के उत्तराधिकार समाप्त हो गये । अतः वैयक्तिक बचत का महत्व नहीं के बराबर रह गया । व्यक्तिगत करदाता ओझल हो गया और सार्वजनिक उद्योग मुख्य कर दाता हो गये, इसलिये लोकवित्त का रूप भी तात्कालिक नयी अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप होना आवश्यक हो गया ×

जिन देशों में सार्वजनिक अर्थ व्यवस्था का क्षेत्र अधिक विस्तृत है और जो आर्थिक क्रियाओं का आयोजन किसी सुनिश्चित दिशा में किसी निश्चित ध्येय को मानकर करते हैं वहाँ साधनों के विकीर्णन का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत होता है । रूस में प्रथम पंचवर्षीय योजना का तथ्य विशेष रूप से आर्थिक साधनों को भारी उद्योगों के विकास में योग देने की ओर आकर्षित करना था और १९४६–५० की पंचवर्षीय योजना का मुख्य ध्येय देश के युद्ध क्षत नगरों को फिर से बसाना और उद्योग तथा कृषि को युद्ध पूर्व स्तर तक पहुँचाकर काफ़ी ऊपर उठा देना था*

डाल्टन द्वारा बताये तीन रूप

डाल्टन ने व्यय के तीन रूप और बताये हैं, जिनसे उत्पादन में सहायता मिल सकती है । ‡

१ अनुत्पादक आन्तरिक ऋण को अदा करना जिसके चुकाने के लिये कोई अलग साधन बनाकर नहीं रक्खा गया है। इससे लोगों का इस प्रकार बेकार रुका हुआ रुपया वैयक्तिक उद्योग धंधों में लग सकता है और जो हवाई पूंजी है, अर्थात जो धन हाथ में तो है किन्तु पराया है, उत्पादन भी नहीं कर रहा है और देना है, पर अपनी पूंजी सा लगता है । वह भ्रम खतम हो जायगा । जिसका है वह उसे काम में ला सकेगा ।

२ सरकार, जो वास्तविक पूँजी निजी उद्योगों में लगी है उसे खरीद ले । उन उद्योगों के खरीदने से उनमें लगा वैयक्तिक धन छुट्टा हो जायगा और फिर दूसरे उत्पादन में लग सकेगा पर वे उद्योग ऐसे होने चाहियें जो उत्पादन के साधन बनाते हों जैसे मशीनें, औजार, रेल के सामान, जहाजी सामान आदि ।

× H. Dalton–Principles of Public Finance P. 227

* एन. एस. वोज्नेसेनस्की–१९४६–पंचवर्षीय योजना रिपोर्ट

‡ Dalton–Principles P. 223

३ उत्पादक सामान स्वयं सरकार बनाने लगे अथवा ऐसे कारखाने बढ़ा दे। यह सीधा उत्पादन में पूँजी रोपन हुआ।

चौथा एक बीच का सा रूप यह है कि जिन सार्वजनिक उद्योगों में गिरवीदारों का रुपया लगा हुआ है उनसे रहन छुड़ा लिये जायँ, इस प्रकार रहनदारों का रुपया भी छुट्टा हो जायगा।

डाल्टन की तीनों बातें धीरे धीरे उत्पादन को वैयक्तिक क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र में लाने के बड़े सुन्दर साधन हैं किन्तु जबतक वितरण की व्यवस्था जन साधारण तक उत्पादन फल पूरा का पूरा नहीं पहुंचायेगी, उत्पादन वृद्धि बहुत अधिक आगे नहीं बढ़ सकती।

उत्पादक व्यय

जो कुछ डाल्टन ने कहा है उसी तरह का एक प्रश्न यह सामने आता है कि देश में उत्पादन अटूट बढ़ाने के लिये सरकार को क्या करना चाहियें। उसका उत्तर देते समय जिन देशों में आज उत्पादन अटूट बढ़ रहा है उनकीओर ध्यान देना होगा। पहला प्रश्न है पूँजी अर्थात् उत्पादन के साधन एकत्र करना, दूसरा प्रश्न है जो माल उत्पन्न हो उसके खपाने का।

उत्पादन खपाने के लिये नहीं होना चाहिये बल्कि जनता की समृद्धि के लियें, जनता की आवश्यकताओं के लिये उत्पादन होना चाहिये। तभी उत्पादन बढ़ता जा सकेगा। दूसरे के मत्थे पर अपना माल लादकर उसकी जेब काटने से नहीं। तो सरकार पूंजी कहाँ से लाये, ऋण ले या नहीं, यदि ले तो देश से या विदेश से। इन प्रश्नों पर हम ऋण के अध्याय में अधिक विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहेंगे कि विदेश से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं , कम से कम हमारे देश को। प्राकृतिक धन सबका है, जो वैयक्तिक अधिकार में ह उसे ऋण के रूप में व्यक्तियों से ले लिया जाय। अभी व्याज के सिवाय कुछ व्यय नहीं हुआ। फिर विभिन्न स्तरों के मशीन बनाने के कारखाने, भारी रसायनों के कारखानें खोले जायँ। पूँजी माल (capital goods) सब कारखानों में तैयार हो और उपभोगी माल उत्पादन के लिये कुछ सरकारी पूंजी का विनियोग हो जैसे यातायात' विद्युत उत्पादन आदि किन्तु अधिकाँश कार-खाने और कृषि - कार्य सहयोगी हों। मशीनें और रसायन, सरकार उन्हें सस्ते दे। उत्पादन फल उत्पादकों में पूरा बँट जाय।

रक्षा और शान्ति रक्षा से, व्याज, चुकाव और व्यवस्था से बचे व्यय को जनता के लिये उत्पादन बढ़ाने, स्वास्थ्य शिक्षा आदि में लगाते रहा जाय।

इस प्रकार के व्यय से उत्पादन बढ़ता ही रहेगा। प्रारंभ में यदि व्यय के लिए

ऋण न मिले तो कुछ हद तक काबू में रख कर मुद्रा स्फीति से भी काम लिया जा सकता है।

श्रम टिकट जो निश्चित दूकान पर निश्चित वस्तुओं के लिये चलें, ऐसा अर्ध-मुद्रा प्रचलन भी ऋण लेने से बचायेगा।

किन्तु उन सबसे अधिक प्रभावशाली लोकव्यय, जो उत्पादन को असंख्य गुनी वृद्धि देता ही जा सकता है, वह है उत्पादन और वितरण में व्यक्तिवाद को छोड़ कर पूर्ण से पूर्ण सहयोगवाद की अवस्था उत्पन्न करना। वैयक्तिक उत्पादन साधनों का राष्ट्रीय-करण करना, उच्च से उच्च वैज्ञानिक शोध द्वारा अधिक से अधिक उत्पादक मशीन औजार बनाने के कारखाने बनाना। वैयक्तिक सम्पत्ति की पद्धति पर नहीं, समाजवादी सिद्धान्त पर अर्थव्यवस्था करना, सुनियोजित उत्पादन का प्रबन्ध करना।

लोक व्यय का प्रभाव

सम्पत्ति वितरण पर

लोकवित्त की केन्द्रीय समस्या यही है कि देश के आर्थिक साधनों का उत्तम से उत्तम उपयोग कैसे किया जाय। लोक व्यय द्वारा सरकार किस प्रकार इन साधनों का अधिक से अधिक आर्थिक उत्पादन की ओर रुख कर सकती है यह विचार हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। वितरण पर भी सरकार लोक व्यय द्वारा ही पूरा प्रभाव डाल सकती है।

अप्रत्यक्ष

वितरण पर प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है सेना, पुलिस आदि द्वारा रक्षा और शांति का वितरण होता है, यह एक प्रकार से अप्रत्यक्ष आर्थिक वितरण है किसको इसका कितना लाभ होता है यह अन्दाज लगाना कठिन है। परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था में जो अधिक सम्पत्तिशाली है उसी को अधिक लाभ अधिक सुरक्षा के रूप में प्राप्त होता है।

इसी प्रकार सार्वजनिक बगीचों, खेल के मैदानों, अस्पतालों आदि का लाभ भी वितरण का एक रूप है। ये तथा सस्ता दूध, सस्ती शिक्षा, आदि अस्वस्थ को स्वस्थ और अयोग्य को योग्य बनाकर अधिक कमाने योग्य बनाते हैं। वृद्ध भत्ता, बेकारी भत्ता, रोगी दवा आदि सीधे वितरण हैं जिनसे प्राप्त कर्ता को सीधी सहायता मिलती है। यदि नकदी के स्थान पर उद्दिष्ट सहायता, पदार्थ या सेवा के रूप में दी जाय तो अधिक कारगर होती है क्योंकि नकद रुपया कई बार अनावश्यक बातों पर भी व्यय हो जाता है।

श्रीमती उर्सुला हिक्स ने वितरण पर लोक व्यय के प्रभाव का विचार करते

हुए कहा है कि "कर देना व्यक्तिगत काम है परन्तु सार्वजनिक व्यय के लगभग अर्धांश द्वारा होने वाला हित अविभाज्य है (सड़कें, जल-प्रबन्ध, यातायात, रक्षा आदि)। दूसरी ओर सार्वजनिक व्यय का दूसरा अर्धांश निश्चित तथा सामाजिक रूप में महत्वपूर्ण विभिन्न आय वर्गों में वितरित होता है। जब हम आय के पुर्नवितरण की बात करते हैं तब हमारा आशय उसी अर्धांश से होता है"। †

प्रत्यक्ष

सरकारी सहायताओं के तीन विभेद कर दिये गये हैं।

१ आनुपातिक– जो आय के अनुपात के अनुसार दी जाय

२ क्रमागत वृद्ध्योन्मुख-- ज्यों ज्यों आय कम होती जाय त्यों त्यों सहायता बढ़ती जाय

३ क्रमागत ह्रासोन्मुख-- ज्यों ज्यों आय घटती जाय त्यों त्यों सहायता भी छोटी होती जाय। वितरण का उद्देश्य आयों की विषमताओं को कम करने का है वह क्रमागत वृद्ध्योन्मुख सहायता से सबसे उत्तम प्रकार से होता है, किन्तु उत्पादन पर प्रभाव का विचार रख कर ही ये सहायताएँ दी जा सकती हैं) वृद्ध और बेकार को उस दृष्टि से काम भी देना अधिक उपयुक्त होगा कि उसका उत्पादन मूल्य उस पर किये जानेवाले वृद्ध भत्ते या बेकारी भत्ते के मूल्य से अधिक हो।

यदि हम लोकव्यय के विभिन्न अंगों पर दृष्टि डालकर देखें तो वितरण पर कुछ और प्रभाव भी ध्यान में आ सकते हैं।

सैनिक व्यय, जहाँ तक सैनिक-वेतनों का सम्बन्ध है सीधा ही वितरण है, परन्तु यदि कोई सैनिक विदेशी व्यक्ति है तो उतना व्यय अपने देश के वितरण क्षेत्र में से निकल गया। अँगरेजी काल में भारतीय सेना का अधिकांश व्यय गोरी पल्टनों पर होता था, गोरे अफ़सरों पर होता था। रक्षा के साधन मोटरें, मशीनें, तोपें, गोले बारूद आदि यदि देश में बनें तो, वितरण करेंगे। पुलिस तथा व्यवस्था तो कर्मचारियों को सीधे वितरण करती है। लोकसमृद्धिकार्य तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वितरण हैं ही, किन्तु एक प्रकार का व्यय, जो सबसे अधिक न्यायपूर्ण अर्थात् काम के आधार पर वितरण करने में सहायक होगा, वह है इस बात पर व्यय कि उत्पादन तथा वितरण के साधन वैयक्तिक हाथों से निकल कर सरकार के हाथों में आ जायँ। हम उत्पादन पर प्रभाव का जिक्र करते तमय यह उल्लेख कर चुके हैं। देश में जो गैर सरकारी अर्थ व्यवस्था हो सब सहयोगी उत्पादन और सहयोगी वितरण की ही व्यवस्था हो। वितरण में 'अधिक से अधिक लाभ' के सिद्धान्त पर चला जाता है, सीमान्त लाभ सबका बराबर होना चाहिए।

---

† Public Finance— P. 297

७

लोकव्यय के साधन

प्रत्येक सरकार अथवा नागरिक लोकव्यवस्था–अधिकारियों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन रक्षात्मक अथवा व्यवस्थात्मक कार्यों की हमने आयोजना की है उनके लिये व्यय का प्रबन्ध क्या हो। यों तो इस विषय पर विस्तार पूर्वक हम अगले कुछ अध्यायों में विचार करेंगे, किन्तु यहाँ प्रश्न इतना ही है कि लोक आय के जो मुख्य दो रूप हैं, कर-आय तथा लोकऋण, उनमें से किसके द्वारा कौन व्यय व्यवस्थित किया जाय। क्या हर कार्य के लिये कर दाता पर ही बोझ डाल दिया जाय? क्या एक ही साथ बीसियों वर्षों की कुल कर आय के बराबर आ जाने वाले व्यय को पूरा करने के लिये एक ही वर्ष में जनता से उतना रुपया कर के रूप में छीन लिया जाय? अथवा ऐसे कार्यों के लिये जनता से ही अथवा विदेश से ऋण लेकर उस समय उतना भारी व्यय कर लिया जाय और फिर उसे ब्याज सहित धीरे धीरे चुका दिया जाय। यदि किसी बांध बनाने का, महायुद्ध का, विकास योजना का पूरा व्यय एक ही साल के कर दाताओं पर डाल दिया जायगा तो यह उस वर्ष के कर दाता के साथ बड़ा अन्याय होगा। जर्मनी के पिछली शताब्दी के मध्य तथा अन्त के उस विषय के लेखक डीट्जेल, अँपकेन, बाश, स्टीन, वैगनर, शाफल, नास्सि, शाज् की राय तो यह थी कि असाधारण व्यय को ऋण लेकर ही करना चाहिये क्योंकि वह एक प्रकार का पूंजी रोपना है। श्री डीट्जेल की राय है कि सरकार के कार्य भी उतने ही उत्पादक हैं जितने कि उद्योग धन्धे और इसलिये ऋण लेकर इन कार्यों में लगाना वैसा ही है जैसा कि कारखाने में पूंजी रोपना। जल, बिजली आदि जन कार्य वर्तमान पीढ़ी को जितने लाभदायक हैं, भावी पीढ़ी को भी वे उतना ही लाभ पहुँचायेंगे। अतः इसमें किये जाने वाले व्यय के लिये ऋण लेकर उसे कई वर्षों पर फैला देना बिल्कुल वैध और न्याययुक्त है। डीट्जेल की पुस्तक का लोकवित्त के विचारकों पर काफी प्रभाव पड़ा।

परन्तु गत शताब्दी के अंगरेज साम्राज्य के प्रधान मंत्री श्री ग्लैडस्टन के विचार इसके एकदम विपरीत थे। उनका कहना था युद्ध व्यय तो युद्ध कालीन कर दाता के ऊपर ही पड़ना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है, क्योंकि युद्ध उस समय के

लोगों ने शुरू किया तो बादवाले उसका फल क्यों भोगें। एक दूसरा भी कारण उन्होंने बताया–और वह अधिक महत्वपूर्ण है–कि यदि उसी समय के करदाता पर तात्कालीन युद्ध का सारा बोझ पड़ता जायगा तो करदाता सरकारी व्यय पर नियंत्रण रक्खेगा। युद्ध जनित खर्चे अनापशनाप नहीं होंगे। यदि तत्कालीन जनता को नहीं देना है तो तो वह उसमें हस्तक्षेप करने की ओर कोई रुख नहीं रक्खेगी। ग्लैडस्टन ने तो क्रीमिया युद्ध को बिना ऋण लिये ही चलाने का पूरा प्रयत्न किया हालाँकि वह उसमें सफल नहीं हो पाया। उन्नीसवीं शताब्दी के दृष्टिकोण को एक अंगरेज लेखक 'बैस्टेबल' बहुत अच्छी तरह प्रगट करता है। उसका कथन है कि "उत्पादनशील जायदाद की खरीद अथवा आय–पूर्ण जन–कार्यों का निर्माण–कार्य ऋण लेकर किया जा सकता है।" इसमें वह खुल कर कह देता है कि अनुत्पादनशील अथवा घाटे के कार्यों को तात्कालिक कर–आय में से ही वित्तित करना चाहिये न कि ऋण लेकर।

पूंजी पर भार

शीराज़ के अनुसार पूंजी पर जिन मदों का वित्तभार डाला जाना चाहिए वे चार प्रकार की हैं:–

१– स्थायी उत्पादनशील पूंजी रोपन के लिए, उदाहरणार्थ रेल मार्ग, जल बाँध नहर आदि जन कार्य, कुछ अर्ध-सैनिक, तथा नागरिक कार्य जिनसे पूंजी पर बहुत वर्षों तक प्रति वर्ष उपयुक्त आय प्राप्त होती रहेगी।

२– असाधारण स्थिति में जैसे युद्ध, बाढ़ें।

३–अस्थायी आवश्यकताओं में–जैसे

(अ) विरला घाटा

(आ) अस्थायी पूंजी उपयोग

४– कतिपय अन्य स्थितियों में—अनुत्पादक जन-कार्य और जब सरकार तथा नगर पालिकाएँ कुछ आर्थिक कार्यों में सम्मिलित हों।

स्थायी उत्पादन कार्यों में बड़ी भारी पूंजी लगती है। भारतीय रेलमार्ग निर्माण का व्यय अन्दाजन ९०० करोड़ रुपये हुआ था। * भारतीय सरकार की उस समय की वार्षिक आय लगभग १०० करोड़ रुपये रहती थी। इस प्रकार पूरी आय का ९ गुना व्यय एक ही साल करदाता से वसूल करना सामाजिक अन्याय और आर्थिक असम्भावना तो है ही, पर राजनीतिक नासमझी भी है।

सिन्ध के सक्खर बाँध का व्यय उस समय २० करोड़ रुपया कूता गया था। यह भारत का ही नहीं उस समय संसार में सबसे बड़ा बाँध बनाया गया था, इससे ३३००००० एकड़ भूमि सींची जाने का अन्दाज था और खर्च देकर १९४०००००)

* Public Finance by R. N. Bhargave—P. 517

रुपये की वार्षिक आय कूती गई थी, जो कि व्यय की लगभग १० प्रतिशत है। हाल ही की भारत सरकार की प्रथम पंचवर्षीय योजना का कुल व्यय २२४४ करोड़ रुपये अनुमानित है जिसमें से ९४५ करोड़ रुपया व्यय हो चुका। ‡ प्रत्यक्ष ही है कि इसके लिए ऋण अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनों जरियों से लिया गया है। हम इस प्रश्न पर कि ऋण बाहर से लेना उचित है कि नहीं विस्तार से लोक ऋण के अध्याय में विचार करेंगे किन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऋण के फलस्वरूप देश को शोषक सरकारों का दास न बना दिया जाय और देश के विकास के बजाय और विपरीत प्रभाव न पड़ने दिया जाय। हाल ही में पाकिस्तान-अमेरिका सम्बन्ध इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। पाकिस्तान ने अमेरिका से ऋण लिया विकास के लिए, पर साथ ही लद गया अमेरिका की फौजी गुलामी से। यहाँ तक कि दासत्व के फलस्वरूप जनता द्वारा निर्वाचित पूर्वी पाकिस्तानी मंत्रि-मंडल को (फजलुलहक प्रधानमंत्री मई १९५४) पदच्युत कर जबर्दस्ती जेल में डाल दिया गया। भारतीय प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू उस मामले में सजग रहे और अमेरिकी सैनिक लुटेरों की यहाँ इतनी दाल नहीं गलने दी।

ऋण के सम्बन्ध में एक विशेष बात जो इस विषय के अन्तर्गत ध्यान में रखनी आवश्यक है, वह यह है कि पूंजी विनियोग को एक ऐसी हद के अन्दर रखना चाहिए कि उसका ब्याज और मूल कई वर्षों पर फैलाकर एक निर्माण-निधि निर्माण द्वारा निश्चय ही चुकाया जा सके। नगरपालिकाओं या जिला परिषदों के ऋणों की सीमा निश्चित रकम के अन्दर ही बाँध देनी अधिक उपयुक्त है, उनकी वास्तविक जायदाद के अनुमानित मूल्य की एक विशेष प्रतिशत के रूप में।

यदि जिस सार्वजनिक कार्य में ऋण की एक रकम लगाई गई है वह मान लिया जाय, ५० बर्ष में बेकार हो जायगा तो ब्याज और पूंजी उस समय के अन्दर ही बेबाक हो जाने चाहियें।

यदि ऐसी अवस्था हो कि देश के लोकवित्त साधन सीमित हैं और यह डर हो कि ज़रा सा सीमा से बाहर ऋण ले लेने पर ही साख हिल सकती है तो उत्पादन शील पूंजी–व्यय के लिये भी निर्माण–निधि बना देने से साख बढ़ जायगी, लोगों का विश्वास जम जायगा और ऋण पत्र बिक सकेंगे।

असाधारण स्थितियों में कभी कभी एक दम बहुत भारी रकम की आवश्यकता पड़ जाती हैं, जैसे अचानक युद्ध छिड़ जाने पर, अथवा भयंकर बाढ़ या भूकम्प आ जाने पर, भयंकर महामारी फैल जाने पर आदि। ऐसी अवस्थाओं में छोटी वार्षिक आय का एक भाग लगा देने से या समूची भी लगा देने से काम नहीं चल पाता।

---

‡ वही, पृष्ट २११

एक साथ इतने धन की आवश्यकता आ खड़ी होती है कि कई वर्षों की कर–आय भी पर्याप्त नहीं हो सकती। बाढ़ या भूकम्प आदि का व्यय तो बहुत कुछ वश में भी किया जा सकता है किन्तु युद्ध विजय करने के लिये आवश्यक रकम की कोई सीमा नहीं। न जाने किस स्थिति में कितना जोर आ पड़े और कितने दिन यह स्थिति चलती रहे। विजय प्राप्त करना, यही एक उद्देश्य सामने रहता है चाहे जितनी धन हानि हो। बाढ़ और भूकम्पादि के द्वारा किये गये सत्यानाश से जनता को त्राण देने के लिये भी अति आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं।

अत: इन अवस्थाओं में धन पूंजी के रूप में ही एकत्र करना चाहिये, वार्षिक आय से नहीं। मैककुलॉच के अनुसार युद्ध, भूकम्प आदि के लिये व्यय किया गया धन नष्ट नहीं होता बल्कि वह एक पूंजी रोपन है, उससे अप्रत्यक्ष मुनाफे होते हैं। कभी युद्ध में बड़ा भारी प्रत्यक्ष मुनाफा भी हो जाता है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने अफ्रीका और एशिया के देशों को युद्ध में हराकर पूरे देशों पर अधिकार करके न केवल उनके तत्कालीन धन को लूटा, बल्कि उनकी जनता को मजबूर करके उनके द्वारा उत्पादित धन को वे आज तक लूट रही हैं। साम्राज्यवादी सरकारें इसी दृष्टि से दूसरों पर हमला करती हैं। परन्तु साधारण दृष्टि से देखा जाय तो युद्ध-व्यय उत्पादक नहीं होता किन्तु रक्षार्थ करना पड़ता है।

"राष्ट्रों की सम्पत्ति पुस्तक के प्रसिद्ध लेखक आडम स्मिथ ने बहुत बुद्धिमता पूर्ण बात कही है कि युद्ध के लिये ऋण लेने से एक बड़ी भारी खराबी यह हो जाती है कि जनता युद्ध की घोषणा करने या उसके जारी रखने पर काबू नहीं रख पाती, उसकी आलोचना का भी उसे मौका नहीं रहता। किन्तु यदि युद्ध व्यय कर द्वारा आय करके लगाया जाय तो जनता को उसकी आलोचना करने और उस पर नियंत्रण रखने का अवसर मिलता है। प्रथम महायुद्ध में युद्ध के लिये सन् १९१४ से १९२० तक जर्मन सरकारने २२२०००००० मार्क जैसी भारी रकम का ऋण लिया, परन्तु इंग्लैंड में कर पद्धति बदल कर अधिक से अधिक कर द्वारा धन एकत्र किया गया। अधिक उपयोगी यही तरीका रहता है कि जनता पर इतना अधिक कर लगा दिया जाय जितना कि वह दे सके, अर्थात् जिसके बोझ से उद्योग धन्धे न बंद हो जाँय। भारी कर से लाभ तो यह होगा कि बाजार में रुपये की बाढ़ नहीं आयेगी परन्तु बहुत अधिक भारी कर से रूपये की बाजार में एक दम कमी हो जाने का डर है। इसका भी उद्योगधन्धों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे बचाव के लिये कर्जे को जल्दी से जल्दी चुका देने का प्रबन्ध करना चाहिये। हो सके वहां तक तो कर में से सीधे ही, अन्यथा एक उऋण–निधि बनाकर यथाशीघ्र ऋण उड़ा देना ही सबसे चतुर तरीका है।

३. अब तीसरी स्थिति जिसमें पूँजी द्रव्य का उपयोग किया जा सकता है वह है कुछ स्थायी आवश्यकताओं के लिये । उदाहरण के तौर पर कभी कोई आकस्मिक घाटा आ उतरा, अचानक फसल मारी गई, या वसूलयाबी की कोई मद अचानक मर गई, तो उस हालत में एक छोटी रकम के लिये सारी कर–पद्धति में हेर फेर करने के स्थान पर पूंजी से वह घाटा पूरा कर दिया जाता है । परन्तु यह बात आकस्मिक घाटे ही की अवस्था में लागू करनी चाहिये । बार बार घाटे आते रहें, या साल बसाल घाटा आगे बढ़ता जाता हो तो फिर बजट में ही फेरफार करना उचित है ।

ऐसी अवस्थाओं के लिये एक निधि बनाये रखना हमेशा लाभ कर रहता है । अल्पकालीन ऋण भी उपयुक्त होंगे ।

अस्थायी पूंजी उपयोग

यदि किसी वर्ष बजट के बाद आय के साधन कम आयशील हो गये हों या नष्ट हो गये हों तो अगले बजट तक, जबकि नये साधन बनाये जा सकते हैं, आय का कोई प्रबन्ध करना ही पड़ेगा । उस अवस्था में भी पूंजी से अस्थायी तौर पर व्यय किया जा सकता है ।

४. चौथी अवस्था, जबकि पूँजी से व्यय उठाया जा सकता है, है कुछ विशेष परिस्थितियों की । जब सरकार को कोई ऐसे कार्य करने हों जिनसे कोई आय नहीं हो सकती अथवा जिनसे उपयोगिताओं को भारी सुविधा और लाभ होंगे और जिनमें चाहें तो नगरपालिकाएँ भी केन्द्रीय सरकार का हाथ बटा रही हों तथा जिनमें सार्वजनिक धन लगना है । जैसे बन्दरगाह बनाना, अर्ध सरकारी कम्पनियों के काम भी इसी में आ सकते हैं, जैसे बिजली कम्पनियां जिनको शहरों के प्रकाश, रेल, ट्राम आदि का ठेका दिया गया हो । रूस, ब्रिटेन, अमेरिका आदि में तो सारी पूंजी ही बहुधा सरकार की होती है और साथ ही पूरा नियंत्रण भी ।

कुछ अवस्थाओं में सारी अथवा अंशत: पूँजी सरकार की होती है और वह व्यक्तियों को ठेका दे देती है जैसे भारत में नमक उत्पादन, पहाड़ और झील दोनों से । स्वेज् नहर की कम्पनी में भी सरकारी और व्यक्तिगत दोनों प्रकार की पूंजी लगी है । आँग्ल–फारिस तेल कम्पनी भी इसी तरह का उदाहरण है ।

इस प्रकार सरकारी व्ययों के सम्बन्ध में यह विचार निश्चित ही है कि जो असाधारण व्यय हों और जिनकी रकम इतनी बड़ी हो कि वार्षिक आय में से कई वर्षों में भी पूरी न हो सके, उसे पूंजी में से व्यय करना चाहिये, अर्थात् ऋण लेकर अथवा पूर्व एकत्र रकम में से । बाकी सभी व्यय साधारण वार्षिक आय में से ही करने चाहियें । असाधरण और साधारण व्ययों का भेद और अधिक स्पष्ट करने के लिये

एक प्रत्यक्ष उदाहरण हम देखेंगे। कनाडा के बजटमें 'साधारण' में शामिल हैं—ऋण-देय, प्रान्तों को अर्थ सहायता, आगम वसूली व्यय, रक्षा, जीवन भत्ते, असैनिक सरकारी व्यय जन-कार्य (Public works) तथा अन्य और 'असाधारण' ये हैं—पूंजी व्यय, रेल अर्थ—सहायता, युद्ध ऋण, व्यय बट्टा और युद्धोत्तर व्यय। हमारे देश में स्वतंत्रता के बाद से पूंजी—बजट में निम्न मदें शामिल हैं——

रेलें, औद्योगिक विकास, मुद्रा तथा मुद्राशालाएँ, रक्षा—पूंजी रोपन, राज्यों को विकासार्थ अनुदान (इंग्लैंड में पेंशनें), स्थायी ऋण चुकाव, राज्यों को अग्रिम धन, अन्य धन और अग्रिम, अन्य सभी मदें वार्षिक आय में से पूरी की जाती हैं। वैसे किसी भी मद का भारी खर्च पूंजी से हो सकता है।

कर आय से

कर आय से भारत में स्वतंत्रता के बाद से इस ओर एक नई प्रवृत्ति आरम्भ हुई है। पूंजी व्यय के लिये भी वार्षिक आय को बढ़ाया जा सकता है। बजट का घाटा पूरा करने के लिये ही नहीं बल्कि पूंजी की कमी को भी दूर करने के लिये अधिक करों द्वारा आय की जाती है। सन् १९५१—५२ में अर्थ मंत्री ने एक वाण से दो चिड़ियाँ मारीं। अकेला रेल का भाड़ा ही इतना बढ़ाया कि उससे १९१००००००) उन्नीस करोड़ दस लाख की आय अधिक हो गई। यह रेलों में सुधार के लिये नहीं काम आई बल्कि सरकार के पूंजी बजट में शामिल की गई। केन्द्रीय बजट में ५.५४ करोड़ का घाटा था। पर इतना कर लगाया गया कि २६.१० करोड़ की बचत हो गई और पूंजी बजट को मदद मिल गई।* उस बात को देखते हुए यह कोई कट्टर नियम नहीं बनाया जा सकता कि अमुक व्यय चालू आय से ही हो। एक सामान्य नियम ही हो सकता है जैसा कि हम पहिले विचार कर चुके हैं।

भारतवर्ष में अकाल तो लगभग हर वर्ष कहीं न कहीं पड़ ही जाता था अतः यहाँ इसका व्यय वार्षिक बीमा के रूप में बंधा था और आगम में से व्यय किया जाता था। हां यदि व्यय इससे ऊपर किसी वर्ष आवश्यक हो पड़ता तो फिर पूँजी को टटोला जाता था। बाकी सब व्यय सात्रारण वार्षिक कर आय से किये ही जाते हैं।

लोकव्यय और राष्ट्रीय आय

यद्यपि इस विषय का अधिक सम्बन्ध लोक आय अर्थात् कर—आगम से है फिर भी व्यय और राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध भी लोकवित्त को समझने में सहायक होता है।

---

* Public finance, its theory & working in India by R.N. Bhargava p.—188

राष्ट्रीय आय को अध्ययन करने का पहला गम्भीर प्रयत्न स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी ने किया था, उन्होंने अपनी अंगरेजी पुस्तक "भारतीय दरिद्रता और अ–ब्रिटिश शासन' में भारतीय आय का १८६७–७० के सरकारी अंकों के आधार पर मोटा हिसाब जोड़ कर प्रति व्यक्ति २०) बीस रुपया निकाली, डाक्टर वी. के. आर. वी. राव, डिग्वी, लार्ड कर्जन आदि ने अपना अपना अन्दाज लगाया। स्वतंत्रता के बाद भारतीय सरकार ने एक कमीशन नियुक्त किया प्रोफेसर महालनोबिस की अध्यक्षता में। श्री राव और प्रोफेसर डी. आर. गाडगिल भी उसके सदस्य थे। उन्होंने गत वर्ष फरवरी में अपना अध्ययन फल प्रकाशित किया। उनकी राय में भारत की राष्ट्रीय आय ८६५० करोड़ रुपये है और यह प्रति व्यक्ति लगभग २४७ रु. वार्षिक आय बैठती है। भारतीय आयोजन समिति ने यह आय मोटे तौर पर ९००० करोड़ रुपये मानी है। सरकारी आय ४३६ करोड़ रुपये है। यह व्यय राष्ट्रीय आय का लगभग २० वाँ भाग है। प्रति व्यक्ति सरकारी व्यय १२ रु० ८ आ० है।

इस प्रकार यों तो राष्ट्रीय आय का बीसवाँ भाग व्यय होना कोई अधिक नहीं है, परन्तु उसका उपयोग पूरा और सर्वोत्तम हो यही आवश्यकता है।

---

* Indian Economics by Jathar & Beri Vol II—p. 135

लोक-आय

८

कर योग्यता

प्रत्येक सरकार के संचालन के लिये धन की आवश्यकता होती है। देश का सबसे बड़ा और सबसे शक्तिशाली संघ सरकार होती है। उसके काम बहुमुखी होते हैं और सम्पूर्ण जनता पर प्रभाव डालते हैं। प्रत्यक्ष है कि ऐसे संघ के लिये धन की आवश्यकता भी सबसे अधिक होगी।

यह धन कहाँ से आता है ? प्राचीन काल में राजा लूट और 'कर' दोनों ही से अपना काम चलाता था आज भी लूट है तो, किन्तु अब उसके दिन अंतिम हैं। संसार से युद्ध अब हमेशा के लिये उठ जाने के लक्षण उत्पन्न हो रहे हैं। आततायी अब असली रूप में उघाड़ दिये गये हैं। बरट्रण्ड रशल के अनुसार आततायी की शक्ति का आवरण उघाड़ दिया जाय तो उसकी शक्ति ही समाप्त हो जाती हैं क्योंकि जन-साधारण के सामने उस हउवे का पर्दाफ़ाश हो जाता है।

अब सरकारी आय का साधन लूट समाप्त होकर 'कर' रह गया है। परन्तु एक नया साधन इधर विकसित होता जा रहा है, वह है जनकल्याण के कार्यों द्वारा आय। सरकारें अब देश की जनता की अर्थ व्यवस्था को सार्वजनिक ढंग की बनाकर जनता के पारस्परिक संघर्ष को मिटाकर उसमें सहयोग उत्पन्न कर रही हैं और इस प्रकार वैयक्तिक अर्थ व्यवस्था से बढ़कर मनुष्य समाज सामूहिक अर्थ-व्यवस्था पर आ रहा है। यह प्रत्येक अर्थशास्त्री जानता हैं कि वैयक्तिक तौर पर अलग अलग किये हुए असंबद्ध उत्पादन की अपेक्षा सामूहिक सम्मिलित उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन बहुत ही अधिक होता है।

इस जन-कल्याण कार्य सम्बन्धी नये विकास मे आय का कोई ठिकाना नहीं। इस मद का विकास वैयक्तिक व्यवस्था में बहुत कम हो सकता है। वास्तव में लग-भग हो ही नहीं सकता। इसलिये भी कर की आवश्यकता रहती है और वही मुख्य साधन रहता भी है। ऋण भी ले लिया जाता है पर अंत में वह चुकाया जाता है कर से ही। कुछ सार्वजनिक व्यापारी ढंग के कार्य कर लिए जाते हैं जिनका माल या सेवा अच्छे मूल्य पर जनता को बेच कर दाम वसूल किया जाता है जैसे रेल, बिजली आदि।

इस प्रकार आज की व्यवस्था में, जो भारत में है और जिसे शुभेच्छु अर्थ व्यवस्था(welfare economy)कहा जा रहा है मुख्य आधार 'कर' आय ही है।

कर योग्यता का अर्थ

बजट बनाते समय सबसे पहला प्रश्न यही होता है कि कर कितना लगाया जाय। एक ओर तो सरकारी आवश्यकताओं के आधार पर प्रश्न हल होता है परंतु दूसरी ओर इस बात पर विचार करना पड़ता है कि बजट के प्रभाव क्षेत्र की जनता कितना कर दे सकती है। जनता की कर देने की योग्यता की नाप की जाती है। विदेशी सरकारें तो कर योग्यता का अर्थ यह लगाती हैं कि किसी जनता को कितना अधिक से अधिक निचोड़ा जा सकता है।

शीराज ने बताया है कि साधारण समय में सरकारें कुल राष्ट्रीय आय का, सरकारी आय का नहीं, २० प्रतिशत तक व्यय करती हैं और युद्ध आदि असाधारण अवस्था में ४० प्रतिशत तक कर रूप में ले लिया जाता है। कुछ लोगों का तो यह विचार है कि धन को जनता की जेब में फलित होने के लिये नहीं छोड़ना चाहिये।

कुल तथा सापेक्ष कर योग्यताएँ

कर योग्यता में दो रूप उत्पन्न हो गये हैं। गत महायुद्धों में जो देश हारे उनसे बिजयी देशों ने क्षतिपूर्ति माँगी और वसूल की। क्षतिपूर्ति को चुकाने और अपनी सरकार को चलाने के दो काम आ गये। क्षतिपूर्ति का बोझ एक के बजाय कइयों पर भी पड़ा और विजयी राष्ट्रों की कुल क्षतिपूर्ति का प्रश्न आया। कौन देश कितना दे सकता है, किससे कितना वसूल किया जा सकता है यह समस्या उत्पन्न हुई। अतः 'कुल या अखंड कर योंग्यता और सापेक्ष कर योग्यता ये दो रूप सामने आये। सापेक्ष कर योग्यता का अर्थ तो केवल तुलनात्मक कर योग्यता है। एक देश या प्रान्त दूसरे की अपेक्षा कितनी अधिक या कम करयोग्यता रखता है। आज इसका महत्व भी समाप्त हो गया है और भारत में तो केवल प्रान्तीय कर योग्यता का ही प्रश्न इस रूप में कुछ करो के संबंध में अथवा कुछ वित्त नियोजनों में उठ सकता है और इसका प्रश्न कुल कर-योग्यता का अध्ययन करके ही हल होगा।

कर योग्यता की नाप

सर जोशिया स्टाम्प के अनुसार कुल कर योग्यता का अर्थ है वह अधिकतम धन जो किसी देश की जनता सरकार को दे सकती हो, बिना वास्तव में दुखी हुए, बिना कुचले हुए जीवन स्तर तक गिरे, और अर्थ-व्यवस्था को बहुत अधिक बिना बिगाड़े। साम्राज्यवादी अंगरेज सत्ता के भारत-स्थति शिक्षक फ़िण्डले शीराज ने भार-

तीय विद्यार्थी को धोखा देने के लिये जनता को निचोड़ने के शब्द को रेशम में लपेट दिया और उसका नाम अनूकूलतम (optimum) रख दिया और लूट का नाम भलाई (welfare) रख दिया। वह रेशमी शब्दों में कहता है "तात्पर्य यह है कि कुल कर योग्यता निचोड़े जा सकने की अन्तिम सीमा है। इस परिभाषा से देश की करदात्री जनता की मनःस्थिति के अनुसार लूट और अन्य विषादजनक भाव उत्पन्न होंगे", इसलिये कहता है कि "राष्ट्र की अनूकूलतम कर योग्यता है अधिकतम कर धन जो वसूल किया जा सके और उसकी भलाई के लिये खर्च किया जा सके।" *

कसौटी, शीराज के अनुसार यह है कि देश के अन्दर की आय और बाहर से प्राप्त आय में से उपभोग द्वारा हुआ व्यय काटकर जो धन बाकी बचा वही कुल कर योग्यता है। उत्पादन में से न्यूनतम उपभोग व्यय, जिससे कि प्रति व्यक्ति उत्पादन स्तर वही बना रहे, और उपभोग का स्तर भी कई सालों तक न गिरे, काटकर बाकी बचा हुआ धन, उत्पादन की पूंजी और भावी जन संख्या की वृद्धि के उपयोग का भी ध्यान रखकर बचत का धन निकालना चाहिये।

कर योग्यता के आधार

कर योग्यता पर डाल्टन तो विचार ही नहीं करना चाहता। उसकी राय में तो इस शब्दाडम्बर को उड़ा ही देना चाहिये, शीराज के अनुसार कर योग्यता निम्नांकित बातों पर निर्भर है।

१. देश की जनसंख्या
२. देश में सम्पत्ति वितरण
३. कर वसूली के तरीके
४. करोद्देश्य अर्थात् कर धन को व्यय करने का ढंग
५. कर दाता की मनस्थिति
६. आय का स्थायित्व
७. मुद्रा स्फीति (inflation)

---

* Briefly absolute taxable capacity is the limit of squeezibility. This definition may sometimes conjure up the thought of rack and other unpleasant ideas depending on the psychology of the tax payers in the country concerned. It is the optimum taxability of a nation, the maximum amount of taxation that can be raised and spent to produce maximum economic welfare in that community.—The Science of Public Finance.— F. Shiraz Vol. I– P. 229

(१) यदि राष्ट्रीय आय वही रहे तो जनसंख्या कम होने पर कर योग्यता अधिक होगी।

(२) यदि सम्पत्ति देश में बिल्कुल बराबर वितरित है तो कर योग्यता कम होगी पर यदि देश में भारी असमानता है तो उच्च स्तर की श्रेणियों की कर योग्यता अधिक होगी और कुल कर योग्यता अधिक सिद्ध होगी।

(३) कर के यदि कई प्रकार हैं तो भी कर अधिक वसूल किया जा सकेगा।

(४) करोद्देश्य का भी कर में बड़ा हाथ रहता है। यदि कर अनुत्पादक कार्य जैसे युद्ध, बाहरी ऋण–अदायगी आदि में व्यय होता है तो कम वसूल होगा पर यदि उसको आन्तरिक ऋण अदायगी तथा जन कल्याण के कार्यों में लगाना है जिनसे आय भी हो तो अधिक कर वसूल होगा।

(५) जनता की मनस्थिति भी बहुत अर्थ रखती है। जिन व्यक्तियों में राष्ट्रीय भावना गहरी है वे कितना भी कर भार चुपचाप सह लेते हैं परन्तु अशिक्षित लोग जिनमें नागरिक भावना नहीं घर कर पाई, वे थोड़े कर से भी उबल उठते हैं।

६– जनता की आय यदि स्थायी है तो भी वह अधिक कर-भार सह सकती है, किन्तु अनिश्चित आय वाला उसे बेकारी की अवस्था के लिए बचा रखना चाहता है।

७– मुद्रास्फीति का कीमतों पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि वेतन और मजदूरी कीमतों के बढ़ने के साथ बढ़ती रहें तो जनता की बचत-योग्यता बनी रहेगी पर अक्सर मजदूरी और वेतन मुद्रास्फीति के समय अनुपाततः नहीं बढ़ते और फलतः उनकी कर योग्यता एकदम घट जाती है।

मेहता और अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'पब्लिक फाइनेन्स–थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस' में ऐसी ही सात बातें कर योग्यता की नाप करने में सहारा देने वाली गिनाई हैं। करयोग्यता की नाप के ऐसे जरिए बताने वाले ये लोग सम्भवतः यह सोचकर नहीं चलते कि सरकार को यह देखना है कि जनता की समृद्धि बढ़े, बल्कि उसे कैसे ठगा जाय यही ध्यान में रहता है। मेहता और अग्रवाल ने लिखा है कि यदि सम्पत्ति का वितरण अधिक ऊँचा नीचा रहेगा तो अधिक कर योग्यता होगी, और बराबर बँटी होगी तो सीमान्त उपयोगिता बढ़ जायेगी और कुल उपयोगिता अधिक होगी फ़लतः करयोग्यता घट जायगी, तो फिर वे जन-साधारण को दरिद्रावस्था में ही रखना चाहते हैं क्या ? बराबर बटने से उत्पादन शक्ति बढ़ती है, वे इसे भूल जाते हैं और उससे कर-योग्यता भी बढ़ेगी यह बात वे सोच ही नहीं सकते। और आश्चर्य देखिए, वे कहते हैं कि यदि बच्चे और बहुत बूढ़े लोगों की संख्या अधिक होगी तो करयोग्यता अधिक होगी परन्तु जब बढ़ते हुए युवक अधिक होंगे तो करयोग्यता कम होगी।

सम्भवतः ये अँगरेज अर्थशास्त्री मारशल से भूत से पीछा नहीं छुड़ा सके हैं जो कभी भी 'अन्य बातें वैसी ही रहें' बिना सोच ही नहीं सकता था। सम्भवतः ये लोग परिस्थिति की वास्तविकता को खो बैठते हैं। युवक अधिक उत्पादक होता है यह उनके ध्यान में नहीं है। वे तो यह भी कहते हैं कि युवक सम्पत्ति का उपभोग कम करते हैं और फिर भीं उक्त नतीजा निकालते हैं। परन्तु यह सम्भवतः छापे की भूल होगी।

मनोवैज्ञानिक करयोग्यता का जिक्र करते हुए आप कहते हैं कि बहुधा धनी को धन के द्वारा आनन्द की सीमा अधिक होती है। अतः उसकी करयोग्यता कम होती है। सीमान्त उपयोगिता के ये योद्धा यहाँ उसी को भूल गये। वे यहाँ तक चाहते हैं कि सरकार अपनी व्ययशक्ति द्वारा जनता की मानसिक इच्छा ऐसी वना दे कि वह नीचा जीवन स्तर पसंद करने लगे तो कर-योग्यता बढ़ जायगी। सम्भवतः ये बातें अँगरेजी काल में लिखी गई थीं, हम इससे अधिक और क्या कहें। सरकारी व्यय जनता का जीवन स्तर गिराने के लिए नहीं उठाने के लिए होना चाहिए।

न्यूनतम, अधिकतम, अनुकूलतम

आपने कर-योग्यता का वर्गीकरण करके तीन मुख्य वर्ग किए हैं—

१— न्यूनतम कर-योग्यता

२— अधिकतम कर-योग्यता

३— अनुकूलतम कर-योग्यता

इनमें सिवाय तुलनात्मक भाव के, कर-योग्यता की नाप का कहीं नाम नहीं है। सर जोशिया स्टाम्प के 'वास्तव में दुखी तथा कुचले हुए' शब्दों के अर्थ उनकी समझ में नहीं आते।

साम्राज्यवाद और वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था को अक्षुण्ण मानकर चलने वाले अर्थशास्त्रियों का यह मत इस शताब्दी के पूर्वार्धीय भारत के लिए ही उपयुक्त कहा जा सकता था, पर आज हम आज़ाद हैं। हम यह बारबार ध्यान दिलाना चाहते हैं कि हम आज अपने भाग्यविधाता स्वयं हैं। जिस राष्ट्रीय भावना और नागरिक समझ पर शीराज सन्देह करता है वह निश्चय ही अंगरेज शोषक शासकों के लिये हमारे हृदय में असम्भव थी, पर वह आज भरपूर है। कर-योग्यता की नाप कुछ और ही है। यदि देश का शोषण और विषम वितरण बन्द कर दिये जायँ तो कर योग्यता राष्ट्र भर की मात्र उत्पादन शक्ति पर निर्भर होगी। जितना ही हम अधिक आर्थिक उत्पादन कर सकेंगे उतना ही अधिक हम उपभोग से बचा सकेंगे, उतना ही अधिक हम कर दे सकेंगे। आज कर का भी अर्थ बदल चुका है। कर वह धन है जो स्वार्थी शासक या जालिम सरकार डंडे के जोर से जनता से छीनती है और उसे जनता की

भलाई में लगाने का कोई प्रश्न नहीं । अतः कर की सीमा और रूप अब बदलेंगे और मात्र सार्वजनिक उत्पादन तथा वितरण को व्यवस्थित करने के लिये और उसमें पूंजी के रूप में लगाने के लिये 'उत्पादनदेय' रह जायगा ।

यदि लोकव्यय सार्वजनिक सम्मिलित वैज्ञानिक उपभोगार्थ उत्पादन के लिये किया जायगा तो उत्पादन बहुत अधिक बढ़ेगा और मशीन तथा औजारों की अधिकाधिक उत्पादन शक्ति के आविष्कारों के साथ दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही चलेगा तो वह उपभोग के स्तर से बहुत अधिक हो जायगा, अथवा यों कहा जाय कि हम उपभोग के स्तर को उत्पादन आवश्यकताओं का ध्यान रख कर कुछ कम बढ़ायेंगे और यदि आज ही के उपभोग स्तर पर रहें तो कर योग्यता सम्हाले नहीं सम्हलेगी । एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि शोषक देशों की सम्पत्ति गणना उनके उत्पादन की द्योतक नहीं है, अतः उनकी कर योग्यता से भारत की तुलना करना समीचीन नहीं है ।

भारत की कर योग्यता

हमारे देश की कर योग्यता के सम्बन्ध में अंगरेज शासक तो यही सोचते थे कि भारतीय दरिद्र सही परन्तु भारत में गड़ा हुआ धन बहुत पड़ा है अतः इनकी कर योग्यता असीमित हैं ।* सर जोशिया स्टाम्प के अनुसार कर योग्यता की नाप है कुल उत्पादन और कुल उपभोग का अन्तर । × भारतीय कर योग्यता की नाप का एक नमूना जठ्ठार और बेरी की पुस्तक इंडियन इकनोमिक्स जिल्द २ पृष्ठ ५४३ से उद्धृत किया जाता है ।

इससे आपको पता चलेगा कि कर-योग्यता की नाप करने के लिये कुल आय को दो भागों में बाँट दिया गया है । कृषि से होनेवाली आय तथा अन्य साधनों से होनेवाली आय, इस प्रकार कुल आयका अनुमान लगालिया गया है । इसमें से उपभोग के लिये न्यूनतम धन छोड़ा गया है । न्यूनतम का अर्थ भारत में तो किसी जीवन स्तर के आधार पर नहीं बल्कि निचोड़े जा सकने की अन्तिम सीमा तक समेट दिया गया गया है । कुछ ढिलाई देने के लिये बीज, खाद और पूँजी विनियोग के नाम पर जरा सी रकम छोड़ दी गई, बस बाकी कर योग्यता समझ ली जाती है । उसकी उत्पादन-शक्ति की वृद्धि की ओर अथवा वह उतनी ही बनी रहे इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता ।

* सर वाल्टर लेटन, जठ्ठार बेरी द्वारा उद्धृत इण्डियन इक्नोमिक्स, जिल्द २ पृष्ठ ५४२

× वही, पृष्ठ ५४२

निम्नांकित अंक अंगरेजी राज्य के समय के हैं और केवल वृटिश भारत के संबंध में हैं। ये अंक पुराने हैं। केवल इसलिये उद्धृत किये जा रहे हैं कि उन दिनों कर योग्यता की नाप कैसे की जाती थी यह मालूम हो जाय।

वृटिश भारत की कर-योग्यता

(लाख रुपये)

विवरण	१९१०-११	१९२०-१
१ आय		
कृषि	१४१२००	१७१५००
अ—कृषि	५३०००	८८३००
कुल आय	१९४२००	२५९८००
२ न्यूनतम उपभोग	१२१४००	२२२०००
३ बीज और खाद	१४१००	१७२००
४ पूँजी-नवीनीकरणार्थ		
और कुछ नया विनियोग	२५००	४५००
५ कर-योग्यता [१-(२+३+४)]	५६२००	१६१००
६ कर-आगम		
केन्द्रीय + प्रान्तीय सरकारों की	७९८३	१३०१५
नगरपालिकाओं + जिला परिषदों की	७१७	११६४
कुल	८७००	१४१७९
७ आन्तरिक ऋण पर व्यय		
केन्द्रीय + प्रान्तीय सर०	५६१	२१०४
नगर + जिला	१७०	२३४
कुल	७३१	२३३८
८ वास्तविक कर (६-७)	७९६९	११८६१
९ शेष (५-८)	४८२३१	४२३९

यह बात थी अंगरेजी शासनकाल की। स्वतंत्रता के बाद भारतीय करयोग्यता की नाप अभी ढंग से नहीं हो पाई है। सन् १९४९-५० में भारतीय सरकार द्वारा देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की गई थी जिसकी रिपोर्ट गत वर्ष (१९५४) फरवरी में प्रकाशित हुई है। इसके अनुसार देश की कुल वार्षिक आय लगभग ९००० करोड़ रुपये है। यही अंदाज पंचवर्षीय आयोजन समिति का भी है। इस समय कुल आय, केन्द्रीय सरकार, प्रांतीय सरकारों तथा नगरपालि-

काओं (म्युनिसिपलटी आदि) की मिलकर उसके ८ प्रतिशत के लगभग है * यह अन्य देशों के प्रतिशतों के देखते हुए अधिक नहीं समझा जाता। बैस्टेबल की राय में राष्ट्रीय आयका १५ प्रतिशत कर में लेना अधिक है। परंतु प्रोफेसर कोलिन क्लर्क कई प्रगामी देशों का अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि तानाशाही जहाँ नहीं है ऐसे देशों में २५ प्रतिशत कर की सीमा होती है। स्वीडन, अँगरेजी कॉमनवैल्थ के जैसे देशों में जहाँ सम्पति का विकीर्णन अधिक असमान नहीं है, यह प्रतिशत कम ही हो सकता है, ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका की तुलना में। अन्य देशों की तुलना में भारत की प्रतिव्यक्ति आय भी बहुत कम है।

देश	राष्ट्रीय आय	जनसंख्या
भारत	९००० करोड़ रुपये	३५.६ करोड़
कनाडा	१७२३ कनाडी डालर	१.३ करोड़
आस्ट्रेलिया	३१० पौण्ड आस्ट्रेली	.८ ,,
ब्रिटेन	११५३ करोड पौण्ड	५.० ,,
संयुक्त राज्य अमेरिका	२७६०० करोड डालर	१४.७ ,,

उपरोक्त अंक १९५१-५२ के आस पास के हैं। इनमें प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बहुत ऊँची है, अतः इनकी कर योग्यता बहुत ऊँची है। ब्रिटेन में गत १९५१-५२ में कुल 'कर' मिल कर कुल राष्ट्रीय आय का ४१ प्रतिशत था।

इस दृष्टि से भारत की कर योग्यता अभी बहुत है। कुछ अर्थ शास्त्रियों का मत है कि कर-योग्यता की सीमा आ गई है। १९५०-५१ में श्री जोनमथाई ने वित्त-मंत्री की हैसियत से यही बात प्रगट की थी। परंतु वर्तमान वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने १९५२ में कहा था कि मैं यह नहीं मानता कि भारत में कर का भार बहुत बोझिल और जालिम है क्योंकि हमें देश की आवश्यकता और ऋण प्राप्ति की सीमाओं का ख्याल रखना पड़ता है।

परंतु इतना हम मानते हैं कि आज की उत्पादन और वितरण व्यवस्था की स्थिति में तो इतना कर भार असह्य हो ही रहा है परंतु यदि उत्पादन बढ़ाया जाय तो कर-योग्यता बढ़ती ही चली जायगी, यदि बढ़ा हुआ उत्पादन - फल कहीं और न चला जाय।

---

* Public Finance by R. N. Bhargawa—P. 199

९

लोकआय की रूपरेखा

लोक आय का अर्थ डाल्टन के अनुसार दो प्रकार से लगाया जाता है। एक तो वह सम्पूर्ण 'धन प्राप्ति' जो सरकार को सभी जरियों से कुल मिला कर होती है, जिसको अंगरेजी में अब तक रिसीप्टस (Receipts) कहते रहे हैं। इसमें 'कर' तथा सरकारी व्यापार जैसे रेल इत्यादि द्वारा प्राप्त हुआ धन तो गिना ही जाता है पर साथ ही जो ऋण के रूप में धन प्राप्त किया गया हो वह भी सम्मिलित किया जाता है। किसी प्रकार से, किसी भी साधन से, किसी भी रूप में सरकार को प्राप्त धन 'लोक-आय' में मान लिया जाता हैं और यह विस्तृत अर्थ कहलाता है।

प्राप्ति और आगम

परन्तु वास्तव में जितना सब धन सरकार को प्राप्त होता है वह सारा का सारा आय नहीं होता। उदाहणार्थ ऋण लिया हुआ धन आय नहीं है। वह 'प्राप्ति' अवश्य है, परन्तु आय नहीं। ऋण किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिये विदेश अथवा आन्तरिक जनसमूह से लिया जाता है। वह काम हो गया, फिर वह ऋण व्याज समेत चुकाना पड़ता है। अतः वह आय नहीं, आय तो केवल कर आदि ऐसी प्राप्तियाँ हैं जिन्हें फिर सरकार को वापिस देना नहीं पड़ेगा। यह 'लोक आय' का दूसरा अर्थ है जो वास्तव में सच्चा अर्थ है। इसीलिये इन दोनों अर्थों में भ्रम होने से बचने के लिये प्रथम अर्थ के लिये अंगरेजी में 'रिसीप्ट्स' शब्द का प्रयोग होता है और दूसरे अर्थ के द्योतन के लिये 'रेवेन्यू'। हम इन अर्थोंमें क्रमशः 'प्राप्ति' और 'आय' या 'आगम' प्रयोग करेंगे।

प्राप्ति के रूप

'प्राप्ति' में तो 'आय' के अतिरिक्त ऋण, युद्ध सामग्री की विक्री का दाम, और प्रेस में नये छपे नोट भी सम्मिलित होते हैं।

लोक आय को समझने के लिये उसके रूपों पर ध्यान देना होगा। 'कर' क्या है? अन्य आय साधन क्या हैं? इन बातों पर विचार करना होगा। 'कर' व्यक्ति

द्वारा सरकार को दिया गया वह अनिवार्य भुगतान है, जिसे सरकार बिना किसी व्यक्ति विशेष के फायदे के, सार्वजनिक हित में व्यय करती है।× प्रोफ़ेसर टाउज़िग का कथन है कि सरकार द्वारा 'कर' के रूप में माँगे हुए भुगतान तथा अन्य प्रकार मांगे हुए भुगतानों में तात्विक अन्तर यह है कि 'कर' के रूप में माँगी हुई रकम के बदले में सरकार सीधे ही कर दाता को कुछ नहीं देती। कर के अतिरिक्त कुछ ऐसी सरकारी माँगें हैं जिनके बदले में उस मांग के भुगतान करने वाले को कुछ मिलता है, जैसे रेल जैसी सेवा की लागत आदि। इस प्रकार के भुगतान तो व्यक्ति अपनी इच्छा से करता है अपनी आवश्यकता हो तो। पर 'कर' का भुगतान करना अनिवार्य होता है।

प्राप्ति के साधनों को संक्षेप में इस प्रकार गिनाया जा सकता है—

१ कर——'कर' के रूप में

२ ख़िराज और क्षति पूर्तियां*–युद्ध जनित या अन्य

३ अनिवार्य ऋण–जैसे यहूदियों से यूरोप के राजा लोग बलात लेते थे, अब यह चाल नहीं रही।

४ जुर्माने—— न्यायाधीशों द्वारा

५ निष्क्रिय– स्वामित्व की जायदाद से आय जैसे इंगलैंड सरकार को स्वेज़ नहर के शेयरों से आय

६ सरकारी उद्योग धन्धों द्वारा आय जिनका विक्रय मूल्य एकाधिकार के आधार पर 'स्पर्धा मूल्य' से अधिक न रक्खा गया हो।

७ जन्म-मरण लेखा आदि कामों की आय– जो व्यापारी ढंग की सेवा नहीं है।

८ स्वेच्छा–ऋण, दान द्वारा प्राप्ति

९ एकाधिकारी शक्ति द्वारा सरकारी उद्योग धन्धों का स्पर्धा– मूल्य से अधिक दाम वसूल करने से आय

१० विशेष कर माँग

११ नये नोट छाप कर सरकारी विशेष व्यय पूरे करना

१२ स्वैच्छिक अनुदान

सरकारें ऐसे अनेक काम करती हैं जो उद्योग और व्यापार हैं और उनके दाम बजार भाव से अधिक लेती हैं। उन दामों में साधारण मुनाफा तो शामिल रहता ही है पर साथ ही सरकारी एकाधिकार के जोर पर कुछ अधिक भी जोड़ दिया जाता है। वह छिपे हुए कर के रूप में वसूल हो जाता है। विशेष कर माँग के बारे में

× श्री सुधीरकुमार मुकर्जी– अर्थशास्त्र के मूलाधार——पृष्ठ ५०५

* Tributes and Indemnities

प्रोफेसर सैलिगमैन की राय है कि अगर किसी सरकारी मरम्मत या निर्माण द्वारा किसी की जायदाद का मूल्य बढ़ जाता हो तो उस बढ़ोतरी के आधार पर उस मिल्कियत से कर माँग करनी चाहिये । उदाहरण के लिये कोई नई सड़क निकालने या रेल्वे स्टेशन बनाने से पास के घरों या कारखानों आदि का मूल्य बढ़ सकता है । उनसे उस कार्य की लागत में हाथ बटाने के रूप में कर माँग की जा सकती है ।

नये नोट छापकर सिक्कों के रूप में चला देना भी कर ही है, क्योंकि उससे कीमतें लगभग उसी अनुपात में बढ़ जाती हैं ।

स्वैच्छिक अनुदान तो बहुत कम ही आते हैं । कुछ लोग बेईमानी से टैक्स बचा जाते हैं और बाद में कुछ रुपया 'ईमान-द्रव्य' × के नाम से थोड़ा सा सरकार को दे देते हैं । पर ऐसा बहुत कम होता है ।

जुर्माने तथा कर में अन्तर

जुर्माने और कर में अन्तर है । जुर्माना तो जुर्म की सजा के रूप में किया जाता है । और धीरे धीरे उसकी कुल आय घटती जाती है क्योंकि वह आय बढ़ाने के लिये नहीं जुर्म को रोकने के लिये हैं और यही अपेक्षा की जाती है कि ये जुर्म फिर न हों इसलिये आय घटती ही है । स्विफ्ट के अनुसार जुर्मानों और आयात विशेष रोकने के लिये लगाये हुए तट कर द्वारा प्राप्ति के मामले में दो और दो चार तो नहीं ही होते, अकसर तीन से भी कम हो जाते हैं, अर्थात् आय घटती ही जाती है । कतिपय वस्तुओं के उपयोग और प्रयोग करने के लिये लगाये गये 'करों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है । उदाहरण के लिये मदिरा, तमाखू आदि पर लगाये कर ।

रोक थाम कर एक और रूप धारण कर लेता है जैसे साम्राज्यीय तरफ़दारी (Imperial Preference) इसमें एक श्रेणी के व्यक्तियों को विशेष सहूलियत दी जाती है औरों की तुलना में । अंगरेजी राज के दिनों में भारत में जो माल इंग्लैंड से आता था उस पर आयात-कर नहीं लगता था, या कम लगता था । यह 'साम्राज्यीय तरफ़दारी' थी । अंगरेजी माल के मुकाबले में जापानी माल पर तिगुना चौगुना तट कर लगा दिया जाता था, जमीन के मूल्य पर विशेषकर, खदानों पर, वार्षिक लाभ-कर (Royalties), युद्ध मुनाफों पर कर, गाढ़ी कमाई पर हल्का आयकर, मुफ्त की कमाई पर भारी आयकर आदि ।

वैयक्तिक और लोकवित्त व्यवस्थाएँ

वैयक्तिक वित्त व्यवस्था और लोक वित्त व्यवस्था की तुलना भी महत्वपूर्ण है । हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपनी वित्त व्यवस्था करता है । व्यक्ति अपनी आय को

× Conscience money.

पहले देखता है और उसके आधार पर ही अपने व्यय को नियंत्रित अथवा विस्तृत करता है, परन्तु सरकार की स्थिति भिन्न है। वह एक सार्वजनिक शक्ति से सम्पन्न कानूनी व्यक्ति है। उसके हाथ नीचे देश भर की सम्पत्ति और उत्पादन शक्ति हैं। उसकी लिखी हुण्डी या रुक्का सारे देश में द्रव्य के रूप में चल सकते हैं। उसको विदेशों मे भी ऋण मिल सकता है। अतः सरकार पहले अपने व्यय पर विचार करती है, और उसके आधार पर यह सोचती है कि कितनी आय अथवा 'प्राप्ति' का प्रबन्ध करे कि व्यय पूरा पड़ जाय। कभी कभी व्यक्ति की तरह सरकार को भी आय का ख्याल रखकर व्यय व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करने पड़ जाते हैं, अकाल, या युद्ध हानि की अवस्था में आय कम हुई तो कई व्यय की मदें हटा दी जाती हैं, या ऋण लेकर भावी अच्छी आय के आधार पर काम चला लिया जाता है। व्यय सरकारी बजट में कम करना बड़ा कठिन है, क्योंकि कुछ व्यय तो हमेशा होते ही रहते हैं। परन्तु फिर भी कुछ फ़ेर बदल तो आवश्यकतानुसार कर ही लिये जाते हैं।

सीमान्त उपयोगिता का मानसिक सिद्धान्त व्यक्ति के मस्तिष्क में तो काम कर सकता है कि विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं में पारस्परिक अन्तर कैसे और किस सीमा तक किया जाय किन्तु सरकारें ऐसा नहीं कर सकतीं। वहां तो प्रत्यक्ष नापजोख से ही काम चल सकता है। और इस काम में सहायता मिलती है, विभिन्न व्ययकारी विभागों की पारस्परिक खींचतान से, कोष और व्यय विभागों के तनाव से, निर्वाचित व्यक्तियों, संगठित स्वार्थों, समाचार पत्र सम्पादकों आदि प्रभावशाली व्यक्तियों के दबाव से।

व्यक्ति को तो इच्छा अथवा अनिच्छा से सबके संगठन में निश्चित समय तक निश्चित ढंग से काम करना ही पड़ता है, परन्तु सरकार इस प्रकार बँधी नहीं होती। तब भी सरकारों की कुछ जिम्मेवारियाँ, कुछ ठेके, अर्ध ठेके बँधे होते हैं और वे निबाहने पड़ते हैं।

भविष्य का ख्याल जैसे व्यक्ति को अपने बाल बच्चों के लिये रखना पड़ता है उससे भी अधिक सरकारों को रखना आवश्यक है। व्यक्ति और उसकी संतानें ५०, १०० वर्ष से अधिक की बात नहीं सोच सकतीं किन्तु जन–समाज तो अनन्त है। सरकारों को बांध, रेल, दर्रे, बन्दरगाह, पुल, नहर आदि बनाते समय अधिकसे अधिक लम्बे भविष्य पर ध्यान रखना आवश्यक है।

उत्तम 'लोक-श्राय' व्यवस्था

लोक–आय व्यवस्था राजनीतिज्ञों के लिये आज सबसे बड़ा सिर दर्द है। व्यय व्यवस्था से भी अधिक व्यआय वस्था जनता पर प्रभाव डालती है। सरकार का स्थायित्व ही उस पर निर्भर है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में 'स्टाम्पकर' ने सरकार को

उलट दिया था। फ्रांस में नमक कर की अव्यवस्था ने लुई सोलहवें का सिर उड़वा दिया। आज तो जनसत्ता का समय है, राजसत्ता का नहीं। लोकसभा में निन्दा का एक प्रस्ताव पास होते ही मंत्रिमंडल को गद्दी से उतर जाना दड़ता है। अतः सरकारी आय व्यवस्था भर्तृहरि के असिधारावृत से कम नहीं है। फिर भी योग्य राजनीतिज्ञ सुव्यवस्था करते ही हैं। अनुभव के आधार पर उत्तम व्यवस्था के कुछ लक्षण आविर्भूत हो चुके हैं, उनसे काफी सहारा मिल सकता है। लोक आय व्यवस्था में कुल मिलाकर नीचे लिखे चार गुण तो होने ही चाहियें——

समानता, निश्चितता, देय सुविधा, और वसूली की मितव्ययता। शीराज का मत है कि "यदि किसी आय व्यवस्था में वसूलयाबी के लिये बहु संख्यक अफ़सरों की आवश्यकता अनिवार्य हो, यदि कर से जी चुराना और हैरान गति सामान्य बात हो गई हों, यदि किसी श्रेणी विशेष का पक्षपात होने के कारण समानता का अभाव हो, और यदि व्यापार विगड़ता हो तो ऐसी व्यवस्था संतोषजनक नहीं कही जा सकती।" पर साथ में हम यह और जोड़ना चाहते हैं कि ऐसी कर व्यवस्था इस बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नहीं चल सकती जो देश के आर्थिक उत्पादन को आज के बैज्ञानिक ज्ञान तथा देश की श्रम शक्ति के अनुरूप अधिक से अधिक बढ़ाने और उत्पादन को वैयक्तिक श्रमानुसार वितरण में पूरा योग न दे।

लक्षए

क—आय व्यवस्था सुसंगठित प्रणाली के रूप में होनी चाहिये। उसके प्रत्येक भाग का, प्रत्येक पहलू का, हर दूसरे से गठित सम्बन्ध होना चाहिये। सब भाग ऐसे गठित हों कि उनकी सबकी मिलकर एक गठित इकाई बन जाती हो अलग अलग कानून वनाकर एक दूसरे से संम्बन्ध रखने से न तो कर वसूली में मितव्ययता हो सकेगी न यही पता चल सकेगा कि एक ही व्यक्ति पर कितना अधिक कर भार पड़ गया और ऐसे बहुत से व्यक्ति बच गये जिन पर कोई कर भार नहीं। कर सम्बन्धी सभी कानूनों का एक साथ हर पहलू से विचार किया जाना चाहिये।

ख—कर प्रणाली सुविस्तृत तथा प्रमाणित अंकों पर आधारित होनी चाहिये।

ग—बजट बनाने में प्रत्येक आय-मद की संम्भावित आय का निश्चित :हिसाब लगाया जा सकना चाहिये।

घ—आय का स्रोत लगातार बहता रहे, बीच बीच में रुक न जाय

ङ—नये परिवर्तनों की अवस्था में नई वसूली व्यवस्था और अधिक वसूली लागत आवश्यक नहीं।

च—सादगी हो, कर के रूप में भी और उसकी व्यवस्था में भी

छ—प्रत्येक 'कर', प्रणाली का एक.अभिन्य भाग प्रगट हो।

ज–कर भार हर श्रेणी के नागरिक पर पड़े और उसे अनुभव हो कि मैं देश की शासन व्यवस्था में हाथ बटा रहा हूँ ताकि वह उसमें दिलचस्पी ले।

झ–प्रकार वैभिन्य भी कर प्रणाली में आवश्यक है। 'एकाकी कर व्यवस्था' जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा, आज चल नहीं सकती, न उचित ही है।

ञ–स्थिति गम्यता (Flexibilty) कर प्रणाली ऐसी हो जो स्थिति के अनूकूल अपना स्थान बनाले। संयुक्त राज्य अमेरिका में जहाँ उसके अन्तर्गत राज्यों के विधान कहीं जकड़े, कहीं ढीले है, ऐसी ही स्थिति-गम्य प्रणाली की आवश्यकता होती है।

ट–विभिन्न करों के अधिकार क्षेत्रों में मुठभेड न हो।

ठ–बजट की माँग बढ़ने घटने पर कर प्रणाली के स्रोत आसानी से बढ़ाये घटाये जा सकें, अतः उसे लचक योग्य होना चाहिये। भारतीय नमक कर में यह, गुण रहा है।

ड–कर प्रणाली में यह गुण भी होना चाहिये कि नागरिकों की सम्पत्ति वृद्धि के साथ सरकारी आय में भी वृद्धि होती चली जाय क्योंकि उस अवस्था में सरकारी कर्तव्य भी बढ़ जाते हैं।

ढ–उत्पादन शीलता भी आवश्यक है।

ण–परन्तु सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक गुण है पर्याप्तता। कर प्रणाली कुल मिलाकर खजाने में इतना धन एकत्र करदे कि बजट की आवश्यकता अच्छी तरह पूरी होती रहे।

एकाको तथा बहु-कर प्रणालियाँ

डाल्टन ने उत्तम कर प्रणाली की बिशेषता बताते समय कर प्रणाली के दो रूपों पर विचार किया है।

१ एकाकी कर प्रणाली

२ बहु-कर प्रणाली

एकाकी-कर पर सबसे अधिक जोर पहले फ्रान्स में डाक्टर क्वैस्ने ने दिया। उसकी विचारधारा वाले लोगों को बाद के लोग 'फिजियाक्रेट' कहने लगे। उनका मत था कि चूंकि भूमि ही एक मात्र उत्पादक माध्यम है उद्योग धन्धे नहीं, इस कारण 'कर' केवल एक ही हो और वह भी केवल जमीन पर ही लगाया जाय।

अमरीकी अर्थशास्त्री हेनरी जार्ज ने भी सन् १८७९ में अपनी पुस्तक 'उन्नति तथा दरिद्रता' ‡ में केवल एक ही कर लगाने की प्रणाली का जोरदार प्रचार किया,

‡ Progress And Poverty.

पर वह फिजियोक्रेटों से भिन्न था और आदर्शवादी (Idealist) विचार धारा का व्यक्ति था। अनर्जित संपत्ति पर ही कर लगाने का पक्षपाती था। भूमि जन्य उत्पादन को ही वह अनर्जित सम्पत्ति समझता था। अतः उसी पर केवल एकाकी कर का उसने प्रचार किया।× उसकी राय में भूमिकर से उद्योग धंधों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

एकाकी-कर प्राणाली के पक्ष में जहाँ यह कहा जा सयता है कि उससे व्यवस्था की सादगी, वसूली की मितव्ययता आदि बातें पूरी हो जाती हैं वहाँ सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता अपूर्ण रह जाती है कि एकाकी कर से आय कभी भी पर्याप्त नहीं हो सकती। आज के बजट की मांग एक अकेला कर पूरी कर ही नही सकता। दूसरी दिक्कत उससे यह होगी कि सरकारी मांग का पूरा बोझ कुछ ही लोगों पर पड़ जायगा। अधिकांश नागरिकों को कर देना ही नहीं पड़ेगा। आज का जीवन इतना विषम और उलझा हुआ है कि अगर सब पर कोई एक ही 'कर' लगा भी दिया गया तो उसके करापात और कराघात सब पर नहीं पड़ेंगे और न समान रूप से पड़ेंगे। यदि भूमि पर ही कर लगाया जाय तो जिस करोड़पति ने भूमि में धन नहीं लगाया वह बिना कर दिये ही बच जायगा और गरीब किसान को, जिसका जरा सा टुकड़ा जमीन का है भारी कर देना पड़ जायगा। एकाकी कर प्रणाली में 'करदान सामर्थ्य' का ध्यान नहीं रक्खा जा सकता।

तीन कठिनाइयाँ

भूमिकर के बजाय एकाकी करके रूप में यदि 'आयकर' ही लगाया जाय तो सरकारी बजट की माँग पूरी होनी सम्भव तो है, और अनुपात, सुढारपन (Graduation) आदि तरकीबों से करापात तथा कराघात पर भी काबू किया जा सकता है, परन्तु उसमें भी तीन प्रकार की कठिनाइयाँ डाल्टन बताता है।

१. आयकर को छोटी आय वालों से वसूल करना बहुत ही खर्चीला और दिक्कत तलब होगा।

२. बड़ी सम्पत्ति के वारिसों से कोई विशेष भुगतान नहीं लिया जा सकेगा जो आज 'उत्तराधिकार कर' अथवा 'मृत्युकर' के रूप में आ जाता है। यही जन श्रेणी सबसे अधिक कर देने की सामर्थ्य रखती है।

३. इसका प्रभाव यह होता है कि बचत की भावना लोगों में कम हो जायगी।

इन दिक्कतों को कुछ हद तक दूर भी किया जा सकता है। कर-वसूली व्यवस्था में सुधार तथा आवश्यक परिवर्तन करके खर्चीलेपन को दूर किया जा सकता

× History of Economic thought by L. H. Haney (1951) p. 812

है और यदि छोटी आयों को बिल्कुल कर-मुक्त कर दिया जाय तो प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी दिक्कत का इलाज भी यह है कि उत्तराधिकारी द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने के समय उसको उसको आय मान कर 'कर' लगा दिया जाय, पर इससे कर बहुत कम मिलेगा। अमेरिका में १८६१ ई० में ऐसा किया भी गया था। तीसरी का भी इलाज बताया गया है, वह यह है कि बचत पर 'कर' न लगाया जाय। वैयक्तिक आय पर 'कर' न लगाकर वैयक्तिक व्यय पर 'कर' लगाया जाय, पर आज की व्यवस्था में इसमें व्यवहारिक दोष बहुत हैं। व्यय पर एकाकी कर लगेगा भी कैसे ? उसके लिये तो सबसे उपयुक्त तरीका यह है कि विक्रय वस्तुओं पर कर लगाया जाय, जिसे आज हम 'विक्रय कर' अथवा 'क्रय कर' कहते हैं। पर विक्रय की वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर एकाकी नहीं हो सकता, बहुमुखी हो जायगा। अतः एकाकी कर अव्यवहारिक ही ठहरता है।

किसी वस्तु पर यदि 'एकाकीकर' लगाया भी जायगा और यदि वह वस्तु ऐसी है जिसके बदले में दूसरी वस्तु से काम चलाया जा सके तो कर–भारी वस्तु बाजार में चलेगी ही नहीं और यदि 'नमक' जैसी अनिवार्य वस्तु पर कर बैठाया जाय तो उसका कर भार असमान पड़ेगा जो हम पहले ही कह चुके हैं।

एकाकीकर का आधार एक और बताया जाता है। वैयक्तिक आय के स्थान पर यह कर जायदाद के–पूंजी–मूल्य (Capital value of property) पर लगाया जाय, किन्तु इससे एक तो कर का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जायगा, दूसरे जायदाद के पूंजी–मूल्य का निर्धारण करने में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होंगी। अमरीकी अर्थशास्त्रियों में से खास कर प्रोफेसर सैलिगमैन ने वहाँ के सामान्य–सम्पत्ति-कर को असफल बताया है।

एकाकी कर के विरुद्ध और भी बातें कहीं जा सकती हैं। एकाकी कर प्रणाली में रह जाने वाली, विभिन्न व्यक्तियों के बीच कर सम्बन्धी विषमता को बहुकर प्रणाली में मिटाया जासकता है, और कर–सामर्थ्य गोपन द्वारा कर देने से बचने के जितने अवसर एकाकीकर प्रणाली में होंगे उतने बहुकर प्रणाली में नहीं हो सकते क्योंकि कई अवस्थाओं में एक कर की दूसरे कर द्वारा तसदीक की जा सकती हैं उदाहरण के लिये पिछले के आय कर के अंकों के आधार पर सम्पत्ति का मूल्य जाँचा जा सकता है और 'सम्पत्ति कर' निर्धारित किया जा सकता है।

एकाकी कर के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि यह स्थानीय–व्यवस्था (नगर-आदि) के लिये यह उपयोगी हो सकता है। नगरों में अचल–सम्पत्ति कर (मकान-कर) एकाकी कर हो सकता है। मकान कर जमीन और मकान दोनों के वार्षिक मूल्य को मिला कर उसके आधार पर लगाया जाता है और बाद में उसके घटते हुए मूल्य पर कर न्यूनता भी कर दी जाती है, परंतु वह एकाकी कर फिर भी नहीं है।

सरकारी सहायता, लोक सेवा संबंधी कार्यों जैसे जल, प्रकाश प्रबंध आदि से नगर–पालिका को काफी अच्छी आय हो जाती है और आज तो नगरपालिकाएँ भी एकाकी कर से पर्याप्त आय प्राप्त नहीं कर सकतीं।

बहुकर प्रणाली के सम्बन्ध में आर्थर यंग का कथन है कि "मुझे अगर उत्तम कर–प्रणाली की परिभाषा करना हो तो मैं कहूँगा कि कर का भार असंख्य विन्दुओं पर हल्का हल्का पड़े, भारी किसी बिन्दु पर न पड़े।" * परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका भार कुछ एकाकी कर से कम होता है। सभी कर मिल कर एकाकी से अधिक ही होते हैं, और इन करों की वसूलयाबी खर्चीली भी होती है और सिरदर्द भी उससे बहुत होता है। ज्यादा अच्छा यह है कि देश की उत्पादन श्रेणियों के अनुसार कुछ स्थायी, सम्पन्नशील कर हों। बजट की माँग का बहुतांश इनसे पूर्ण हो जाता हो और छोटे छोटे अन्य सीधे-सादे कर लगाये जायँ। ऐश तथा नशे की वस्तुओं पर भारी कर लगाना सभी को मान्य होता है।

कर की कसक

एकाकी और बहुमुखी कर प्रणालियों के विवाद के अतिरिक्त एक विवाद और भी है। वह है कि कर की 'कसक' होनी चाहिये या नहीं। किसी किसी का मत है कि कर की कसक अधिक से अधिक होनी चाहिए। कर इस ढंग से लगाया जाय कि वह देनेवाले को अधिक से अधिक चुभे। कुछ इस कसक को कम से कम चाहते हैं, बिलकुल न हो तो और भी अच्छी है। साधारण नागरिक तो यही सर्वोत्तम समझता है कि जिसे कर देना पड़े उसे पता भी न चले और कर वसूल हो जाय। करके कारण उसकी आर्थिक व्यवस्था पर उसकी दृष्टि में प्रभाव न पड़े। यदि थोड़ी सी आय में से रुपया हाथ में आने के बाद और बहुत सा व्यय हो जाने के बाद, कर की माँग सामने आती है तो कर दाता की आर्थिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है। परंतु कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि अगर जर्मन आक्रमणकारियों को उनकी आततायी करतूत का दँड देने के लिये उन पर सीधा भारी कर नहीं लगाया जाता तो उनको सुधरने और सीखने का मौका न मिलता। जैसा हम पहले ही कह चुके हैं कि इस कसक के फलस्वरूप प्रत्येक नागरिक को सरकारी व्यवस्था में दिलचस्पी दिलाने के लिये उस पर सीधा आय कर लगाना आवश्यक है। यह भी कुछ लोगों का मत है, इससे हर व्यक्ति, गरीब या अमीर, सरकारी फ़िजूल खर्ची और अक्षमता की ओर उँगली उठा सकेगा।

जन साधारण तो कसक रहित कर प्रणाली को ही पसंद करता है। न उसे सर–कारी कार्यों की गहराई में जाने का समय है न साधन हैं। हाँ सम्पत्तिशाली करदाताओं

---

* डाल्टन द्वारा उद्धृत

के सुनिश्चित कर में वृद्धि हो जाने पर उनकी दिलचस्पी सरकारी अक्षमता खोजने में गहरी हो जाती है।

इस 'कर-कसक' को न होने देने के लिये सबसे अच्छे दो तरीके बताये जा सकते हैं। एक तो यह है कि कर लगाया ही इस ढंग से जाय कि कर दाता को पता ही न चले, जैसे वस्तुओं के दामों के साथ कर भी जौड़ दिया जाय, जैसे रेल भाड़े में तीर्थ कर जोड़कर टिकट दी जाती है। जैसे बच्चे को चीनी में लपेट कर कड़वी दवा दी जाती है। दूसरे आय कर या उत्तराधिकार कर आदि करदाता के हाथ में आय का रुपया आने के पहले ही, स्त्रोत ही पर कर काट लिया जाय। इससे जो कर-दान के बाद बाकी रुपया हाथ में आता है उसे ही वह आय समझता है।

डाल्टन ने एक केम्ब्रिज से निकले हुए भ्रमवाद का जिक्र किया है कि "धनिकों को अपने ख्याल से उचित से अधिक कर देना चाहिये और गरीबों को सोचना चाहिए कि जितना कर वास्तव में वे देते हैं, उससे अधिक दे रहे हैं।" केम्ब्रिजवालों का कहना है कि इससे धनी संतुष्ट रहेंगे और गरीब शीलवान। इससे सभी श्रेणियों का झुकाव अधिक-तम काम और बचत की ओर रहेगा। किन्तु भ्रम कै दिन चलेगा? आज तो धार्मिक विश्वासों के भ्रम भी खुल रहे हैं फ़िर यह तो प्रत्यक्ष की पीठ पर लदा हुआ भ्रम है।

भौतिक तथा मानसिक कर भार का भी प्रश्न यहाँ विचारणीय हैं। भिन्न आय वाले दो व्यक्तियों पर भिन्न कर पड़ने से उनके भार में भौतिक भिन्नता होगी ही किन्तु एक सा करभार होने की अवस्था में भी स्वभाव और पसन्दगी भिन्नता के कारण मानसिक कर भार भिन्न हो सकता है।

करभार, कराघात, करापात

करभार तथा कराघात और करापात का भी अन्तर कर प्रणाली का विचार करते समय सामने आता है। करभार का अर्थ है कर का कुल मिलाकर बोझ। इसका करदान-सामर्थ्य से कोई सम्बन्ध नहीं। कराघात वह बोझ है, वह प्रभाव है जो कर की रकम के देते समय अनुभव होता है। करापात का अर्थ है वह बोझ जो वास्तव में भुगतना पड़ता है, दूसरे पर उतारा या सरकाया नहीं जा सकता।

१०

कर की कसौटियाँ

हम उत्तम कर प्रणाली पर विचार करते समय यह जिक्र कर चुके हैं कि कर लगाते समय चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, वे हैं—समानता, निश्चितता, देयसुविधा और वसूली मितव्ययता। ये बातें कर लगाने के सिद्धान्त या कसौटियाँ कहलाती हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आडमस्मिथ ने कर की इन कसौटियों को बड़े सादे ढंग से बताया है। अन्य अनेक लेखकों ने भी उत्तम कर प्रणाली की कसौटियों पर विचार किया है। सरजोशिया स्टाम्प ने करों की विवेचना तीन दृष्टियों से की है।

१– करदाता की दृष्टि

२– सरकार की दृष्टि

३– आर्थिक इकाई के रूप में समाज की दृष्टि

परन्तु प्रोफेसर कन्नन के अनुसार यह कोई नई बात नहीं है। आडमस्मिथ की ही बात को दूसरे ढंग से कह दिया गया है। फ्रांस के अर्थशास्त्री-द्वय मोरो द बोमाँ तथा तरगो(त) का नाम भी लिया जाता है कि इन्होंने पहले पहल कर सम्बन्धी इन कसौटियों को सामने रक्खा। अंग्रेज भारत का प्रथम अर्थमंत्री जेम्स विलसन भी आडमस्मिथ से ही प्रभावित था।

इन चार कसौटियों के अतिरिक्त और भी कई नाप के साधन हैं जिनका विचार यथास्थान किया जायगा। कर और उनकी कसौटियाँ समाज की अवस्था के अनुसार स्वरूप और विस्तार बदलते हैं। आडमस्मिथ का समय इंग्लैंड में कुछ और था आज कुछ और है। फिर भारत और इंग्लैंड की अर्थ-उत्पादन व्यवस्था में अन्तर है। इंग्लैंड देश किसी काम का नहीं। अंगरेज एलिजाबेथ के समय से ही लुटेरे और शोषक रहे हैं। भारत का प्राकृतिक धन अटूट है, महान है। भारतीय लुटा ही है, उसने कभी किसी के माल की ओर आँख नहीं उठाई। हम अभी लुटेरी अर्थ-व्यवस्था के पंजे से निकले ही हैं अतः फिलहाल लगभग वही कसौटियाँ यहाँ भी लागू होंगी। ये कसौटियाँ चार हैं—

१– समानता अथवा न्याय्यपन

२– निश्चितता

३– देय-सुविधा

४– वसूली-मितव्ययता

१–समानता अथवा न्याय्यपन

समानता अथवा न्याय्यपन की कसौटी पर काफ़ी जोर दिया जाता है । आडम-स्मिथ ने लिखा है कि "हर राज्य की प्रजा को अपनी सरकार के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुपात में धन देना चाहिए अर्थात् सरकार की रक्षा में जो आय उनको होती है उसके अनुपात में ।"

यह मान्य ही है कि सरकार प्रजा की रक्षा करती है अतः एक कुटुम्ब रक्षक की भाँति हर व्यक्ति को उसे सहारा देना चाहिए। दूसरे एक विचार के अनुसार सम्राट को कर लादने का अधिकार है और प्रजा का कर्तव्य है कि वह उसे दे । अगरेज सम्राट ने अमेरिकी संयुक्त राज्य पर चाय कर प्रति सेर छः आने लगाया और टिकिट कर भी लदा रहने दिया । फलतः संयुक्त राज्य देश स्वतंत्र हो गया। अतः समानता का अर्थ यह लगाना उचित नहीं कि चाहे अमीर हो या गरीब, सबसे बराबर तादाद में कर लिया जाय ।

समानता के बजाय समान अनुपात में अथवा न्याय्य शब्द अधिक उपयुक्त है । समानता का अर्थ यह लगाबा चाहिए कि हर एक को 'समान त्याग' करना पड़े । मैकुलौच ने इस बात को संक्षेप में यों कहा है कि "जब आप 'अनुपात' के सीधे सिद्धांत को छोड़ देते हैं तो आप ठेठ मँझधार मे जा पड़ते हैं जहाँ आपके पास न पतवार है, न दिशा यंत्र और कितना अन्याय कर बैठेंगे इसका कोई ठिकाना नहीं ।"

समानता और उचित अनुपात के सम्बन्ध में जान स्टुअर्ट मिल बताते हैं कि जनता पर, उसकी अनावश्यकताओं पर समान अनुपात में कर लगाना चाहिए आवश्यकताओं पर कर नहीं लगाया जाय, और बाकी पर बराबर प्रतिशत कर लगाया जाय । वृद्धिपरक या प्रगामी (Progressive)कर को मिल दिन दहाड़े की डकैती समझता हैं । 'समान त्याग' की दृष्टि से देखें तो वृद्धिपरक कर में कोई लूट. नहीं है । ज्यों ज्यों आय की मात्रा बढ़ती है त्यों त्यों बढ़े हुए धन की उपयोगिता घटती जाती है और त्याग की भावना कम आय वाले कीं अपेक्षा कम होती जाती है । मारशल की राय में भी धन-वृद्धि के साथ कर मात्रा बहुत तेजी से बढ़नी चाहिए ।

पीगू एक और ढंग से सोचते हैं उनका विचार है कि त्याग की कुल मात्रा कम से कम होनी चाहिये । समान त्याग की भावना तो एकसे, और एकसी परिस्थिति

के व्यक्तियों में हो सकती है परन्तु देश के सभी नागरिकों में नहीं। यदि बराबर आय वाले व्यक्ति समान आर्थिक स्थितियों में हैं, समान आय वाले भिन्न अर्थ स्थिति में हैं, भिन्न आय वाले समान अर्थ स्थिति में हैं, भिन्न आय वाले भिन्न अर्थ स्थिति में हैं तो स्थिति के अनुसार त्याग की मात्रा में अन्तर पड़ जायगा ही* ।

पीगू ने 'कर' के दो पहलुओं पर और विचार किया है–

१. कर–घोषणा पक्ष

२. कर–वितरण प्रभाव पक्ष

कर घोषणा की दृष्टि से बहुकर सर्वोत्तम है कि जिसकी तादाद को कोई व्यक्ति अपना पेशा या स्थान अथवा स्थिति बदल कर न्यूनाधिक न कर सके। व्यक्ति-कर उसका उदाहरण है । कर–वितरण–प्रभाव की दृष्टि भी पीगू की अलग है । वृद्धि परक कर इसलिये जायज़ नहीं है कि थोड़ी आयवाला अपनी आय के अन्तिम दसवें भाग की अधिक परवाह करता है बजाय धनी के, बल्कि इसलिये है कि सरकार अथवा देश गरीब के दसवें भाग का धनी के दसवें भाग की अपेक्षा अधिक मूल्य समझता है।

किन्तु पीगू साहब के इस तर्क में छलनी से अधिक पानी नहीं है। इधर के कुछ सालों में और विशेषकर स्वतंत्र भारत में समानता का सिद्धान्त तो ताक पर उठा कर रख दिया गया है । वर्तमान विक्रय–कर इसका सबसे बड़ा उदारण है ।

२. निश्चितता की कसौटी

कर की निश्चितता, समानता की कसौटी से भी अधिक महत्व रखती है। यदि कर दाता को यह नहीं निश्चय है कि कर कब देना है, किस रूप में देना है, कितनी तादाद में देना है तो, चूंकि कर देना तो पड़ेगा ही, और डंडे के जोर से देना पड़ेगा, करदाता की मुसीबत चौगुनी बढ़ जाती है । प्राचीन और मध्यकाल में कर की अनिश्चितता एक भारी अभिशाप थी । कर वसूल करने वाले अमीन मनमानी करते थे । सरकारी ताकत के जोर पर करदाताओं को नचा डालते थे। अकसर घूसखोर तो अमीन लोग होते ही हैं क्योंकि अनिश्चितता का पूरा लाभ वे उठाते हैं ।

आज तो अनिश्चितता का तत्व कर में बहुत कम रह गया है, पर फिर भी तीन स्थितियों में अनिश्चितता अब भी उत्पन्न हो जाती है ।

१. कर जिन वस्तुओं पर लगना है उन्हें न खोज पाना

२. वस्तुओं के मूल्य में सन्देह

३. कर–अमीन और कर-दाता का गठबन्धन जिससे कर आधार का मूल्य

---

* शीराज–साइंस आव पब्लिक फाइनेंस, जिल्द १ पृष्ठ २१८

घटाकर लगाया जाय

श्री सैलिगमैन वताते हैं कि फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी में कर-अनिश्चितता इस हद को पहुँच गई थी कि आखिर जनता न सह सकी। इसीसे आडमस्मिथ ने इस पर बहुत जोर दिया। कहा जाता है कि "पुराना कर तो कर ही नहीं है" ठीक भी है, क्योंकि यह निश्चित है और उससे व्यक्ति की अर्थ–व्यवस्था पहले से परिचित है।

३. देय-सुविधा की कसौटी

कर दाता की सुविधा का ख्याल रखना भी बड़ा आवश्यक है। पुराने जमाने में कर रुपये के रूप में नहीं, वस्तु के रूप में लिया जाता था। कर की मात्रा तो कभी कभी कम भी होती थी। जैसे ब्रिटेन जब रोम साम्राज्य का गुलाम था तो कर में उपज का केवल दसवाँ भाग लिया जाता था किन्तु उस कर-अन्न को राज्यकोष में गाड़ी पर या सिर पर लादकर पहुँचाना उससे भी कठिन काम था।

एक तो कर ऐसे समय पर वसूल किया जाय जब दाता के पास देने का साधन हो, और उस रूप में लिया जाय जिस रूप में वह अधिक सुगमता से दे सकता हो। उदाहरणार्थ किसान से उयज के रूप में भी और मजदूर से श्रम के रूप में भी लिया जा सके। इससे किन्तु वसूली व्यय बढ़ता जायगा और बाजार भाव की अनिश्चितता के कारण बजट का आधार अनिश्चित हो जाने का अधिक भय है।

इस दृष्टि से सबसे अच्छे कर अप्रत्यक्ष हैं। वस्तुओं पर कर लगाने से कर दाता अपनी सुविधानुसार वस्तुएँ खरीदता है। ऐश आराम की वस्तुओं पर कर और भी अधिक सुविधाजनक होता है।

इंगलैंड में आयकर भी श्रमिकों की सुविधानुसार स्टाम्प खरीदवा कर वसूल किया जाता है। भारत में लगान फसल के समय वसूल किया जाता है।

मितव्ययता की कसौटी

सरकार का उद्देश्य कर लगाने में यह है कि उसके बजट के लिये आवश्यक धन प्राप्त हो जाय। जितना बजट के लिये आवश्यक है उससे अधिक वसूल करना सरकार का उद्देश्य नहीं। अतः वसूलयावी में कम से कम व्यय होना चाहिये क्योंकि जितना अधिक व्यय होगा उतना ही अधिक करदाता के सिर पर पड़ेगा। जितना खजाने में पहुँचता है उससे ऊपर कम से कम वसूली भार होना चाहिये। शीराज चार कारण ऐसे गिनाता है जिनसे इस कसौटी का उल्लंघन हो सकता है –

१ वसूली के अफसर ऐसे नियुक्त किये गये हों जिनकी तनख्वाहें और भत्ते ही कर का अधिकांश खा जाते हों।

२ कर लोगों के उद्योग धन्धे में बाधा डालता हो और उसके देने के साधन

को ही नष्ट कर दे ।

३ कर की चोरी बढ़ाने वाला कर लगाया जाता होगा तो कर के बजाय भारी दण्ड वसूल किया जाता है । ऐसा कर न लगाया जाय जिससे दुवकाने छिपाने की नीयत बढ़े ।

४ बार बार कर दाता के सिरपर सवार रहने से भी उसे खातिर खुशामद में खर्च करना पड़ता है ।

इन चारों बातों का ख्याल रक्खा जायगा तो वसूली में अपव्यय होने की सम्भावना कम है । परन्तु एक बात तो शीराज ने छोड़ दी, वह यह कि बिभिन्न करों की वसूल- व्यवस्थाओं में आपस में सहयोग होना चाहिये । सरकारी कर्मचारी जनता के साथ सहयोग करें, यह बात तो अभी भारत में बहुत दूर है, परन्तु बहुधा यह देखने में आता है कि वे आपस में भी काम के लिये सहयोग के इच्छुक नहीं रहते, घूस में सहयोग के लिये तो उत्सुक रहते हैं । आज के भारत का कर्मचारी विरलों को छोड़कर, भत्ता और 'ऊपर की आमदनी' बनाने की फिक्र में रहता है और फ़लतः जनता पर अनाबश्यक बोझ पड़ जाता है । गाँव और शहर के निम्नस्थिति के साधारण व्यक्ति समूह से जाँच कराइये, पोल फूट पड़ेगी । बजट का विस्तृत और गम्भीर अध्ययन भी इसे सिद्ध कर देगा ।

अन्त में, यदि दो कसौटियों में टक्कर हो जाय तो अधिक महत्वपूर्ण को पूरी करना चाहिये । उत्पादन–शीलता, समानता और देय सुविधा से अधिक महत्वपूर्ण है । उत्पादन शीलता का अर्थ है, जैसा कि हम पहले अध्याय में कह आये हैं, कि कर ऐसा हो जो अपने स्रोत को सुखाये नहीं, बहता रक्खे अर्थात् उत्पादन पर आघात न करे ।

और फिर महामंत्र तो आज यह समझा जाता है कि "अर्थ मंत्री बतक के पंख इस तरह नोंचे कि वह कम से कम चिल्लाएँ ।"

कुछ लेखकों ने और अनेक कसौटियां गिनाई हैं, उनका जिक्र हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं ।

११

लोक आय का वर्गीकरण

लोक आय प्रणाली में आय के स्रोत बहुत से होते हैं—हम यह देख ही चुके हैं कि आज की अवस्था में किसी भी एकाकी कर से सरकार का काम नहीं चल सकता—उन सभी स्रोतों में से हर एक को बजट में गिनाना समझ पर भारी बोझ होगा। किसी भी लम्बी चौड़ी बात को समझने के लिये उसको किसी छोटे रूप में लाकर देखा जाता है। उसके कुछ उपयुक्त थोड़े से विभाग कर लिये जाते हैं। बजट में आय के स्रोतों का एक वर्गीकरण कर लिया जाता है। इससे उसके बिभिन्न पक्षों पर ध्यान देने में काफी सहूलियत हो जाती है। कर व्यवस्था वनाते समय भ्रम और उलट पलट नहीं होती।

क्वैसने का एकाकी कर

क्वैसने आदि फ्राँसीसी फिज़ियोक्रेटों की दृष्टि में तो वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता था क्योंकि वे तो एकाकी कर भूमिकर के ही पक्षपाती थे।

आडमस्मिथ के दो वर्ग

आडमस्मिथ ने लोक आय के दो विभाग किये हैं।

१ सम्राट की निजी सम्पत्ति द्वारा—जो प्रजा से प्राप्त आय से अलग है।

२ प्रजा से प्राप्त आय

चूँकि सम्राट की निजी जाय सरकारी कार्यों के लिये पर्याप्त नहीं होती इसलिये बाकी व्यय प्रजा से धन प्राप्त करके करना आवश्यक है।

आज तो इस वर्गीकरण से काम नहीं चल सकता। देश के प्रधान की निजी आय का देश की सरकार की आवश्यकता के समक्ष कोई अर्थ रह ही नहीं गया। आज तो मुख्य स्रोत 'कर' ही है। भारत में सरकारी आय का लगभग ९०% तो करों से आता है और केवल १०% अ- कर आय से।× ऋण को आय में नहीं गिना जाता पर 'प्राप्ति' में दिखाया जाता है।

× भारतीय सरकार का बजट १९५३—५४

मुख्य वर्ग

मोटे तौर पर हम कुल आय को इस प्रकार वर्ग ग्रथित कर सकते हैं—

१ कर
२— शुल्क
३— कीमत
४— विशेष मांग
५— ऋण
६— अन्य (जुर्माना, दान आदि)

१— 'कर' अनिवार्य भुगतान है जो सरकार या लोकाधिकारी द्वारा लादा जाता है। इसमें इस बात से कोई संबन्ध नहीं होता कि करदाता को सरकार या लोकाधिकारी से कितना लाभ पहुँचता है, और न जो किसी कानूनी जुर्म के दण्ड स्वरूप जुर्माने के रूप में लिया जाता हो।

२— शुल्क— वह धन है जो जनता को कुछ सरकारी सेवाओं के बदले में देना ही पड़ता है और वह सेवा लेनी ही पड़ती है, हम चाहें या न चाहें।

६— कीमत— सरकार की व्यापारिक सेवाओं या सामान के बदले में दिया हुआ धन है। यह हमारी मर्जी पर है, हम सेवा या सामान न चाहें तो न लें।

शुल्क तथा कीमत में अन्तर

शुल्क और 'कीमत' में अन्तर है। वैगनर कहता है कि शुल्क सरकार द्वारा बिना किसी आधार के मनमाने तौर पर निश्चित किया जाता है, तादाद भी और देने का तरीका भी। जो व्यक्ति या समूह विशेष को किसी सरकारी विभाग द्वारा उनके लिये की गई सेवा के बदले में देनीपड़ती है, जैसे न्यायालयफ़ीस, नोंध या लेख (रजिस्ट्रेशन) फीस (विवाह की)। शुल्क अनिवार्य होती है, कीमत नहीं।

कर और शुल्क मे अन्तर

'कर' के बदले में कर दाता को कोई विशेष सेवा या लाभ नहीं मिलता। फीस के बदले में मिलता है। कर समाज भर के लाभ के लिये होता है, फीस सेवा लेने वालों के लिये ही। शुल्क को कर आय में जोड़ देते हैं पर 'कीमत' को अ—कर आय में रखते हैं।

कर और शुल्क में कभी कभी अन्तर करना कठिन हो जाता है। यदि फ़ीस सिर्फ उस सेवा का खर्च निकालने के हिसाब से ही ली जाती है तो वह फीस है पर यदि उसमें से बहुत ऊँची फीस लेकर सामान्य आय बजट में जोड़ी जाती है तो वह

गुप्त–कर हो जाता है। मोटर लाइसेंस देय का अर्थ है फीस, ताकि उससे सड़कें, उनके दिशा निर्देश आदि ठीक रक्खे जा सकें पर बहुधा यह सेवा तो लापता रहती है। फीस तो ले ही ली जाती है, तो यह गुप्त–कर है।

कीमत का भी यही हाल है। हम बता ही चुके हैं कि उसमें यदि सेवा या सामान की लागत ही वसूल की जाती है तो कीमत है, यदि कुछ बढ़ा दिया जाता तो है वह गुप्तकर है।

४ विशेष माँग—सैलिगमैन इसके पाँच पक्ष बताता है।

क– उद्देश्य विशेष का तत्व

ख– लाभ विशेष माप योग्य होता है

ग– ये माँग वृद्धिपरक नहीं, अनुपातिक होती हैं

घ– विशेष स्थानीय सुधार के लिये ही हैं

ङ– मानों कि ये जन समूह रूपी स्थायी कारखाने की पूंजी बढ़ा रही हों। इन विशेष मांगों को फीस की तरह नहीं 'कर' की तरह वसूल किया जाता है।*

५. ऋण–यह तो विदेश या जनता से लिया जाता ही है, पर ब्याज समेत लौटाया जाता है। और अनिवार्य नहीं होता, कोई चाहे तो ऋण–पत्रक को बेच कर रूपया वसूल भी कर सकता है।

६ अन्य–इस मद में जुर्माना, दान आदि शामिल हैं। जुर्माना तो आय के लिए नहीं, अपराध की रोक के लिये किया जाता है। कर और जुर्माने में समानता इस अर्थ में है कि कर की तरह जुर्माने की रकम के बदले में भी सरकार कुछ नहीं देती, पर जुर्माना 'कर' नहीं है। दान तो कभी ही कोई करता है. कभी युद्ध काल में सरकार को मदद स्वरूप दान दे देते हैं। कभी कर छिपा कर, कुछ रकम सरकार को भेंट में दे देते हैं। इस प्रकार मोटे तौर पर

१ कर आय

२ अ-कर आय

दो वर्ग किये जाते हैं।

वैस्टेवल का वर्गीकरण

वैस्टेवल ने अपनी पुस्तक 'पब्लिक फाइनेंस' में आडमस्मिथ की ही तरह दो वर्ग किये हैं

१ सरकार द्वारा प्राप्त आय जो वह साधारण व्यक्ति या कम्पनी की तरह काम करके प्राप्त करती है।

---

* शीराज, वही, जिल्द १ पृष्ठ २०३

२ शासनाधीश की शक्ति द्वारा जनता से प्राप्त आय परंतु यह भी ठीक वर्गीकरण नहीं हुआ क्योंकि सरकारी शक्ति तो बहुत कुछ पहले विभाग में भी लगती है। उसके बिना सरकारी व्यापारिक कार्य चल नहीं सकता और कीमतों में भी 'कर' जोड़ दिया जाता है।

आडम्स का वर्गीकरण

आडम्स (आडमस्मिथ नहीं) ने तीन वर्ग किये हैं—

१ प्रत्यक्ष आय
- (क) लोकभूमि से
- (ख) लोक-उद्योगधंधों से
- (ग) अनुदान या गढ़ा धन
- (घ) सम्पत्ति हरण, हानि पूर्तियाँ

२ वसूलयाबी की आय
- (ङ) कर
- (च) फीस, माँग, जुर्माने, दण्ड (Fines, Penalty)

३ भावी आय के आधार पर
- (छ) रुक्के या व्यापारी साख की बेच
- (ज) खजाने के कागजी नोट

सैलिगमैन का वर्गीकरण

१ निर्मूल्य—अनुदान आदि

२ इकरारी—कीमतें, इसी में लोक-सम्पत्ति तथा लोक-उद्योगों की आय सम्मिलित है।

३ अनिवार्य—
- (क) सम्पत्ति जब्ती
- (ख) दण्डशक्ति—जुर्माना, दण्ड
- (ग) कर शक्ति
  - १ शुल्क
  - २ विशेष माँग
  - ३ कर

सामान्य और विशेष स्वार्थों के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है। व्यक्ति से आरम्भ करके लोक-समाज पर अन्त किया गया है। सबसे कम आय का विभाग पहला है और सबसे अधिक आय का अंतिम।

सामान्य तथा असाधारण

यूरोप के कुछ लेखक दो मुख्य भाग करते हैं

१ सामान्य   २ असाधारण

१ सामान्य में कर, शुल्क, सरकारी सम्पत्ति की आय

२ असाधारण में लोकऋण, सरकारी सम्पत्ति का विक्रय, सिक्का

राष्ट्रसंघ का वर्गीकरण

राष्ट्रसंघ का वर्गीकरण इस प्रकार है –

कर–	१ आय और सम्पत्ति कर––आय कर, भूमिकर
	२ उत्पादन, उपयोग, विनिमयकर––यथा तटकर, चुंगी, स्टाम्पकर, नोंधकर, विनिमय कर (Turnover Tax)
	३ एकाधिकारी करों की शुद्ध आय––नमक, तम्बाकू, दियासलाई
शुल्क	४ शुल्क, बटाव (contributions) अन्य व्यवस्था प्राप्ति––यथा भेट, बटाव, विभागीय तथा अन्य प्राप्ति
शुद्ध, व्यापारी आय और एकाधिकारी आय	५ लोक भूमियों और लोक व्यापार की शुद्धआय यथा रेल, सिंचाई, डाकतार, सेवाएँ, सिक्का चलन
	६ वैयक्तिक कम्पनियों में सरकारी भागीदारी की आय जैसे ब्रिटेन को स्वेज नहर कं० से आय, या ईरान तेल कं० से आय
	७ सरकार द्वारा दी हुई अगाऊ रकमों का व्याज
	८ नोट छापने की आय
	९ सरकारी पूंजी से 'प्राप्ति'
	१० ऋण

यह काफी उपयुक्त और क्रियात्मक वर्गीकरण है।

प्रत्यक्ष, परोक्ष

कुछ लोग 'कर' के दो मुख्य भाग निम्न प्रकार करते हैं।

१ प्रत्यक्ष

२ अप्रत्यक्ष, परोक्ष

प्रत्यक्ष कर वह है जिसको देनेवाला व्यक्ति किसी और पर नहीं सरका सकता। परोक्ष कर को देने वाला व्यक्ति दूसरों के मत्थे लाद सकता है। आय कर, प्रत्यक्ष कर हैं, परंतु जिन लोगों की आय ही दूसरों से होती है जैसे मकान मालिक, या जमीदार, वे उस कर की रकम को भी आय के स्त्रोत से ही वसूल करने की चेष्टा करते हैं। व्यापारी, मिल मालिक तो वस्तुओं के विक्रय मूल्य में कर जोड़ कर उपभोगी से उसे

वसूल कर लेते हैं। उपभोगी तो कीमत समझ कर ही दाम देता है, उसे 'कर' का पता ही नहीं चलता। इसलिये यह कर अप्रत्यक्ष कर है। आज कल अप्रत्यक्ष करों को बड़ा उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि बिना हो हल्ला मचे सरकार को अच्छी आय हो जाती है।

मिल का संसदीय दृष्टिकोण

जोन स्टुअर्ट मिल इस विभाजन में संसद सदस्यों के उद्देश्य का सम्बन्ध जोड़ते हैं। उनकी परिभाषा है, "प्रत्यक्ष कर वह है जो उसी व्यक्ति से माँगा जाता है जिससे प्राप्त करने का इरादा संसद का है और अप्रत्यक्ष कर जिससे माँगा जाता है उससे उम्मीद की जाती है कि वह उसे दूसरे से वसूल करले।

परंतु कई बार संसद के उद्देश्य के विरुद्ध भी हो जाता है। इंग्लैंड में मकान मालिक पर लगाया हुआ कर भाड़ौत से वसूल किया जाता है और भाड़ौत को हक है कि वह उसे भाड़े में से काट ले, तो क्या यह अप्रत्यक्ष कर हो गया? भारतीय मकान कर के संबंध में भी वही बात लागू है। यहाँ भी मकान कर भाड़ौत से वसूल कर लिया जाता है।

सिजविक और हैडले

सिजविक संसदीय उद्देश्य की कठिनाई को समझता है क्योंकि वह कहता है कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का भार जहाँ हम चाहते हैं वहीं डालने में हम केवल अंशतः ही सफल हो पाते हैं। हैडले की राय है कि तुरंत के कर भार के आधार पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष का वर्गीकरण होना चाहिये। यूरोप के कुछ देशों में जिन कर दाताओं के नाम रजिस्टर में लिखे रहते हैं उनका कर प्रत्यक्ष समझा जाता है।

वास्तव में करापात से इस वर्गीकरण का बड़ा भारी संबंध है। उसी के आधार पर यह बना ही है। उदाहरण और एक लीजिये, आज के भारत में विक्रय–कर। सरकार इसे दूकानदार से वसूल करती है पर दूकानदार सामान के बिल में विक्रय-कर ऊपर से जोड़ कर ग्राहक से वसूल करता है। ग्राहक यह समझ कर 'कर' की रकम देता है कि मैं 'कर' दे रहा हूँ और इसलिये विक्रय-कर बड़ा ही भारी बोझ मालूम पड़ता है। हर खरीद पर उसको चपेट लगती है, तो यह प्रत्यक्ष हुआ कि अप्रत्यक्ष ?

अतः यह वर्गीकरण कुछ कामका नहीं मालूम होता। इसका आधार है जनता की जेब उससे कह कर काटना अथवा उसकी आँखों में धूल झोंक कर। पर अब जनता इतनी चौकन्नी और समझदार हो गई है कि वह धूल झोंकने पर भी जेब कटती देख लेती है। अतः अब यह वर्गीकरण बहुत कुछ निरर्थक हो गया है।

शीराज प्रत्यक्ष कर उन्हें कहता है जो व्यक्ति की आय और जायदाद पर सीधे

लगाये जायँ। उसमे वे कर भी सम्मिलित हैं जो उपभोगी द्वारा सरकार को सीधे ही दिये जाते हैं। आय कर, जायदाद कर, मृत्यु कर, व्यक्ति और उपभोग कर प्रत्यक्ष कर हैं, बाकी सब अप्रत्यक्ष कर हैं। इस परिभाषा में संसद के उद्देश्य पर निर्भर नहीं किया गया किन्तु यह सरकार को सीधा पहुँचने के आधार पर है।

लुट्ज़ का वर्गीकरण

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री सुधीर कुमार मुकर्जी ने अर्थशास्त्र के मूलाधार में लुटज़ का वर्गीकरण इस प्रकार दिया है।

१ व्यवसायिक

२ प्रशासनिक तथा विविध आय

३ कर

४ सार्वजनिक ऋण

५ आर्थिक सहायताएँ तथा अनुदान।

६ लेखा-आय और हस्तान्तरण आदि। और श्री जे. के. मेहता का वर्गीकरण इस प्रकार दिया है—

श्री मेहता का वर्गीकरण

१ कर

२ शुल्क

३ चुंगी

४ विविध स्त्रोत जैसे अनुदान, जुर्माने, विशेष प्राप्तियाँ आदि

शीराज का वर्गीकरण

शीराज की राय में आदर्श वर्गीकरण इस प्रकार होगा। पहले दो भाग (१) कर आय (२) अ-कर आय

कर-आय के दो विभाग—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष और उनके फिर अन्य विभाग। पूरा रूप आगे दिया जाता है।

१ कर—आय

क— आयकर, सम्पत्तिकर

ख— उत्पादन, उपभोग और हस्तान्तरण कर (Turnover Tax), अनेक लेन देनों पर लगे हुए,

ग— शुद्ध आय सरकारी कर एकाधिकारों से।

ऊपर मोटे तौर पर कर-आय आ गई।

२ अ-कर आय

घ– सरकारी संपत्ति तथा सरकारी धन्धों से विकास संबंधी आय। इसमें, सरकारी और म्यूनिसिपल सम्पत्ति दोनों की आय आगई। इसीमें रेल, नहर, डाकतार पानी, विजली, गैस, भाड़े आदि आगये।

ङ- व्यवस्थापन तथा अन्य आय ऋण को छोड़कर, जैसे शुल्क,बटाव (contributions) विशेषकर, भेंट (Tributes) वैयक्तिक कंपनियों से शेयरों के बटाव (Dividends), अगाऊ दिये रुपये का ब्याज, जुआ, सरकारी पूंजी द्वारा प्राप्ति, अधिक जमीन के विक्रय से प्राप्ति।

च- ऋण प्राप्ति

भारतीय वर्गीकरण अब भी बहुत कुछ उसी प्रकार है जैसा शीराज ने आदर्श समझा है। श्री जंठार और वेरी भारतीय लोक आय का वर्गीकरण इस प्रकार बताते हैं*

उनका कहना है कि एक वर्गीकरण तो कर-लागू करने वाले अधिकारियों के अनुसार हो सकता है जैसे १-केन्द्रीय २-प्रान्तीय ३-स्थानीय (जिला बोर्ड और म्यूनिसिपैल्टियां)

दूसरा इस प्रकार:—

१ भूमिकर

२ अन्य कर–आय

(क) प्रत्यक्ष कर

(ख) परोक्ष कर

३ सरकारी एकाधिकार

जंगलात तथा अफीम इसमें शामिल हैं

४ व्यापारी कार्य–इसमें शामिल हैं रेल, सिंचाई, डाकतार, लोक–कारखाने (Public works) आदि।

५ विभिन्न प्राप्तियाँ–देशी राज्यों से प्राप्तियाँ,, विभागीय प्राप्तियाँ

६ व्याज–प्रान्तीय सरकारों, देशी राज्यों तथा स्थानीय लोक संस्थाओं को दिय गये ऋणों का व्याज

---

* इण्डियन इकनामिक्स-जिल्द २ पृष्ठ ५०६

१२

प्रत्यक्ष कर

हमने प्रत्यक्ष और परोक्ष करों के अन्तर पर पहले विचार किया है, यद्यपि भारतीय बजट में से यह विभाजन अब निकाल दिया गया है फिर भी जानकारी की दृष्टि से हम इस विभाजन के अनुसार 'करों' को विभक्त करके यहाँ दे रहे हैं।

भूमिकर

भारत में क्या संसार के हर भाग में शासक, जनता से उसकी कमाई का भाग लेते रहे हैं, जो भी कमाई हो। शासन के आविर्भाव के पूर्व ही भूमि-उपज होने लगी थी और यही उपज का मुख्य साधन थी। अतः इसी उपज का भाग राजा लोग लेने लगे थे। भारत के अतिपूर्वज मनु ने भी मनुस्मृति में राजा को भूमि की उपज का 'षष्ट' भाग (छठवाँ भाग) लेने का अधिकार दिया है। युद्धकाल में तो चौथे भाग तक भी लिया जा सकता था। चीन और मिश्र में भी ईसा से २ हजार वर्ष पूर्व से यह भूमिकर चला आता है। भूमिकर लगाने के आधार कई हैं। विभिन्न देशों में निम्न विभिन्नताएँ पाई जाती हैं–

१–भूमि के पूँजी-मूल्य (Capital Value) के आधार पर, जिसको समय समय पर उसकी वास्तविक बिक्री-मूल्य से तय किया जाता है।

२–वार्षिक लगान-मूल्य (Rental Value) के आधार पर

३–भूमि के मौलिक अथवा लोक-मूल्य (Public Value) जो कि मालिक अथवा काविज़ के प्रयत्नों का फल नहीं बल्कि कुल जनता की उन्नति का फल है।

४–किसान की शुद्ध आय + खुद और उसके कुटुम्ब के श्रम का मुल्य + प्रबन्ध की कमाई, के आधार पर

५–शुद्ध उपज (कुल उपज–उपज में लगा व्यय) के आधार पर

कुछ देशों में भूमिकर को रद्द करके भूमि-आय पर आयकर द्वारा कर लगाने की ओर झुकाव है। भारत में अकसर शुद्ध उपज ही भूमि कर का आधार है पर क्षेत्रफल पर भी भूमिकर का विचार किया जाता है और जमींदारी प्रणाली की

भूमियों पर तो जमींदार द्वारा प्राप्त भूमि-लगान पर उसके कुछ प्रतिशत के रूप में कर लगाया जाता है। बंगाल, विहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश आदि में स्थायी बन्दोबस्त के कारण यही तरीका चलता रहा था।

भूमिकर भारत में बहुधा तीस साल के लिए एक बार निश्चित कर दिया जाता था इसे बन्दोबस्त कहते थे। बीच में दस साला कच्चा बन्दोबस्त भी होता था जिसमें भूमिकर पर फिर से विचार कर लिया जाता था।

भूमिकर का अर्थ साधारण तौर पर कृषि भूमि कर ही समझा जाता रहा है किन्तु कृषि-इतर भूमि, जो शहरों में मकान बनाने आदि में उपयोग की जाती है पर भी विचार करना आवश्यक है। शीराज की राय में अ-कृषि भूमि पर इतना अधिक कर लगाना चाहिए कि जितना उसे अधिक से अधिक उपयोगी कार्य में लगाने पर ही मालिक, चुकाने की स्थिति में आ सके। इससे सबसे अधिक लाभ होगा मकान समस्या को सुलझाने में, लोग अपने आप उसे मकान बनवाने में उपयोग करेंगे परन्तु इसमें दो दिक्कतें हैं। पहली बात तो यह है कि मकान बनाकर किराये पर देना ही सबसे बड़ा उपयोग जमीन का नहीं है। आज के उच्चाधिक वैज्ञानिक साधनों द्वारा तथा वृहत् पैमाने पर कृषि बहुत ही अधिक उत्पादक होती है तथा देश की आवश्यकता को सामने रखकर उच्च-उत्पादन वाला कारखाना भी। दूसरी दिक्कत है कि जिस भूमि-मालिक के पास इन चीजों में लगाने के लिए पूंजी ही नहीं है वह तो जमीन को बेचकर ही छुटकारा पा सकेगा और उस कर से अमीर, गरीबों को और भी खा जायेंगे।

अनर्जित लाभ कर

श्रमरहित कमाई पर कर लगाने की दृष्टि पर ऐनौदी (Einaudi) तथा एडौल्फ़ वैगनर ने बहुत जोर दिया है। पास से रेल निकल जाने, स्टेशन या कारखाना बन जाने आदि से भूमि का मूल्य बिना मालिक के श्रम के बढ़ जाता है, तो उस बढ़े हुए मूल्य पर कर लगाने का सरकारी हक हो जाता है।

भूमि की श्रमरहित कमाई पर कर लगाने के चार तरीके बताए गये हैं।

१—पिछले समय से अबतक की अश्रम-आय वृद्धि पर कर लगाना। इसमें एक तो कठिनाई होगी यह मालूम करने में कि कबसे आय वृद्धि हुई, दूसरे यह सम्भव है कि भूमि की अश्रम-मूल्य वृद्धि के दाम वर्तमान मालिक खरीदते समय दे चुका हो।

२—जब जब भूमि बिकेगी, तब तब उसके वास्तविक विक्रय मूल्य वृद्धि पर कर लगाया जाय। फ्राँकफुर्ट (जर्मनी) मे ऐसा कर था। कर में तीन स्थितियों का ख्याल रक्खा जाता है। क— उसपर मकान बना है कि नहीं। ख—पिछली विक्री को कितना समय हो गया। ग—मूल्य-वृद्धि कितनी हुई।

३– भूमि की भावी–मूल्य–वृद्धि पर ही कर लगाना। इसमें जमीन और उसपर बने मकानादि के मूल्य का हिसाब लगा लिया जाता है। परन्तु इसमें कुछ बातों का ख्याल रखना आवश्यक है। इस प्रकार का कर अन-अर्जित सम्पत्तिकर नहीं है क्योंकि इसमें मालिक का श्रम तथा पूंजी लगते हैं। दूसरे इससे उद्योग-धन्धों को एक प्रकार का धक्का लगता है। विश्वविद्यालय, अस्पताल आदि जनोपयोगी स्थानों को छोड़ना आवश्यक है और कर लगाते समय आंका हुआ मूल्य पुराना हो चुकेगा।

४–अन–अर्जित वृद्धि पर कर लगाया जाय। जब कोई रेल, सड़क आदि से नई उन्नति हुई हो।

भूमिकर के इतिहास से मुख्य बातें निम्नांकित निकलती हैं––

१–यह आवश्यक है कि भूमि के मूल्यांकन की एक सुनियोजित प्रणाली होनी चाहिए।

२–भूमि के पूंजी मूल्य पर भूमिकर लगाया जाय और साल बसाल उसमें आवश्यक परिवर्तन हो सकें।

३–जहां भूमिकर स्थायी तौर पर निश्चित है वहाँ भूमि पर अन्य कर लगाने की सुविधा होनी चाहिए।

४–नगरपालिकाएँ नागरिक आवश्यकताओं के लिए अलग भूमिकर लगा सकें।

५–अनुन्नत भूमि पर कर लगाया जाय इससे मालिक उन्हें उन्नत करेंगे।

भारत में भूमिकर

भारत में भूमिकर बहुत पुराना है, परन्तु इसको अधिक फलदायक बनाने में सबसे पहले अधिक सुव्यवस्थित शेरशाह और अकबर के समय में राजा टोडरमल ने बनाया। भूमि की किस्में उपजाऊ होने के हिसाब से कीं। जमीन की माप भी की। ८ प्रकार के विभाग उसने किये। लगभग वही वर्गीकरण अंगरेजी राज्य में भी रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के आधे तक तो भारत सरकार की मुख्य आय भूमिकर की आय ही थी, लगभग ७० प्रतिशत, क्योंकि अन्य कर विकसित ही नहीं हुए थे, परन्तु बाद में भूमिकर का महत्व घटता ही गया। आजकल सरकारी कुल आय (केन्द्रीय व प्रान्तीय) की भूमिकर आय केवल ६.३ प्रतिशत ही रह गई है।

भूमिकर कर की कसौटियों के अनुसार बहुत उपयुक्त नहीं है। सबसे प्रथम कसौटी है कि कर समान हो या न्याय्य हो, परन्तु यह इस कसौटी के एकदम विरुद्ध है। भूमिकर एक सीधे दर से लगता है। छोटे और बड़े भूमिधरों पर दरमें कोई अन्तर नहीं। छोटा किसान इसके बोझसे पिस जाता है, बल्कि यह प्रतिगामी कर है। छोटी कृषि-

वालों पर अधिक कर पड़ता है।

निश्चितता भी इसमें नहीं है। कर लगाने में कर अफसर लगभग मनमानी ही करते हैं। कोई निश्चित दर नहीं है। प्रान्त प्रान्त में दरों में अन्तर है, एक ही प्रान्त में भी अन्तर है। स्थायी बन्दोबस्त से किसान को कोई लाभ नहीं था, जमींदार खूब चूसते थे।

इस कर की वसूली में भी मितव्ययता नहीं, सबसे अधिक वसूली इसी में लगती है।

कुछ लोगों का सुझाव है कि भूमिकर को बिल्कुल हटा ही देना अच्छा है। उसके स्थान पर आयकर या अन्य कर जो कर कसौटियों के अनुकूल हो, लगा दिया जाय। इससे जो छोटा किसान है वह कर की असमानता का शिकार नहीं रहेगा। अथवा भूमिकर को प्रगामी बनाया जाय और निचली हद को आयकर की भाँति कुछ ऊँची रक्खा जाय ताकि छोटा किसान कर से बच जाय।

स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने जमींदारी उन्मूलन करके किसान को जमींदारों के पंजे से बचाने की कोशिश की है जरूर, किन्तु इससे भी किसान का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। गत जमींदार को मुआवजा चुकाने में किसान साहूकारों का शिकार हो गया।

भूमिकर को वास्तव में इस रूप में लाने से समस्या हल होगी कि हर गाँव के किसान अधिक से अधिक सहयोग करके छोटे खेत मिटाकर बड़े नाप पर सहयोगी खेती वैज्ञानिक ढंग से करने लग जाँय। उससे सरकार को उपज बढ़ने के कारण कर भी अधिक मिलेगा और देश समृद्ध होता चला जायगा।

आयकर

आयकर भूमिकर से भिन्न होता है। इसमें कर पूँजी अथवा सम्पत्ति पर नहीं होता बल्कि 'आय' अथवा आमदनी पर होता है और आजकल आयकर आमदनी के एक ही जरिये पर नहीं, बल्कि कुल मिलाकर सभी जरियों से जो कुल आमदनी होती है, उसपर ही लगाया जाता है। फिण्डले शीराज तो आय करके आधार अर्थात् आमदनी को कर देय-सामर्थ्य का सच्चा द्योतक बताता है। साधारण तौर पर तो, जैसे आजकल भारत में, व्यक्ति की कुल आय पर ही आयकर लगाया जाता है परन्तु कहीं कहीं आमदनी के विशेष जरिए पर भी आयकर लगा दिया जाता है, जिससे कि अन्य करों के पूरक के रूप में वह काम आ सकता है, ऐसा संयुक्त राज्य अमेरिका में किया जाता है।

आयकर का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। इंग्लैंड में तो इसका आरम्भ

'युद्धकर के रूप में १७९८ में पिट के आयकर द्वारा हुआ और अमेरिका में १८६४ में। बाद में इंग्लैंड में वह साधारण बजट के पूरक के रूप में १८४२ में पील द्वारा ३ वर्ष के लिए आयकर लगाया गया ताकि बढ़ता हुआ घाटा पूरा हो जाय और कच्चे माल के आयात पर कर को हटाने से बजट में कमी न आवे। अन्त में यह बजट में हमेशा के लिए शामिल हो गया और अब तो यह बजट का बहुत बड़ा भाग बन गया है। यहाँ तक कि बजट की कुल आय का आयकर से ४० प्रतिशत तक पूरा होता है। भारतीय बजट में (१९५३–५४) आयकर कुल आय का ३९.२ प्रतिशत है। ×

आयकर के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त ध्यान में रक्खे जाते हैं—

१– कर का क्षेत्र
२– उतार चढ़ाव
३– भिन्नत्व
४– छूट
५– स्रोत पर वसूली
६– कर-काल
७– कर-चोरी

१–करका क्षेत्र–आयकरका क्षेत्र सम्पूर्ण देश है और उसके सभी नागरिक हैं, इसलिए वह देश के नागरिकोंपर तो सम्पूर्ण आय पर लगाया जा सकता है चाहे वह आय देश में हुई हो अथवा विदेश में। परन्तु विदेशियों पर जो देश में हैं केवल देश में की हुई कमाई पर ही लगता है। कुछ देशों मे, जैसे दक्षिण अफ्रीका में, नागरिकों पर भी केवल देश में की हुई कमाई पर आयकर लगता है। फ्रांस में कुछ समय पूर्व ऐसे लोगों पर देशी कमाई पर भी आयकर नहीं लगता था जो न तो वहाँ स्थायी तौर पर रहते थे और न जिन्होंने वहाँ की नागरिकता प्राप्त की थी।

नकद आय के बजाय वास्तविक आय पर, जिसमें नकद के अतिरिक्त आय भी सम्मिलित है, आयकर लगाया जा सकता है। हालाँ कि वास्तविक आय का, कर बैठाने की दृष्टि से नगद में मूल्यांकन करना बड़ा कठिन है। उस हालत में नगद आय पर ही कर लगा दिया जाता है।

२–उतार चढ़ाव–अब तक आयकर अन्धेके हाथमें तलवार रहा है। पहले तो आयकर हर तादादकी आयपर एक ही दरसे लगा दिया जाता था जैसे रुपयेमें दो पैसे। जिसकी आय १००) से कम है वह भी दो पैसे रुपया आयकर दे और जिसकी लाखों में है वह भी उसी दर से कर भरे, अर्थात् कर समानुपाती हो। परन्तु अब कर की

× पब्लिक फाइनेन्स—आर. एन. भार्गव, पृष्ठ २४५

दर में आय की तादाद के हिसाब से उतार चढ़ाव कर दिया जाता है। कम आयों पर कम दर रक्खी जाती है और अधिक आयों पर दर बढ़ाते चले जाते हैं जैसे हमारे देश में ४२००) × वार्षिक आय से कम पर आय कर नहीं है और हिन्दू कुटुम्बों पर ८४००) वार्षिक से कम पर नहीं है—

कर योग्य आय के वर्तमान आय-कर के कुछ दर।

पहले १५०० रु० कुल आय तक	कुछ नहीं
अगले ३५०० रु० ,, ,,	३ पैसे प्रति रुपया
अगले ५००० रु० ,, ,,	७ पैसे ,, ,,
अगले ५००० रु० ,, ,,	३ आने ,, ,,
बाकी आय पर	४ आने ,, ,,

इस प्रकार के बढ़ाव को वृद्धिपरक (Progressive) आय-कर कहते हैं, परन्तु इसमें और भिन्नत्व (Differentiation) में अन्तर है। बृद्धिपरक में तो आय के हिसाब से कर की दर में अन्तर किया जाता है परन्तु भिन्नत्व में आय की किस्म के हिसाब से भिन्न दर होतीं है।

वृद्धि परक के तरीके भी कुछ निकाल लिये गये हैं। जाँन स्टुअर्ट मिल तो इस वृद्धिपरक कर प्रणाली को वृद्धिपरक डकैती कहता था पर लगभग सभी देशों में यह तरीका मान्य हो गया है।

क— बच्चों के पालन में या अन्य आवश्यक व्ययों पर छूट दे दी जाती है।

ख— कर की दरों म उतार चढ़ाव

ग— सर्वोपरि कर लगाकर

३—भिन्नत्व:—जब आय के कई जरिये हों और उनमें करकी दर जरिये की भिन्नता के आधार पर भिन्न कर दी जाय तो वह भिन्नत्वका सिद्धान्त कहलाता है। यह प्रत्यक्ष ही है कि श्रमसाध्य मजदूरी, वेतन आदि पर व्यापारी आय की अपेक्षा हल्का कर लगना चाहिये, चाहे आय बराबर ही क्यों न हो।

४—छूट (abatement)—आजकल रहन सहन के स्तर का ध्यान काफी रक्खा जाता है। बच्चों के पालन, पढ़ाई, दवादारू का खर्च, बच्चे होने का व्यय, बीमा की भराई आदि को आवश्यक मानकर इन व्ययों पर आयकर से छूट दे दी जाती है। एक निश्चित रकम तक दान दी हुई रकम, राजनैतिक दलों को भेंट आदि भी कहीं कहीं छूट में आ जाते हैं, कहीं कहीं कुआरों पर अथवा जिनके बच्चे नहीं हैं उनपर विशेष कर लगा दिया जाता है।

× भार्गव. वही, पृष्ठ २२९, २३४

५– स्रोत पर वसूली– इसके अनुसार आय कमानेवाले के हाथ में पहुंचने के पहले ही उसमें से आयकर काट लिया जाता है। जैसा हम पहले कह चुके हैं इससे दो सहूलियतें होती हैं एक तो सरकार को वसूलयाबी में आसानी होती है। मिल, बड़े दफ्तरों आदि में हजारों का कर एक ही जगह वसूल हो जाता है। दूसरे, देने वाले को इसकी चुभन कम होती है। वेतन, मजदूरी पर कर, बाँट के दफ्तर में और शेयर आदि के लाभ का कर कम्पनी में काट लिया जाता है।

६– कर- काल–– आयकर लगाने के लिये आय की रकम निकालना आवश्यक है। सवाल उठता है कि कितने समय की आय जोड़ी जाय। पहले, कई वर्ष की आय की औसत निकालकर आय गिनी जाती थी। छूट की चीज़ों के समय का भी ध्यान रखना आवश्यक है। व्यापारियों के उलट फेर में समय की तादाद का सवाल उठता है। इन सब का विचार करके ही समय तय किया जा सकता है किसी साल आय हुई किसी साल नहीं, इसलिये औसत ठीक नहीं बैठती। लार्डसभा में इंग्लैंड में ऐसा एक प्रश्न उठा कि आय नहीं तो कर भी नहीं, चाहे पहले सालों में कितनी भी आय हुई हो। कर आय होने के बाद जल्दी से जल्दी लगना चाहिये। अब साधारण तौर पर गत वर्ष की आय के आधार पर ही कर बैठाया जाता है।

७– कर–चोरी– कर चोरी नागरिकता के उत्तरदायित्व के प्रति उदासीनता के कारण अथवा सामयिक सरकार द्वारा धन वरबादी को देखकर होती है। दूसरे कारण का इलाज तो राजनीतिक है और सरकार को विभिन्न राजनीतिक तरीकों द्वारा अपने दृष्टिकोण पर लाने अथवा उसको बदल देने से ही हो सकता है। उसका उपाय कर–चोरी नहीं है, परन्तु पहले कारण का इलाज तो सरकार के अधिक चैतन्य रहने ही से हो सकता है। यहाँ तक तो कहा जा सकता है कि हर व्यक्ति अपने कामकाजके हिसाब किताब को कानून के अन्दर रहकर इस ढंग से व्यवस्थित करे कि उस पर कर की कुल्हाड़ी न पड़े या हल्की से हल्की पड़े किन्तु करके आधार को छियाकर गैर-कानूनी ढंग से कर देने से भागना नागरिकता के विरुद्ध है। सरकार को कर कानून के ढीलेपन और छिद्रता को ठीक कर देना चाहिये। कई जगह तो कर--चोरी पर अथवा कर–चोरी में मददगारी पर बड़ी कड़ी सजा का विधान है।

भारत में आयकर

भारत में आयकर बहुत पुराना नहीं है पहले पहल १८६० ई० में यह कर लगाया गया था। आयकर पूरा भारत सरकार का होता है पर कुछ भाग प्रान्तों को भी मिलता है। पहले जिन रियासतों में आयकर नहीं था उनमें भी अब लग गया है और १९५५–५६ में सब जगह दर समान हो जायेंगे।

स्टैप और स्लैब कर रीति

भारत मे आयकर में १९३९ के पहले स्टैप कर रीति वरती जा रही थी। स्लैव रीति अपनाने की, यद्यपि सिफारिश सन् १९२५ में ही कर आयोग ने कर दी थी परन्तु वह अपनाई गई १९३९ में ही।

स्टैप प्रथा में व्यक्ति की सारी आय पर एक ही दर से कर लगाया जाता था। परन्तु स्लैव प्रथा में आय के कुछ टुकड़े कर दिये जाते हैं। सभी की आयों पर आय के उन टुकड़ों पर एक ही दर से कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ यदि टुकड़े किये गये हैं—

स्लैब	तो	कर की दर	है
० से १५००)		×	
१५०१) से ५०००)		३ पैसे प्रति रुपया	
५००१) से १००००)		५ पैसे प्रति रुपया	

अब यदि किसी की वार्षिक आय ९०००) है तो उसे पहले १५००) पर कोई आयकर नहीं देना पड़ेगा। परन्तु अगले ३५००) पर ३ पैसे प्रति रुपया कर देना होगा। ये हुए ५०००), अब आगे बचे ४०००)। इस ४०००) पर ५ पैसे प्रति रुपया आय कर लगेगा।

स्लैव प्रथा में यही ढंग प्रत्येक व्यक्ति के प्रति लागू होगा चाहे उसकी आय ६ हजार हो या या ग्यारह हजार, या चाहे जितनी। आय की कुल ऊँचाई को इस प्रकार कुछ शिलाओं में बाँट लेते हैं। इसे हम शिला प्रथा कह सकते हैं। स्टैप प्रथा में शिला नहीं थी। पूरी आय पर एक ही दर से आय कर लगा दिया जाता था× ।

आयकर ही ऐसा कर है जो कसौटियों पर पूरी तरह ठीक उतरता है और अब शिला-प्रणाली (slab system) के लागू करने से और भी न्याय्य हो गया है।

अति मुनाफा कर

यों आय पर तो कर होता ही है परन्तु युद्धादि की आवश्यकता के समय अन्य मदें भी ढूंढी जाती हैं। उनमें एक अति-मुनाफा कर भी है। अति मुनाफा वह है जो अचानक ही बिना साधारणतः आवश्यक कोई कार्य किये बड़ा भारी मुनाफा हो जाय, जिसे छप्पर फाड़कर आया हुआ धन कहते हैं (windfall)।

× R. N. Bhargawa—Public Finance— p 230

लाभ की एक निश्चित दर से ऊपर जब लाभ हो तो वह सामान्य दर के ऊपर ऊपर का लाभ ही अतिलाभ है ।

यह अतिलाभ अर्नाजित आय है और इसलिये सरकार को उसका भाग मिलना ही चाहिये । इस कर के सम्बन्ध में एक तो कठिनाई यह पड़ती है कि किस दर तक साधारण लाभ माना जाय, यह किस आधार पर तय किया जाय, दूसरे, यह कर कैसे बैठाया जाय । कुछ इस करके विरोध में भी बातें कही जाती है:—

१– यह कर असमान है क्योंकि थोड़े से व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है।

२– उलझन पूर्ण है, ३– अनिश्चित है ४– कुछ विशेष उद्योगों पर ज्यादा ज़ोर पड़ेगा जैसे खनिज, गृह निर्माण, कारखाने आदि और लगभग एक ही कमाई वाले बैंक आदि पर यह कर नहीं लगेगा । ५– यह कर उपभोक्ता के सिर पर सरका दिया जाता है ।

पीगू की राय तो यह है कि केवल बहुत बड़ी रकमें जो एक तरह से छप्पर फाड़ कर आयी हों उन्हीं पर यह कर लगाया जाय । भारत में गत युद्ध काल में यह कर बहुत काम का सिद्ध हुआ । कुल आय इससे इस वर्ष के बजट में १ करोड़ २५ लाख रु. होने का अन्दाज है ।

कृषि आयकर

कृषि आयकर, यद्यपि भारत में नया नहीं है परन्तु अब यह बिल्कुल मर रहा है । पहले पहले १८६० से १८६५ तक केन्द्रीय सरकार लेती रहीं । बीच में जमींदारों को खुश रखने के लिये बन्द कर दिया गया फिर १८६९ से ७३ तक रहा। इन्हीं दोनों समयों में पहले और दूसरे आय कर कानून पास किये गये थे । उन दिनों आयकर कृषि आय तथा अन्य आय सब पर लगता था परन्तु ६०० रु० से कम जो मालगुजारी देते थे उनपर आयकर नहीं था । सन् १८८६ में सर्वप्रथम कृषि आय को अन्य आयों से भिन्न माना गया और उसे केन्द्रीय आयकर से मुक्त कर दिया गया । १९३७ तक कृषि आय. आयकर से मुक्त रही । उस साल प्रान्तों को कृषि-आय–अर लगाने की छूट दे दी गई । बिहार ने सर्वं प्रथम यह कर लगाया, १९३८–३९ में । अगले साल आसाम ने, १९३४ में बंगाल ने, १९३७ मे उड़ीसा ने और तत्तर प्रदेश ने १९४९–५० में । केवल पाँच ही प्रान्त यह कर लेते हैं ।

कृषि–आय–कर में समस्या उठती है कि इसका आधार क्या हो । करदाता का निवास स्थान अथवा आय का स्रोत । जब ये दोनों स्थान अलग अलग प्रान्तों में होते हैं तो दोनों सरकारों का बोझ एक ही स्रोत पर पड़ सकता है । अतः यह समझौता कर लिया गया है कि कृषि–आय के स्रोत पर कर लगाया जायगा ।

इस अलग कर से कुछ दिक्कत भी खड़ी होती है। जिस व्यक्ति की कृषि--आय और अन्य आय दोनों ही अलग अलग कर की सीमा से नीची हैं, वह कर से मुक्त रह जायगा। हालाँकि जो व्यक्ति कुल उतना ही कमाते हैं पर एक ही प्रकार के आधार से कमाते हैं उन्हें कर देना पड़ जायगा। दोनों प्रकार की आय वालों को कर के पंजे से भाग निकलना भी ज्यादा आसान है।

कुछ लोगों का कथन है कि कृषि–आय–कर का भविष्य अच्छा नहीं है, परन्तु हमारी राय वही है जो हमने भूमिकर के सम्बन्ध में कहा है। कृषि को सहयोगी तथा बैज्ञानिक ढंग से करने के साधन उत्पन्न कर देने से कृषि–आय बहुत और अटूट बढ़ेगी और कर का भविष्य बहुत उज्ज्वल हो जायगा। हाल ही में उत्तर प्रदेश सरकार ने कृषि–आय कर का संशोधन करने के लिये एक कानून पास किया है।‡

कुल कृषि–आय–कर की आय पाँचों 'अ'–राज्घों में और तीनों 'ब' राज्यों मे मिलाकर १९५४–५५ के बजटों में लगभग ३०० लाख रुपये होने का अनुमान है*।

मृत्युकर अथवा उत्तराधिकार कर

सरकारों ओ आय की खोज में हर ओर दृष्टि डालनी पड़ती है। आय कर जो प्रत्यक्ष करों में सबसे महत्वपूर्ण है, काफ़ी नहीं ही होता है। वह तो आमदनी पर है, तो सरकार उसके आगे चलकर इकठ्ठी सम्पत्ति पर भी पहुंची। मौत के समय यदि व्यक्ति कुछ सम्पत्ति छोड़ मरे तो उसके वारिस अथवा मनोनीतव्यक्ति उसके मालिक होंगे ही। सरकार उनके इस प्रकार धन प्राप्ति को मुफ्त का धन समझती है अतः उससे कर माँगती है। एक यह भी सिद्धान्त है कि मृतव्यक्ति जो सम्पत्ति जोड़ सका वह सरकार के संरक्षण के कारण ही जोड़ सका। अतः अब उसमें से भाग लेने का उसको हक है।

कुछ लोग यह मानते हैं कि वारिस जितना नजदीकी हो उससे उतना ही कम दर से उत्तराधिकार कर लिया जाना चाहिये। एक दम दूर के रिश्तेदार से तो बहुत अधिक लिया जा सकता है।

मृत्युकर अथआ उत्तराधिकार कर सरकार के लिये आय का बड़ा सुगम साधन है। उससे अच्छी आय कम से कम तकलीफ दे कर हो जाती है। अतः अब लगभग हर देश में यह कर लग गया है। अमेरिकी संयुक्त राज्य के ४८ राज्यों में से ४७ में यह कर लगाहुआ था लगभग २० वर्ष पहले तक।

---

‡ भार्गव, वही, पृष्ट २५९

* भार्गव, वही, पृष्ठ २६०

मृत्यु अथवा उत्तराधिकार कर कुल सम्पत्ति का १ प्रतिशत से लेकर ५० प्रतिशत तक ले लिया जाता है। यह कर दो प्रकार से लगाया जा सकता है।

१– मालिक की मृत्यु पर सम्पत्ति कर के रूप में। सम्पत्ति का मूल्यांकन उसके अन्य हाथों में जाने से पहिले ही कर लिया जाता है और कर भी पहले ही वसूल कर लिया जाता है, इससे वसूलयाबी में आसानी होती है और कर-चोरी की गुंजाइश कम रहती है।

२– उत्तराधिकार कर के रूप में उत्तराधिकारियों से अपने अपने भाग के अनुसार–

एक ही नहीं दोनों कर भी एक ही सम्पत्ति पर लगाये जा सकते हैं, पर मृत्यु कर में एक स्थिति का ख्याल रखना पड़ता है कि यदि मौतें जल्दी जल्दी हो जाँय तो कर बैठाने में ढिलाई बरतनी आवश्यक है। इंग्लैंड में तो नियम है कि यदि ५ वर्ष के अन्दर दो मौते मृत्युकर लागू करने वाली हो जाँय तो कर की दर में ढिलाई कर दी जाती है।

आडमस्मिथ की राय है कि यह कर बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित है और देने में बहुत ही आसान है।

उतार चढ़ाव

इस कर में उतार चढ़ाव भी कर दिया जा सकता है। इसके तीन तरीके भी शीराज बताते हैं–

१– सम्पत्ति के मूल्य के आधार पर–इंग्लैंड में १ से ५० प्रतिशत तक उतार चढ़ाव है।

२– मृतक के साथ उत्तराधिकारी के रिश्ते के आधार पर, नजदीकी से कम दर पर कर लिया जाय

३– उत्तराधिकारी के अपने भाग के आधार पर

आडम स्मिथ, रिकार्डो, मारशल आदि अर्थशास्त्रियों का मत रहा है कि मृत्युकर एक प्रकार से पूँजी पर लगाया हुआ कर है। आय पर कर लगाने से तो सरकार जनता का वह रुपया लेती है जो उसने कमा लिया है परन्तु पूँजी तो आगे के उत्पादन का साधन है। उसी की मदद से आगे की कमाई होगी, उसे छीन लेने से कमाई में बाधा पड़ेगी और धीरे धीरे सरकारी आय का भी स्रोत सूख जायगा परन्तु शीराज अर्थमंत्री का साथ देते हैं और कहते हैं कि यदि आप की पूंजी पर कर लगाया गया है तो उसे सम्पत्ति में से क्यों देते हो, आय में से दो। ध्यान रहे कि शीराज भारतीय विद्यार्थियों को पढ़ा रहा था और अंगरेजी शोषण नीति का पोषक था।

उसने रिग्नेनो नामक फ्रासीय आर्थ शास्त्री सभी का मर्थन किया है कि किसी न किसी बहाने सारी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो जाय। वह समाजवादी रिग्नेनो के नाम पर भारतीय सम्पत्ति को अंगरेजों के हाथ में ले जाना चाहता था।

भारत में मृत्यु कर ५०००० रु० की जायदाद के नीचे नहीं है। अगले ५०००० रु० पर ५% है और फ़िर बढ़ता गया है। २० लाख से ऊंपर के घन पर ४० प्रतिशत है। इंग्लैंड में १० लाख पौंड से ऊपर की जायदाद पर ८०% और अमेरिका में १ करोड़ डालरसे ऊपर की जायदाद पर ७७% है।

व्यक्ति कर

इसको अँगरेज लोग पौल टैक्स या कैपीटेशन टैक्स कहते हैं। यह वह कर है जो लगभग राज्य के प्रत्येक व्यक्ति पर लादा जाता है। संसार में सभी जगह यह कर रहा है। भारत में मुसलमान लोग गैर–मुस्लिमों से जज़िया के नाम से लेते थे। श्याम में व्यक्ति कर की आमदनी राज्य की सबसे बड़ी आमदनी है। फिलीपाइन में भी यही स्थिति है। अफ्रीका में सफ़ेद शासकों ने देशी लोगों पर भयंकर व्यक्तिकर लगा रक्खे हैं। यहाँ तक कि कुछ लोगों से तो यह कर हाथी दाँत के रूप में लिया जाता रहा है (जैसे कांगों आदि में) इन सफेद लुटेरों ने लूट का यह सीधा रास्ता निकाल रक्खा हैं।

कहीं कहीं व्यक्तिकर से बच्चों और ६० वर्ष से ऊपर बूढ़ों को बरी कर दिया जाता है जैसे कुछ समय पूर्व इंग्लैंड में। यह कर अफ्रीका में झोपड़ी कर के नाम से भी लिया जाता है। कहीं कहीं उसमें लिंगभेद, स्थितिभेद, जातिभेद आदि से उतार चढ़ाव भी दे दिया जाता है।

इस कर में सबसे बड़ी कठिनाई वसूलयाबी की है। उम्र पर झगड़े होते हैं। वसूली बहुत मंहगी और दिक्कत तलब होती है। सरकारें अक्सर कर वसूली ठेके पर दे देती हैं और ठेकेदार अमानुषिक अत्याचार भी करते देखे गये हैं। इंग्लैंड में तो इसी तरह के झगड़े से एक विद्रोह भी उठ खड़ा हुआ था।×

प्रत्यक्ष उपभोग कर

प्रत्यक्ष उपभोग करों के स्थान में अब परोक्ष कर लगा दिये जाते हैं। जिन पर परोक्ष करों के अध्याय में विचार किया जायगा। प्रत्यक्ष कर जो उपभोग कर अब भी लगते है और अच्छी आय भी देते हैं वे हैं मोटरगाड़ी कर, हथियारों के आज्ञा पत्र कर (licence) कुत्ता कर, नौकर कर, घरों पर खिड़की–कर आदि। मोटरों टैक्सियों आदि के क्षेत्रफल। बोझ आदि के हिसाब से कर में कुछ उतार चढ़ाव भी कर

× शीराज, वही जिल्द २, पृष्ठ ५८४

दिया जाता है । भारत में मोटरकर प्रान्तीय है और उसकी आय काफी अच्छी है । सन् १९५४–५५ में कुल प्रान्तों में सम्पूर्ण मोटर-कर आय मिल कर १२८८ लाख रुपये होने का अनुमान है ।

पेशाकर

पेशाकर असलमें पेशे पर कर नहीं बल्कि पेशे से हुई आय पर होता है । उस मद में खासतौर से वे लोग आते हैं जो कहीं नौकर नहीं हैं और भूमि पर भी काम नहीं करते और व्यापारी या कारखानेदार भी नहीं हैं । वकील, डाक्टर, फेरीवाले, नट, मदारी, लेखक आदि उस 'कर' के जरिये सरकारी आय में हाथ बटाने के लिये मजबूर किये जा सकते हैं । ये कर आय–कर की मद में भी आ सकते हैं, परन्तु जो आय-कर की छूट की हद में होने के कारण कर नहीं देते उनको इस पेशे कर में लिया जा सकता है । भारत में इस कर की कुल आय सन् १९५४–५५ में ८० हजार रु० कूती जाती है ।

१३

परोक्ष कर (सामान्य)

परोक्ष और प्रत्यक्ष में अन्तर

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर में बड़ा भारी अन्तर यह है कि प्रत्यक्ष कर को देने वाला जानता है कि वह अमुक रकम सरकार को कर के रूप में दे रहा है किन्तु परोक्ष कर वसूल करने में सरकार ऐसी तरकीबें करती है कि देने वाले को यथासाध्य पता न चले। परोक्षकर अकसर माल के दाम के रूप में, बढ़े हुए भाड़े के रूप में, कम की हुई मजदूरी के रूप में, आदि वसूल होता है। एक दो उदाहरण देने से स्पष्ट हो जायगा। गत महायुद्ध के पूर्व ज़ापानी माल भारत में भरमार करके चला आता था। भारत सरकार उस माल पर ५० प्रतिशत आयात कर लेती थी और फिर भी वह माल यहाँ बिकता था। अगर कर न लगता तो जो पेंसिलें २ पैसेमें मिलतीं, वह करके कारण ३ पैसे में मिलने लगीं। एक पैसा कर आपने दे दिया, आपने ३ पैसे पेन्सिल के दाम दिये, यह समझ कर नहीं कि इसमें एक पैसा कर का भी शामिल है।

तीर्थ पर रेल में जाते समय सरकार तीर्थ—यात्रा—कर टिकट के दाम में ही जोड़ देती है। आप टिकट का दाम समझ कर टिकट के पैसे देते हैं। यह पता भी नहीं चलता कि आपने इसमें 'कर' के दाम भी दिये हैं।

व्यक्तिवादी, पूंजीवाद की पोषक सरकारें जो अपने देश के जनसाधारण की परम भलाई में संलग्न नहीं है, बल्कि शोषण वर्गों की शक्ति पर आधारित है वे ही करों को परोक्ष बनाकर वसूल करती हैं। जनता की १०० प्रतिशत भलाई में लगी सरकार को कर छिपाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इस परोक्ष कर के साथ ही प्रश्न उठता है करापात का। सरकार जो भी कर वसूल करती है उनको सरकार के हाथ में कौन देता है ? जो सरकार के हाथ में देता है क्या वह उसका बोझ अपने से सरका कर दूसरे पर डाल सकता है या नहीं ? किसी कर का बोझ, किसपर कितना पड़ता है ? इन करों का प्रभाव क्या होता है ? ये सब प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

कराघात, करापात, कर--प्रभाव, कर विवर्तन

इससे पूर्व कि हम आगे बढ़ें कुछ पारिभाषिक शब्दों को समझ लेना आवश्यक है। हिन्दी में ऐसे शब्दों के अर्थ अभी स्थिर नहीं हुए हैं इसलिये यह और भी आवश्यक है। हम प्रयाग विश्वविद्यालय के कई प्राध्यापकों द्वारा लिखित 'अर्थ शास्त्र के मूलाधार' नामक हिन्दी पुस्तक के आधार पर इन परिभाषिक शब्दों को ले रहे हैं।

'कराघात' (impact) का आशय उस प्रतिक्रिया से है जो किसी व्यक्ति पर जिसे कर देने के लिये वाध्य किया जाता है, द्रव्य का त्याग करने तथा अन्ततः कर भार वहन करने के विचार या भय से होती है।

'करापात' (incidence) का आशय उस व्यक्ति की प्रतिक्रिया से है जिस पर कर का भार अन्ततः पड़ता है। यह उस पर पड़ता है जो अन्ततः कर देता है।

कर-प्रभाव' का तात्पर्य किसी कर के परिणाम स्वरूप समस्त सामाजिक ढाँचे तथा आर्थिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों से है।

'करविवर्तन' कर जिन व्यक्तियों पर लगाया जाता है अथवा जिनसे वसूल किया जाता है उन्हीं पर कर का भार अन्त में पड़े ऐसा आबश्यक नहीं है। बहुत से कर-दाता अपना कर भार दूसरों पर डाल कर आप कर-भार से मुक्त हो जाते हैं। इस सरकाने की क्रिया को कर-विवर्तन कहते हैं।

अब 'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष' करों के अन्तर को और स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रत्यक्ष कर तो वे हैं जिनका करापात उन्हीं व्यक्तियों पर होता है जिनपर सरकार डालना चाहती है अर्थात् प्रत्यक्ष करों का 'कराघात' और 'करापात' एक ही व्यक्ति पर होता है परन्तु परोक्षकर का कराघात तो प्रत्यक्ष होता है क्योंकि जिससे कर सीधे सरकार वसूल करती है उस व्यक्ति पर कराघात हुआ किन्तु कर-विवर्तन द्वारा करापात किस पर हुआ यह पता नहीं चलता। अतः जिन करों का करापात अप्रत्यक्ष है, परोक्ष है, वे परोक्ष कर हैं।

डाल्टन के अनुसार करापात का प्रश्न इस बात को समझना है कि कर विशेष को वास्तव में देता कौन है, अर्थात् उसके द्रव्य-भार को कौन उठाता है। द्रव्य-भार के अतिरिक्त 'वास्तविक-भार भी विचारणीय है। जितना कुल कर वसूल होता है (अर्थात् सरकारी खजाने में पहुँचा रुपया + वसूली में व्यय हुआ रुपया) उतना तो सीधा ही द्रव्य भार है ही। गरीब आदमी के उपर अमीर के बजाय, एक ही रकम देने में प्रत्यक्ष वास्तविक कर-भार अधिक होता है। गरीब की अर्थ व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ जाता है, यदि नमक पर कर बढ़ा दिया जाय तो जीवन की इतनी अधिक आवश्यक वस्तु से गरीब आदमी वंचित रह जायगा या कम खायगा। इसमें गरीब आदमी

पर परोक्ष वास्तविक-भार अधिक हो गया।

जब दूकानदार से नमक का कर वसूल कर लिया गया तो माल बिकने तक उसका रुपया अटका रहा। उसे व्याज की हानि हुई, यह उस पर परोक्ष द्रव्य भार हो गया।

यदि नमक पर कर लगाकर दूकानदार से वसूल किया जाय और नमक का भाव कम से कम कर—की तादाद के बराबर बढ़ जाय तो पूरा करापात क्रयी पर पड़ेगा और यदि दाम बिल्कुल न बढ़े तो पूरा करापात दूकानदार पर पड़ेगा। यदि कीमत कर की तादाद से कम बढ़ी तो करापात दूकानदार तथा क्रयी पर बढ़ जायेगा।

फिर कीमत किन कारणों से बढ़ या घट सकती है अर्थात् माँग और पूर्ति के सिद्धान्त, करके आधार वस्तु विशेष की माँग तथा पूर्ति के लोच आदि पर विचार करने से करापात का स्थान ढूँढा जा सकता है।

निर्लोचता का दबाव

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मांग के लोच के लिये बहुत कम स्थान छोड़ती है जीवन की लगभग हर आवश्यक वस्तु की पूर्ति किसी न किसी पूरी या अधिकाँश एकाधिकारी हाथों में है। मनुष्य को कर से बचने के लिये एक को छोड दूसरी वस्तु का सहारा लेने की स्वतंत्रता नहीं रही। विशिष्ट वस्तुओं पर तो कर है ही, नमक, चीनी, कपढ़ा, मकान, शिक्षा, तीर्थ, यातायात साधन, अन्न आदि, किन्तु अब तो विक्रय कर से किसी भी वस्तु को बरी नहीं किया जाता है। अतः माँग की लोच का प्रश्न केवल कतिपय वस्तुओं के कर अन्तर तक ही प्रभाव डाल सकता है अर्थात् हम अधिक कर-भार वाली वस्तु को छोड़ कर कम कर-भार वाली वस्तु का उपयोग करें। किन्तु यह भी करापात की व्यवस्था में सरकारों की योग्यता के विकास के कारण लगभग असम्भव सा हो गया है।

विक्रय-कर विवर्तन

शीराज विक्रय पदार्थों पर लगाये गये कर के विवर्तन के सम्बन्ध में ४ बातें बताते हैं—

१—पूंजी तथा श्रम बहनशील (mobile) है या नहीं। यदि पूंजी और श्रम शक्ति स्थानांतरित होने में स्वतंत्र है तो यह कर पूरी तरह उपभोक्ता पर विवर्तित हो जायगा, किन्तु यदि ऐसा नहीं है तो कर उत्पादक पर ही रहेगा।

२—प्रतिस्पर्धा हैं या एकाधिकार है। यदि एकाधिकार है तो कर उत्पादक पर पड़गा क्योंकि उसके दाम पहले ही ऊँचे से ऊँचे हैं, अब और बढ़ाने से हानि होगी तो

वह सहन कर लेता है। हाँ हानि और कर की तुलना करके दाम में फर्क कर सकता है। उस हालत में भी कर उसी पर पड़ेगा, कर रूप में या हानि रूप में।

३—मांग और पूर्ति के नियम का प्रभाव, इनके लोच के अनुपात में कर विवर्तन होगा और दोनों ओर यदि मांगे अधिक लोचदार हैं तो करके कारण बढ़े दामों से मांग गिर जायगी और उत्पादक को ही करापात सहना पड़ेगा।

४—कर की रीति और तादाद का भी प्रभाव होता है। यदि कर की तादाद बहुत कम है तो वह विर्तातित नहीं होता पर यदि वह बहुत अधिक है तो उत्पादक को दाम बढ़ाने का मौका मिल जाता है। वह कर ही विर्तातित नहीं करता बल्कि उसके साथ अतिरिक्त मुनाफा भी उठा लेता है।

कर की रीति का अर्थ यह है कि यदि कर उत्पादन की सीमा पर लगाया गया है तो पूरे उत्पादन का दाम बढ़ जायगा और यदि केवल अतिरिक्त (Surplus) पर ही लगाया गया है तो उतना प्रभाव दाम पर नहीं होगा। अतः विवर्तन का प्रश्न कम रह जायगा।

लोक--विवर्तन का सिद्धांत

कुछ अर्थ शास्त्रियों का मत है कि कर कभी किसी एक व्यक्ति पर नहीं पड़ता आर्थिक विकास समाज को एक आर्थिक निधि प्रदान करता है. उसी में से सब कर दिये जाते हैं। एक अर्थशास्त्री स्टीन का मत है कि सभी कर उत्पादन के मूल्य के भाग बन कर धीरे धीरे सभी नागरिकों के ऊपर पारस्परिक विनिमयों द्वारा जा पड़ते हैं अतः करापात का पता नहीं लगाया जा सकता। कनार्ड (१७५०–१८३३) का कहना है कि चूंकि शुद्ध उत्पादन (Net produce) श्रम, व्यापार तथा भूमि पर लागू होता है अतः कर इन तीनों पर पड़ते हैं। और उनकी राय है कि जैसे शरीर के एक भाग में से रुधिर निकाल लिया जाय तो उससे अकेले में खून कम नहीं होता बल्कि वह कमी सभी भागों में बट जाती है, उसी प्रकार एक भाग पर कर लगाया हुआ सभी पर जा पड़ता है।

सैलिगमैन का कहना है कि कर जितने ही अधिक हाथों में होकर निकलते हैं उतने ही हलके होते जाते हैं पर उस समाज में, जो खुश हाल है। स्थिर अथवा ह्रासो-न्मुख समाजों में वे उन पर पड़ते हैं जो उस समय खुश हाल नहीं हैं।

निम्नतम पर अधिकतम भार

इस प्रकार लोक–विवर्तन सिद्धान्त बिल्कुल ही सारहीन नहीं हैं। प्रत्यक्ष कर हालाँकि कराघात तथा करापात को एकही कर देता है फिर भी कुछ प्रत्यक्ष कर

भी अंशतः तो विवर्तित होते ही हैं। भूमिकर, मकान कर, किराये की वृद्धि तथा उपज की मूल्य वृद्धि के रूप में उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर दिये जा सकते हैं। उत्तराधिकार करों के विवर्तन में भारी कठिनाई है अवश्य, उपभोग कर भी अंत में जा कर आर्थिक सीढ़ी के निम्नतम डण्डे पर खड़े हुए लोगों पर ही जाकर पड़ते हैं। क्यों कि पारस्परिक अर्थ विनिमयों द्वारा धीरे धीरे विवर्तन होता रहता है और जो जितना निचली सीढ़ी पर है उस पर उतना ही भार अधिक पड़ता जाता है।

१४

परोक्षकर (विशेष)

तटकर-- (आयात, निर्यातकर)

तटकर वह कर है जो देश की सीमा पर देश में आने वाले या बाहर जाने वाले माल पर लिया जाता है। तट का अर्थ है किनारा, अर्थात् सीमा, चाहे वह जलीय हो अथवा भौमिक। राजस्थान में जब अनेक राज्य थे तो हर राज्य अपनी सीमा पर माल से 'कर' लिया करता था। इसे 'उतराई' कहते थे। यही विलायत में 'कस्टम ड्यूटी' कहलाता है, सम्भवतः इसलिये कि ऐसी रीति बहुत पहले से चली आई है।

पहले तो ख्याल यह था कि यह कर व्यापारियों के लाभ पर है परन्तु अब उस बात का विचार नहीं रहा। अब यह एक परोक्षकर है जिसे सम्भव हो तो व्यापारी उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर सकता है।

तटकरके उद्देश्य

इस तटकर के दो प्रकार के उद्देश्य होते हैं जैसाकि हम पहले जिक्र कर चुके हैं।

१—सरकारी आय प्राप्त करना

२—माल को आने या जाने से रोकना अथवा कम करना।

अधिकांशतः यह समझा जाता था कि तटकर विदेशियों पर ही पड़ता है परन्तु अब अधिक व्यापार विकास के फलस्वरूप यह स्थिति आवश्यक नहीं रही, दूसरे स्थिति के गम्भीर अध्ययन द्वारा भी इस बात की वास्तविकता में अन्तर प्रगट हो गया।

सरकारी आय प्राप्त करने की दृष्टि से निर्यात कर उन चुनी हुई वस्तुओं पर ऊँचा लगाया जाता है जिनका अपने देश में एकाधिकार सा है। जैसे भारत में जूट (सन), अफ्रीका में हीरे आदि। उपभोक्ता जो विदेशी हैं उन्हीं पर यह निर्यात कर पड़ेगा क्योंकि उनको माल लेना ही होगा। परन्तु जहां प्रतिस्पर्धा है अथवा मांग में लोच है वहां करापात विदेशी पर ही होना आवश्यक नहीं है।

आयात कर जब लोक आय के लिये लगाया जाता है तो उसका करापात मांग

की लोच पर ही निर्भर रहता है। कर ऐसी वस्तुओं पर लगाना चाहिये जिनकी माँग लोचरहित सी है, जिसके बिना देश का काम न चल सके। उस अवस्था में पूर्ण करा-पात देश की जनता पर ही होगा, किन्तु यदि वस्तुएँ आवश्यक भी हैं और विदेशी पूर्तिकारों में कई में प्रतिस्पर्धा है तो कर विदेशियों पर पड़ जायगा। जापान ने भारी कर सह कर भी अपना माल इंग्लैंड, अमेरिका आदि की स्पर्धा में यहां बेचा।

जहां तटकर रोक के लिये लगाया जाता है वहाँ देशी उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। उस अवस्था में कर विदेशियों को देना पड़ता है क्योंकि देशी उद्योग की अपेक्षा इन्हें माल सस्ता बेचना है। अत: आयात के भारी कर को सह कर भी वे माल सस्ता बेंचेंगे पर बाहरी व्यापारी या उत्पादक ऐसा कर उसी अवस्था में सहन करता है जब या तो कर केबल उसके मुनाफे को कम करता हो अथवा उसे फ़िलहाल हानि उठाकर भी बाद में उसे भर कर अच्छे मुनाफे की पूरी आशा हो, या जबकि उसे बाजार पर कब्जा करना हो।

निर्यात कर देश के माल को बाहर जाने से रोकने के लिये होता है और जब वह लोक-आय के लिये नहीं रोक के लिये है तो कर बिदेशी पर ही पड़ेगा। उस कर से देश का माल देश ही में उपयोग में आता है और सस्ता भी होता है।

भारत में कच्चे माल के निर्यात पर रोक के लिये निर्यात कर लगा कर देशी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

तट कर से लोक आय का काफी बड़ा अंश प्राप्त हो जाता है।

भारत में तटकर आय ×

करोड़ रुपये

वर्ष	आयात कर	निर्यातकर	योग	कुल कर-आगम का प्रतिशत
१९३७-३८	४१.३२	१.७९	४३.११	६१.६
,, ३९-४०	४४.३७	१.५१	४५.८८	५६.९
,, ४३-४४	२५.५१	१.०६	२६.५७	१५.५
,, ४७-४८ (७॥ मास)	५६.४५	१३.०३	७२.४८	४४.७
,, ४८-४९	१०१.१६	२५.००	१२६.१६	३९.४
,, ५१-५२	१४०.९५	९०.७४	२३१.६९	५०.४
,, ५२-५३	११७.७८	५५.९७	१७३.७५	४७.०
,, ५४-५५	१३४.५०	४०.५०	१७५.००	४६.८

× Bhargava—Public Finance—p. 300

उपर्युक्त अंकों में केवल केन्द्रीय सरकार की ही आय सम्मिलित है प्रान्तों या राज्यों की नहीं। इन अंकों से यह स्पष्ट ही है कि १९३७-३८ में कुल कर- आगम का ६१।। प्रतिशत तक केवल तट कर से वसूल हो जाता था। युद्ध के उत्तरार्ध में तटकर आय एक दम गिर गई। कारण प्रत्यक्ष ही है। बाहरी माल ब्रिटेन को छोड़-कर अन्य देशों से बहुत कम आया। स्वतंत्रता के बाद तट कर-बढ़ना आरम्भ हुआ। न केवल तादाद में, यथा १९३७-३८ के आयात कर की आय ४१.३२ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५१-५२ में १४०.९५ करोड़ रुपये हो गई, पर साथ ही प्रतिशत में भी युद्ध काल की अपेक्षा वृद्धि हुई। वह १५.५ से बढ़कर ५०. ४ प्रतिशत हो गई।

तटकर के रूप

तटकर दो रूपों में लगाया जाता है। (१) मूल्यानुसार और (२) विशेष्य

मूल्यानुसार (ad-valorem)

मूल्यानुसार तटकर वस्तु के मूल्य के प्रतिशत के रूप में लिया जाता है किन्तु विशेष्य तटकर में प्रत्येक वस्तु की नाप तोल के आधार पर अलग अलग कर की दर तै की जाती है। मूल्यानुसार में भी कर की दर अलग अलग वस्तुओं पर अलग अलग हो सकती है।

विशेष्य (Specific) तटकर

यह तटकर अधिक सुगम होता है। नाप तोल का काम प्रत्यक्ष है। अत: अफ-सरों को कर की रकम तै करने में सिर्फ नापतोल या गिनती करनी पड़ती है कभी कभी कर में उतार चढ़ाव लाने के लिये और भी विशेषताओं पर विचार कर लिया जाता है। जैसे कपड़े में प्रति वर्ग इंच कितने तार हैं। परंतु मूल्यानुसार कर में सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि मूल्य कैसे निश्चित किया जाय। मालवाला व्यक्ति मूल्य को छिपाने की कोशिश करता है। इस लिये अफसरों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे विभिन्न वस्तुओं के दैनिक भावों से परिचित रहें। अब तो समाचार-पत्रों द्वारा यह सुबिधा भी बहुत बढ़ गई है। फिर भी कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती हैं जिनके भाव बाजार में रोज नहीं निकलते। अफसरों को वस्तुओं की किस्मों के मूल्यवान बारीक अन्तरों से भी परिचित रहना आवश्यक है।

विशेष्य कर में एक बुराई यह है कि उसका करापात प्रतिगामी (Regre-ssive) होता है। कम कीमती चीजों का आकार अधिक हो तो मूल्य के अनुपात में कर अधिक लग जाता है। तमाखू जो कीमती है उसके बजाय सस्ते का आकार अधिक होता है और उस पर कर अधिक लग जाता है।

विशेष्यकर मूल्य में घटा बढ़ी के साथ घटता बढ़ता भी नहीं है, इससे हानि लाभ दोनों ही हो सकते हैं।

तटकर मूल्यन (Tariff valuation)

एक तीसरा रूप भी तटकर का होता है। उस रूप में उक्त दोनों रूपों के लाभदायक भागों को मिलाने का प्रयत्न किया गया है। इसको हम तटकर-मूल्यन कह सकते हैं। इसके अनुसार सरकार विभिन्न वस्तुओं के मूल्य हर वर्ष वर्ष भर के लिये निश्चित कर देती है और बहुत ही असाधारण घटा बढ़ी की अवस्था के अति-रिक्त मूल्य में परिवर्तन नहीं करती। इसमें विशेष्य कर की बुराई बहुत कुछ दूर हो जाती है और मूल्यानुसार कर के मूल्य तै करने की कठिनाई भी हल हो जाती है। अफसर और व्यापारी दोनों का काम आसान हो जाता है। व्यापारी भी पहिले से जानता है कि उसे इतनी रकम कर में देनी होगी। उसी आधार पर वह सौदा करता है।

सरकार के दृष्टिकोण से विशेष्य तटकर अधिक उपयोगी होते हैं क्योंकि इनमें बहुत ऊँचा कर भी मूल्यानुसार कर की भांति दृष्टि में चुभता नहीं है।

संरक्षण के लिये लगाये गये तटकरों की आय निश्चित नहीं हो सकती। उन पर सरकार को निर्भर नहीं रहना चाहिये। संरक्षणीय तट कर दो दृष्टि से लगाया जा सकता है, एक तो देशी उद्योगों को इतना ही संरक्षण देने के लिये कि बाहरी माल उससे स्पर्धा में सस्ता न विके इसलिये सिर्फ इतना कर लगाया जाता है कि देशी माल का दाम बाहरी से अधिक है। दूसरे बाहरी माल को कतई रोक देने के लिये, जैसे इंगलैंड में भारतीय छींट पर ३०० प्रतिशत तक तट कर लगा कर रोका गया था।

उपभोग पर आन्तरिक कर

आबकारी और चुंगी—ये कर साधारणत: आन्तरिक उत्पादन की वस्तुओं पर उनके उपभोग के लिये बिक्री से पूर्व लगाये जाते हैं, या तो उनके बनने की अवस्था में अथवा उपभोक्ता के हाथ में पहुँचने के पूर्व, विक्रय कर लगने के भी पहले। आबकारी कर तो हैं ही उत्पादन कर। कर बहुधा सरकारी एकाधिकार की वस्तुओं पर नहीं लगाया जाता. शराबों, अन्य पेयों, पेत्रोल, चीनी, तमाखू, दिया सलाई आदि पर खास तौर से ये कर लगते हैं। इंग्लैंड में वीयर, शराबों, पेटेन्ट दवाओं, सोडा वाटर आदि पेयों, आमोदों, दियासलाई, कुछ खास पेशों और व्यापारों के लाइसेंस के रूप में, जैसे गिरवीदारों (माल पर ऋण देने वाले) महाजनों, नीलाम करने वालों ताम्बूल फरोशों, शराब फरोशों, शराब बनाने वालों, फेरी वालों, जायदादी दलाल, बीमा दलाल, शिकारगाही, शिकार फरोश, कुत्ते, बन्दूक और शिकार आदि से ये कर लिये जाते हैं। भारत में नमक पर आबकारी नहीं ली जाती, चुंगी में विक्रय कर

शामिल नहीं किया जाता। वह अलग से दूकानदार पर लगता है।

भारत में आबकारी कर शराब, गांजा, चरस, भाँग, अफीम, दियासलाई, नमक पर लगता है। नमक कर को बिल्कुल अलग कर दिया गया है।

आबकारी की अधिक वसूली के लिये आवश्यक है कि जिस पर कर लगा है उसका उपभोग बहुत अधिक होता हो।

चुंगी, तथा आबकारी में अन्तर

चुंगी और आबकारी करों में अन्तर है। चुंगी तो वह कर है जो माल के एक शहर या जिले की हद में होकर गुजरने की सीमा पर लिया जाता है और आवकारी कर का सीमा में गुजरने से कोई सम्बन्ध लहीं, यह तो उत्पादन पर कर है।

चुंगी से शहरी म्यूनिसिपैलिटियों को भारी लाभ होता है अवश्य, परन्तु इसकी वसूलयावी में भारी व्यय होता है। दूसरे, व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। भारत में आबकारी और चुंगी दोनों ही कर अच्छी आय दे रहे हैं पर अधिकांशतः अन्य देशों मे चुंगी कर हटा दिये गये हैं।

स्टाम्पकर या रजिस्ट्रीकर

स्टाम्प कर वास्तव में कोई अलग करप्रणाली नहीं बल्कि करों को एकत्र करने का एक तरीका है। इनके दो भाग किये जा सकते हैं——

१— न्यायिक

२— न्यायेतर

पहले भाग में तो न्यायलयों में पेश किये जाने बाले कागजातों पर लगनेबाला स्टाम्प कर आता है। उसको शुल्क कहा जा सकता है क्योंकि उसके बदले में करदाता को कुछ मिलता है।

दूसरे भाग में वे स्टाम्प कर आते हैं जो बैध अधिकारों के कागजातों पर लगते हैं जैसे स्टाक, शेयर, रक्षितशेयर, भूमि, अन्य जायदाद, चैक, हुण्डी, रुक्का, रसीद, कम्पनियों की शेयर पूंजी आदि। कुछ लोग इन कागजात को तीन भागों में बाँटते हैं।

१— ठेके—— अधिकार के कागज, जैसे हुंडी, बीमा- पालिसी,

२—जायदादी कागज—जैसे गिरवीनामा, बैनामा, सरकारीं ऋण पत्रक का बदला

३— विशेषाधिकार पत्र— रायबहादुर, लार्ड आदि होने के खिताब पत्रक

अर्थशास्त्री लोग स्टाम्प कर में दोष बताते हैं। एक तो यह कि यह कर योग्यता के अनुसार अधिक सम्पन्न पर नहीं ग़रीब पर पड़ता है। दूसरे इसमें कर देय क्षमता के अनुसार उतार चढ़ाव नहीं हो सकता। तीसरे इस करसे व्यापार और वित्तीय मामलों में हमेशा झंझट होता है।

शुल्क स्टाम्पों में न्यायिक स्टाम्पों के अतिरिक्त भूमि रजिस्ट्री शुल्क, कम्पनी रजिस्ट्री शुल्क आदि भी आते हैं।

जरमी बेंथम का कहना है कि न्याय स्टाम्प तो एक प्रकार से न्याय पर कर है। जो व्यक्ति यह कर नहीं दे सकता उसके लिये न्यायालय में कोई स्थान नहीं है।

स्टाम्प कर लगाते समय तीन बातों पर ध्यान रखना लाभ कर होगा—

१– कर उतना हो जितना कि उसके लगाए हुए कागज से फायदा होने वाला हो

२– क्रमागत ह्रास नियम अर्थात् जितना लोग दे सकें।

३– किसी जाति या श्रेणी की कठिनाई का ध्यान रखकर।

द्यूतकर

परोक्ष करों में ही जुए पर लगाये जाने वाले कर शामिल हैं। लाटरी, घुड़दौड़, कुत्ता दौड़, ताश, सट्टा आदि सभी जुए हैं। इनपर कर लगाना कई लोग तो बुरा समझते हैं। उनका कहना है कि जुए पर कर लगाने का अर्थ हुआ उसे वैधता प्रदान करना और इससे जो खराबी छिपी हुई है वह खुलकर फैलेगी। किंतु उसे छिपे छिपे चलने देना भी कोई इलाज नहीं है और फिर कोरे वित्तार्थी के सामने तो केवल एक प्रश्न होता है कि क्या कर विशेष काफ़ी अच्छी आय दे सकेगा या नहीं।

भारत में घुड़दौड़ और लाटरियों पर लगाये हुए कर काफी अच्छी आय देते हैं। ये कर आज्ञा पत्र शुल्क तथा सट्टे की रकम दोनों के आधार पर लिये जाते हैं। अभी ताश के जुए पर कर यहाँ नहीं है। हाँ शेयर बाज़ार के विनिमयों पर स्टाम्प कर के रूप में कर ले लिया ही जाता है। भारत में सट्टे की आय स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में लगभग ३ करोड़ रुपये रही है।

आमोद कर

आमोद कर अब लोक-आय का एक काफी महत्वपूर्ण मद बन गया है। इसके अन्दर सिनेमा, नाच, नाटक, खेल, दंगल मेले आदि सभी आनन्द मनाने के साधन आते हैं। सिनेमा की टिकट पर लगाया जाने वाला कर अकेला ही बड़ी भारी रकम एकत्र कर लाता है। सिनेमा अब जीवन में स्थायी रूप से प्रविष्ट हो गया है अतः वह निश्चित और स्थायी आय है और उसमें उतार चढ़ाव भी टिकट की दर के आधार पर है। अतः कर न्याय्य है। अन्य आमोद प्रमोद के साधन भी आय के अच्छे दाता हैं।

कुछ का कथन है आमोद प्रमोद पर कर लगाने का अर्थ है लोगों के स्वास्थ्य तथा सुमनस्कता को दबाना। परन्तु वित्ताधिकारी तो दबाने की दृष्टि से नहीं आय की दृष्टि से कर लगाता हैं। कुछ का कथन है कि यह कर अ-समान है क्योंकि कुछ आमोदों पर कर नहीं हैं।

कर की वसूलयावी संचालकों से आज्ञापत्र शुल्क के रूप में तथा टिकट कर के रूप में की जाती है। वसूली आसान है क्योंकि मालिकों या संचालकों के जिम्मे कर बसूली कर दी जाती है।इस कर की दरें, जैसा कि हमने कहा, 'प्रगामी होती हैं।

कुछ आमोद जो शिक्षाप्रद, वैज्ञानिक और लोक लाभ के लिये बिना टिकट किये जाते हैं उन पर आमोद कर छोड़ दिया जाता है। भारत में आमोद कर सन् १९५१–५२ में लगभग ६३१ लाख रुपये खजाने में लाया था।

विक्रय कर

विक्रय कर, विनिमयकर अथवा क्रयकर, एक ही प्रकार के कर के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दिये गये नाम हैं। जब हम कोई वस्तु खरीदते हैं तो उस पर कीमत के अनुसार कुछ रकम कर रूप में भी देनी पड़ती है। यही खरीददार के लये क्रय कर है और दोनों के लिये (विक्रेता के लिये भी) विनिमय कर है, यही विक्रय कर है परन्तु उसके रूप मे थोड़ा अन्तर इस अर्थ में है कि दूकानदार ग्राहक से इस कर को वसूल कर लेता है और सरकार उससे बाद में इकट्ठा वसूल कर लेती है। कभी कभी सरकार इतना फर्क करती हैं कि यह कर उन्हीं पर लगता है जिनकी विक्री एक निश्चित रकम के ऊपर ऊपर होती है और एक निश्चित विक्री पर ही कर ले लिया जायगा। अपनी विक्री बढ़ा कर यदि दूकानदार की आमदनी अधिक हो गई तो उस पर वह छोड़ दिया जाता है।

उस कर को छिपाया भी बहुत जा सकता है। दूकानदार बिना रसीद काटे भी विक्रय कर लेते हैं और कर दर्ज ही नहीं होता।

विक्रय कर का क्षेत्र बहुत विस्तृत या सीमित किया जा सकता है। चाहे तो उसे केवल उत्पादकों पर ही लगा कर छोड़ दिया जाय अथवा कुछ वस्तुओं को छोड़ दिया जाय। फ्रांस में किसान के सामान पर कर नहीं था। आटा, चीनी, चाय, काफी, खाद, गाय, भैंस, बकरी, सुअर की जिवह, घोड़े, कोयला पर विक्रय कर नहीं था परन्तु इन पर विक्रय विन्दु तक आने के पूर्व का स्थान पूर्ति (Replacement) कर लगाता था, जो कि विक्रय कर के रूप में ही कारखानेदार को देना पड़ता था।

भारत में कुल विक्रय कर पेट्रोल विक्रय कर को शामिल करके १९५४–५५ के बजट में जो आय अनुमानित की गई है सभी प्रान्तों में मिलाकर वह इस प्रकार है—

	पेट्रोल वि० कर	सामान्य वि० कर	कुल
अ राज्यों का योग	६५२ लाख रु०	४७१० ला० रु०	५३६२ ला० रु०
ब ,, ,, ,,	७१ ,, ,,	८४७ ,, ,,	९१८ ,, ,,
कुल योग	७२३	५५५७	६२८०

इस प्रकार कुल भारत की विक्रय कर से आय एक भारी रकम है लगभग ६३ करोड़ रुपये जो कुल भारतीय सरकारों की आय का लगमग दसवां भाग है ।

विक्रय कर में उतार चढ़ाव भी है । शिक्षा आदि की वस्तुओं, पाठ्यपुस्तकों, कापियों, स्लेटों, कलम, स्याही आदि पर विकय कर कम और ऐश की वस्तुओं पर अधिक लगता है ।

कुछ लोगों की राय में विक्रय कर में कई दोष हैं ।

१– इसकी वसूलयाबी कठिन है । परन्तु यह दोष नहीं रहता जब कर बड़े विक्रेता से वसूल कर लिया जाता है । उसके जरिये एक बार के विक्रय का कर आ गया परन्तु उपभोक्ता तक पहुँचने तक सभी बीचवाँलों से भी हर विक्रय विन्दु पर कर लेना हो तो प्रत्येक विन्दु के विक्रेता से कर वसूल करना होगा ।

२– माल बनाने के कई अलग अलग स्तरों को एक साथ मिलाने को वाध्य करता है क्योंकि हर स्तर अलग होकर अधूरे तैयार माल को दूसरे स्तर के कारखाने दार के हाथ बेचने में विक्रय कर देना होगा । इस प्रकार जिन लोगों के माल को कच्चे से तैयार अवस्था में लाने के सभी स्तर एक ही जगह संगठित हैं वहाँ कर एकही बार अन्त ही में देना पड़ता है और ऐसे लोगों का माल बाजार में अधिक सस्ता पहुँचेगा तो छोटा कारखानेदार पीछे रह जायगा । परन्तु छोटे कारखानेदार को इस प्रकार से वरी किया जा सकता है और एक आज्ञापत्र शुल्क उससे ली जा सकती है ।

३– इसका आपात विवर्तित होकर व्यय पर पड़ जाता है और गरीब लोग जिनका सारा व्यय आवश्यकताओं पर ही होता है प्रतिगामी कर के शिकार हो जायंगे उसका कर भार असमान होता है ।

विक्रय कर विवर्तित हो ही जाता है क्योंकि अब तो बाकायदे रसीद पर विक्रय कर जोड़ कर ग्राहक से वसूल किया जाता है परन्तु यदि माँग कम है और ग्राहक को पटाये रखना है तो दूकानदार अपने दाम में कमी करके कर को स्वयं भुगत लेता है ।

१५

करभार और कर प्रभाव

रूपरेखा

कर भार का तात्पर्य कई दृष्टियों से लगाया जा सकता है। कुल देश में जितना कर वसूल होता है चाहे केन्द्रीय वजट के लिये, या प्रान्तीय अथवा स्थानीय, वह सब मिलाकर देश भर पर कितना बोझ डाल रहा है, या प्रति व्यक्ति वह कितना पड़ता है अर्थात् देश की कुल जनसंख्या का भाग कुल कर योग में दे दें तो भागफल प्रतिव्यक्ति कर भार होगा। यह भी तात्पर्य होता है कि कुल कर-योग में केवल उन व्यक्तियों की संख्या का भाग दें जो वास्तव में कर देते हैं परन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह ज्ञात करने में होती है कि कौन कर देता है और कौन नहीं। प्रत्यक्ष करों के कर-दाता तो प्रत्यक्ष ही रहते हैं किन्तु परोक्ष करों का करापात किस किस पर नहीं हुआ यह मालूम करना महाकठिन समस्या है। अतः इस तात्पर्य को कभी अंको में लाने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ। कर भार का एक और अर्थ भी लगाया जाता है। वह है आय के समक्ष कर भार। कुल राष्ट्रीय आय जोड़ ली जाती है और कुल कर-योग का उससे अनुपात निकाल लिया जाता है। आय के छठवें और चौथे भाग तक तो करों में ले लेने की अनुमति मनु भी देता है किंतु इस में सबसे बड़ी कठिनाई होती है राष्ट्रीय आय निकालने में। वैयक्तिक सभी आयों का लेखा जोखा पूरा नहीं रहता। हाँ अब कर, उत्पादन और आय के प्रत्येक रूप पर, प्रतिव्यक्ति तक फैलता जा रहा है। समाज का उत्पादन और वितरण संगठन भी व्यवस्थित होने की ओर बढ़ रहा है तो आगे राष्ट्रीय आय का सही सही अन्दाजा लग सकेगा।

कुछ लोगों ने यह यत्न भी किया है जो आसान है। कुछ कुटुम्बों की आय और उनपर लगे करों के आधार पर व्यक्तिगत कर-भार निकाल लिया। परन्तु यह मनमाना चुनाव राष्ट्रीय कर-भार का सही अन्दाज नहीं दे सकता। कर-भार इस दृष्टि से भी सोचा जाता है कि किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति की तुलना में कर-भार कितना है। अर्थात् जिस व्यक्ति के घर में ५ आदमी हैं और आमदनी कुल, अनिवार्य आवश्यकताओं जैसे रोटी, कपड़ा, घर आदि के लिये भी काफी नहीं है, उस

पर भी कर है, प्रत्यक्ष या परोक्ष। उस पर कर-भार कितना है, इस में परोक्ष कर-भार मालूम करना कठिन समस्या है।

कर-भार तुलना

कर भार की तुलना तीन प्रकार से की जाती है।

१ एक ही देश में कुल सापेक्ष कर भार की तुलना विभिन्न समयों की करना

२ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के भार की तुलना एकही देश में एकही, अथवा भिन्न समयों की करना

३ कुल सापेक्ष कर-भार की विभिन्न देशों में तुलना करना

परन्तु इस प्रकार की तुलनाओं में भारी कठिनाइयाँ पड़ती हैं, विशेषकर भिन्न भिन्न देशों के कर-भारों की तुलना में। जो देश औद्योगिक है, जिनकी आयें अच्छी हैं, वहाँ के लोगों को आय की चौथाई दर तक भी कर बोझिल नहीं होता परन्तु भारत, ईरान, तुर्की, मलाया आदि देशों की जनता लगभग भूखी मरती है। उन पर पड़े कर-भार की तुलना अमेरिका के संयुक्त राज्य या संसार शोषक ब्रिटेन से कैसे होगी। फिर कर के तरीके का प्रश्न है। जिन देशों में करापात उत्पादन की वृद्धि की ओर है वहां कर भार है ही नहीं जैसे रूस, चीन, जेकोस्लोवेकिया। कर-भार का अर्थ जहाँ कर–प्रभाव की दृष्टि से सोचा जायगा वहाँ कर-भार क्या क्या कर गुजरता है यह ध्यान में आ जायगा। अकसर वैयक्तिक अर्थ व्यवस्था वाले देशों में कर भार औपनिवेशिकों को उत्पादन उाधनों का सत्यानाश करता है और उनकी बची खुची शक्ति शोषकों के हाथ में दे देता है; अफ्रीका और मलाया इसके काले से काले उदाहरण हैं। शीराज पूर्वाग्रिह के कारण परोक्ष कर भार को नहीं समझना चाहता।' शीराज पृष्ठ ६९७,

आर्थिक– उपनिवेशों में यही बात कुछ हल्के रूप में होती है। भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अमेरिका, ब्रिटेन जैसे पूंजीवादी और शोषक देशो में वह उत्पादन बढ़ाता अवश्य है परन्तु उत्पादित सम्पत्ति को सामान्यों से छीन कर कुछ गिने चुने गुटों के हाथ में देता है।

कर चुभन के कारण

कर-भार के चुभने के चार कारण बताये जाते हैं—

१– कर के बदले में प्रत्यक्ष कुछ नहीं मिलता

२– कर देना अनिवार्य होता है अतः बोझ चुभता है

३– रुपया जो निजी व्यय या बचत में आता उसे सरकार ले जाती है

४– सरकार-संस्था के विकास के कारण उसकी आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं अतः कर भार बहुत बढ़ गया है।

कर वृद्धि के कारण

कर में वृद्धि के मुख्यतः तीन कारण होते हैं——

१– युद्धों के लिये लिये हुए ऋणों की तादाद बढ़ने से ब्याज और मूल चुकाने के लिये

२– सरकार के कामों में वृद्धि जैसे शिक्षा, समाज़ कल्याण

३– कीमतों में सर्वतोमुखी वृद्धि

देशीय तुलना

कर-भार की तुलना करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। शीराज ६ बातें ध्यान रखने लायक गिनाता है जब हम एक ही देश के विभिन्न समयों के कर-भार की तुलना करने बैंठें—

१–जनसंख्या तथा सम्पत्ति

२– कर योग्यता

३– लोक व्यय का रुख

४– प्रत्यक्ष और परोक्ष करों का व्यापार पर प्रभाव

५– क्या तुलना के समयों में बाहरी ऋण है या नहीं, आन्तरिक भी

६– जनसंख्या और सम्पत्ति को दृष्टि में रख कर कर का बचत पर प्रभाव

इन पर एकही देश के संबंध में विचार करना इतना कठिन नहीं जितना अन्त-र्राष्ट्रीय तुलनाओं में है।

अन्तर्राष्ट्रीय तुलना

अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाओं में और अधिक बातों पर विचार करके तुलना हो सकेगी।

१– प्रति देश में कुल कर कितना डाला जाता है

२– राष्ट्रीय आय से कर आय का प्रति नागरिक अनुपात

३– प्रति देश के लोक व्यय का उत्पादन की ओर रुख

४– केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय लोकवित्तों के संबंध

५– जीवन का स्तर और सामाजिक अवस्था

६– आय और सम्पत्ति के विस्तार का अनुपात

७– कर प्रणाली में आय तथा सम्पत्ति के विस्तार के अनुसार करापात

८– उत्पादन साधनों की माँग के आधार पर देश की सामान्य औद्योगिक अवस्था

९– सार्वजनिक सेवी कार्य (Public utilities) राष्ट्रीय कम्पनियों

अथवा कारखानेदारों द्वारा हानि या लाभ पर चलाये जा रहे हैं।

१० जनता की मनस्थिति

कर-भार की अन्तर्राष्ट्रीय तुलना सबसे कठिन है। परंतु देश की लोकवित्त व्यवस्था को समझने के लिये है यह बहुत ही आवश्यक। यदि आज का भारत उन देशों की लोकवित्त व्यवस्था का अध्ययन करके उनके अनुभव से लाभ उठाना चाहता है, जिनकी सम्पूर्ण जनता आज उन्नतिशील और आर्थिकतः तथा मानसिकतः खुश-हाल है, तो भारतीय कर प्रणाली के कर-भार को कर-प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न देशों से तुलना करके देखना होगा।

कर भार—विभाजन

कर-भार के प्रश्न के साथ कर भार देश के विभिन्न नागरिकों में किस आधार पर विभाजित किया जाय यह प्रश्न भी बड़ा ही महत्वपूर्ण है। वित्त विभाग के समक्ष तो यह प्रत्यक्ष सवाल होता है कि बजट की आवश्यक आय करनी है, उसको इस ढंग से भी करना है कि विरोध कम से कम हो। अतः इसके कुछ तरीके ढूंढ लिये गये हैं। बहुत पहले से ही कर प्रणालियां हर देश में थीं। उनमें समय समय पर सुधार होते रहे हैं। आधुनिक काल में तीन आधार पेश किये गये हैं—

१— सरकार ने व्यक्ति को अपनी सेवा से जितना लाभ पहुंचाया उस लाभ की कीमत के बराबर उससे कर लिया जाय।

२— सरकारी सेवा जो व्यक्ति के हिस्से मे आई, उसकी कीमत के बराबर

३— व्यक्ति की देय योग्यता के आधार पर

इन तीनों पर यदि विचार किया जाय तो पहला आधार बड़ा आकर्षक है परंतु, उसका हिसाब लगाना बड़ा कठिन है कि किस व्यक्ति को कितना लाभ सरकारी सेवाओं से पहुंचा। देश की रक्षा, आन्तरिक शांति, सामाजिक प्रबंध आदि तथा वैयक्तिक आयों की भिन्नता, व्ययों और स्थितियों की भिन्नता। इन सबके प्रभाव इतने पेचीदे हैं कि लाभ का मूल्य लगा पाना बड़ा कठिन है। अतः यह सिद्धान्त व्यवहारिक नहीं है। दूसरे सिद्धान्त में भी यह बात लागू होगी। हालाँकि कुल लोक व्यय को कुल नागरिकों की संख्या पर बराबर बाँटने से औसत वैयक्तिक सेवा मूल्य निकल आयगा परंतु सभी को सेवा एक सी मिलती नहीं। अतः इसमें भी वही अव्यवहारिकता का दोष है। तीसरा सिद्धान्त यद्यपि पेचीदा है किन्तु अधिक व्यवहारिक है और वही आजकल कर भार वितरण का आधार बना हुआ है।

इस आधार में यद्यपि व्यवहारिकता है किंतु पेचीदगी कम नहीं है। किसी व्यक्ति की कितनी कर-योग्यता है और विभिन्न व्यक्तियों की कर-योग्यता का पार-स्परिक अनुपात क्या है, यह निश्चय करना बड़ा कठिन है फिर भी उसके लिये कुछ

आधार हैं। उन्हीं पर टिकाकर कर-भार का वितरण किया जाता है।

इस सम्बन्ध में यह विचार किया ही जा चुका है कि कोई एक कर अथवा एक ही तादाद का कर सभी नागरिकों के ऊपर बैठाना उपयोगी भी नहीं है और आज की अवस्था में सम्भव भी नहीं है। अतः कर कई होते हैं और कर-भार में उतार चढ़ाव कर दिया जाता है।

उतार चढ़ाव

उतार चढ़ाव के ४ रूप हैं—

१– समानुपातिक
२– प्रगामी
३– अंश– प्रगामी (Degressive)
४– प्रतिगामी

१– समानुपातिक कर-भार का अर्थ है कि आय अधिक हो अथवा कम परंतु कर की दर एक ही रहेगी। आय की तादाद बदलने से कर की दर नहीं बदलती सिर्फ दर के हिसाब से कर की कुल तादाद बदलती है।

२– प्रगामी कर वह है जिसमें आयों पर कर की दर कम होती है और अधिक आयों पर कर की दर ही बढ़ा दी जाती है अर्थात् आय वृद्धि के साथ कर की दर भी वृद्धि पाती जाती है।

३– अंश प्रगामी कर वह है जिसमें कि एक ही व्यक्ति की एक विशेष रकम की आय तक तो कोई कर नहीं लगता अथवा कम दर से लगाया जाता है और उसके ऊपर की आय पर समानुपातिक कर बैठाया जाता है।

४– प्रतिगामी कर वह है जिसमें कम आय वाले कर दाता पर अधिक दर का कर और अधिक आयवाले करदाताओं पर कम दर का कर लगाया जाता है अर्थात् आय की वृद्धि के साथ साथ कर की दर कम होती चली जाती है।

इन चारों प्रकार के कर-भार वितरणों में प्रगामी कर विवरण प्रणाली सबसे अधिक मान्य और व्यवहारिक रही है, कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि वित्तमंत्री को इससे क्या मतलब है कि समाज की व्यवस्था बुरी है अथवा अच्छी। किसी की अधिक आय है या कोई भूखा ही मरता है। उसे तो सरकारी व्यय के लिये आय करनी है। समानुपाती कर वितरण किसी स्तर में फर्क नहीं डालता अतः वही रहे।

इंग्लैंण्ड के कुछ अर्थशास्त्रियों का डर था कि प्रगामी कर से उद्योग धन्धों के लिये पूँजी एकत्र होने में बाधा पड़ती है परन्तु ये बातें औद्योगिक क्रान्ति के विकास के समय तो ठीक हो सकती थीं किन्तु आज प्रश्न दूसरा ही उठ खड़ा हुआ है। अस-

मानताओं की अति गहरी खाई पाटने के लिये प्रगामी कर-वितरण उपादेय हो सकता है। प्राचीन यूनान में सोलन के शासन के समय ऐसा ही कर वितरण था। भारत में कई जगह यही व्यवस्था थी। आडम स्मिथ तो उसके पक्ष में था ही, "यह अयुक्तियुक्त नहीं है कि धनी लोग इतना ही नहीं कि गरीबों के अनुपात में कर दें बल्कि उसके ऊपर कुछ और भी दें।× मौन्टैस्क्यू भी अपनी प्रसिद्ध १३ वीं पुस्तक 'नियमों का सार,' में इसी पक्ष में कह चुका है। फ्राँस की प्रथम राज्यक्रान्ति की सफलता के बाद वहाँ यही रूप अख्तियार किया गया था।

किन्तु इधर कुछ समय से प्रगामी कर-भार वितरण से सरकारें विमुख होती जा रही हैं। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्दर जब तक आर्थिक विकास होता रहा तब तक आयें बेतादाद बढ़ती रहीं और प्रगामी कर-प्रणाली ऊपर से ऊपर पहुंच गई। पूंजीवादी गुटों का सरकारों पर पूरा अधिकार हो गया। अब सामन्तवादी सरकारों की भाँति ही उन्होंने अपने ऊपर से कर-भार कम करके जन साधारण अर्थात् कम आय वालों पर कर का अधिक से अधिक बोझ डालना आरम्भ कर दिया है। अर्थात् कर भार वितरण अब प्रतिगामिता की ओर अग्रसर हो चुका है। और इसी नीति का फल है परोक्ष करों की एक दम वृद्धि। विक्रय कर, आबकारी, चुंगी, तटकर आदि। यह बात स्पष्ट होगी प्रत्यक्ष और परोक्ष करों द्वारा आयों की तुलना करने से। अंक परिशिष्ट में देखिये।

दुहरा कर

दुहरे कर का अर्थ है एक ही कर-आधार पर एक ही अथवा अधिक अधिकारियों द्वारा एक से अधिक कर लगाया जाना। एक ही व्यक्ति का घर यदि भारत में है तो भारतीय सरकार उससे अपना नागरिक होने के नाते कर लेगी। यदि उसी की जायदाद पाकिस्तान में है तो पाकिस्तानी सरकार जायदाद पर कर लगायेगी, यदि उसका उद्योग या व्यापार लंका में है तो लंका-सरकार उस पर कर लेगी। अब यद्यपि लंका–सरकार उसके लंका–स्थित व्यापार उद्योग पर और पाकिस्तान सरकार उसकी वहाँ स्थित जायदाद पर ही कर लेगी तथापि भारत सरकार उसकी कुल आमदनी पर जो संसार के किसी भी भाग से हुई हो, किसी भी ज़रिये से हुई हो, कर लेगी। इसप्रकार एक ही कराधार को दुबारा कर देना पड़ गया।

कई बार ऐसा होता है कि केन्द्रीय सरकार भी उसी कराधार पर कर लगाती है, प्रान्तीय भी और स्थानीय नगरपालिका अथवा जिला परिषद् भी। कहीं कहीं यह ख्याल कर लिया जाता है कि यदि भारत का नागरिक अपने लंका में अर्जित लाभ पर वहां कर दे रहा है तो यहां उस अंश पर उससे कर न लिया जाय किन्तु ऐसा

× राष्ट्रों की सम्पत्ति, जिल्द ३, अध्याय ३, पृष्ठ ३२४

तभी होता है जब दोनों सरकारों में इस प्रकार का कोई सम्बन्ध विशेष हो, जैसे इंग्लैण्ड की सरकार अंगरेजों से कमाए धन पर कर कम लेती अथवा नहीं लेती थी क्योंकि भारत में लिया कर भी एक परोक्ष रूप में उसी के पास आता था क्योंकि भारत सरकार उसके बिल्कुल अधीन थी,

इस प्रकार का बढ़कर भार करदाता के कराधारपर बहुत ही बोझिल हो उठता है। एक ही जहाज संसार के अनेक देशों में माल की ले दे करता रहता है। यदि वह हर सरकार को कर दे तो जहाजी काम चालू रखना असम्भव हो जायगा।

सुलझाव

इस प्रकार की कठिनाई से निकलने से लिये ४ प्रकार के तरीकों का उपयोग किया जा सकता है।

१– जो आय बाहर जाती हो उस पर कर माफी,
२– कर को सरकारें आपस में बांट लें,
३– निवासस्थान और सम्पत्ति मूल में कुल कराधार का वर्गीकरण,
४– विदेश में हुई आय पर कर माफी

१— कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना हैं कि ऋणी देश बाहर जाती हुई आय पर कर नहीं लगा सकता। वह ऋण चुका कर ही उसे रोक सकता है। परन्तु बाहर जाती हुई आय पर कर नहीं लगाने से देश में बाहरी पूँजी को आने में उत्साह मिलेगा। वे यह भूल जाते हैं कि बराबर के देश तो बाहर जाने वाली कमाई पर कर माफी का समझौता कर सकते हैं किन्तु जिनमें ऋणी और साहूकार अथवा राजनैतिक दासता का संबंध है वहां ऐसा समझौता दास देश को ठगने का एक बहाना मात्र ही हो सकता है क्योंकि दास देश के घर में मालिक देश के यहां से कोई भी आय आने से रही। इस प्रकार के समझौते के आर्थिक साम्राज्यवादी सरकारें, जैसे अमरीकी संयुक्त राज्य आदि भयंकर शोषण में सफल हो ही रही है। आज की आर्थिक ठगी के काल में विदेशी पूंजी का स्वागत देश को बरबाद करना ही है।

२— कर को बाँट लेने के जो प्रयत्न हुए वे उपनिवेशों और मालिक सरकारों में ही सम्भव हो सके हैं। स्वतंत्र सरकारें अपना हक छोड़ने को तैयार नहीं होतीं अतः यह अव्यवहारिक है और इस प्रकार दुहरा कर मिटाना कठिन है।

३— वर्गीकरण का तरीका संख्या २ का ही एक रूप है, उसमें दो वर्ग ही किये जाते हैं। सम्पत्ति का मूल स्थान और कर–दाता का निवास स्थान, सम्पत्ति के मूल स्थान में निम्न वस्तुएँ हो सकती हैं—

१–भूमि

२–खदानें, तेल कूपादि, व्यापारी कार्यालय
३–कृषि औजार, मशीनें, चिड़ियां, मवेशी
४–जहाज
५–बन्धक वस्तुएँ

और कर दाता के निवास स्थान के वर्ग में हो सकती हैं ये वस्तुएँ—

द्रव्य, आभूषण, सजावटी सामान आदि और आय पर बन्धक, कम्पनियों के शेयर, कम्पनी रुक्के, सरकारी ऋण पत्रक, साधारण लेना, पेशाई-आय। मोटे तौरपर कहें तो प्रत्यक्ष सम्पत्ति को मूल स्थान के वर्ग में रखना चाहिये, और अप्रत्यक्ष सम्पत्ति, जायदादी बन्धक के अतिरिक्त, निवास स्थान के वर्ग में आने चाहियें। इस प्रकार के वर्गीकरण पर यदि अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो जाय तो दुहरा कर भार बहुत कुछ हटाया जा सकता है।

४— विदेशी आय पर कर माफी भी एक तरीका दुहरे कर–भार को बचाने का है। परन्तु ऐसा बहुत कम सरकारें मानती हैं। आन्तरिक दुहरे कर भार को तो विभिन्न अधिकारी आपसी समझौते द्वारा अवश्य ही दूर कर सकते हैं। भारत में विक्रय कर के सम्बन्ध में जो दुहरापन था कि एक ही माल पर कई सरकारें विक्रय कर लगा देती थीं वह अब प्रान्तों में तत्संबंधी समझौतों के फलस्वरूप दूर हो रहा है। अमेरिका में भी राज्य और संघीय सरकार दोनों ने मिलकर उसे कुछ सम्हाला है।

भारत में कर-भार

हमारे देश में कर का भार बहुत ही भयंकर है और प्रभाव तो और भी अनिष्ट कारी है। यह सर्वमान्य सा ही है कि राष्ट्रीय आय की तुलना में कुल कर की रकम लगभग ४ से लेकर ७ प्रतिशत तक ही है और यह भार बोझिल नहीं होना चाहिये। किन्तु यह छोटी सी पोटली दबाये डालती है। हाथ पैर तोड़े डाल रही है। इसके कारण हैं—

१– यहाँ की कर-व्यवस्था परोक्ष रूप में सम्पूर्ण बोझ निम्नतम श्रेणी पर डाले हुए है। 'कर' के लोक-विवर्तन सिद्धान्त से यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

२– बजट की व्यय-व्यवस्था और कर-व्यवस्था दोनों मिलकर राष्ट्र की, प्रतिव्यक्ति की उत्पादन शक्ति को रोके हुए हैं। सहयोगी वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली के बजाय यहाँ की बजट व्यवस्था वैयक्तिक उत्पादन से आज भी बँधी हुई है जो अब प्रतिक्रियाशील है। उत्पादन गति और परिमाण का अध्ययन इसे सिद्ध करता है।

३– विदेशी आर्थिक शोषण को यह बजट व्यवस्था नहीं रोक सकी है। देश

के उत्पादन का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी हाथों में जा रहा है । इसे राष्ट्रीय आय कमेटी न्याय के साथ नहीं घटा सकी है ।

४– सरकार की बजट व्यवस्था दिल से देश की जनता के हित में नहीं है। हर-अर्थ-कार्य में जनता की आँखों में धूल झोंकने की प्रवृत्ति खुले में प्रगट हो जाती है।

५– जनता भारतीय सरकार के रोकने पर भी चीन,और रूस से, समाजवादी तथा अन्य बामपक्षी दलों से सीखती जा रही है कि जनता की भलाई करने वाली, समृद्धि की ओर ले जाने वाली वित्त-व्यवस्था क्या होनी चाहिये ।

६– वह अब जानती है कि सरकार के हाथ में पहुंचा वित्त 'राजस्व' नहीं, 'लोकवित्त' है। जनता की सम्पत्ति है, सरकार की नहीं। अतः उसकी समृद्धि के लिये व्यय होनी चाहिये । गठकटों या अयोग्य व्यवस्थापकों के हाथ में नहीं पड़ जानी चाहिये ।

१६

प्रान्तीय लोकवित्त

भारतीयों की 'संघराज्य' की तृष्णा को झाँसा देकर शान्त करने के लिए अँगरेजों ने १९३५ में पुराने प्रान्तों को प्रान्तीय स्वराज्य देने का एक ढोंग रच दिया था। स्वतन्त्रता के विधान में भी प्रान्तों को स्वतंत्र राज्य मानकर केन्द्र को संघ राज्य बना दिया गया। परन्तु यह सब क्यों ? इसके लाभ क्या ? प्रान्तीय स्वराज्य का जो उपयोगी अर्थ होता है वह यह होता है कि देश के भिन्न सांस्कृतिक समूहों को ऐसी सुविधा प्राप्त हो जाय, कि वे अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार अपना अपना प्रबन्ध कर लें। परन्तु इससे भारी हानि यह होती है कि जनता की समृद्धि के सम्पूर्ण देशगत आयोजनों में भारी अड़चनें उत्पन्न होती हैं। प्रान्तीय स्वतन्त्रता केवल सांस्कृतिक मामलों में होना अधिक उपयुक्त होगा। प्रान्तीय और राष्ट्रीय लोकवित्त में केवल क्षेत्र विस्तार के अन्तर के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध न होना उपयुक्त नहीं हो सकता। प्रान्तीय लोकवित्त, राष्ट्रीय लोकवित्त से हर प्रकार पूर्णरूप से सम्बद्ध होना ही चाहिए।

हमने भारत के लोकवित्त विकेन्द्रीकरण और संघ की ओर प्रयत्नों पर एक अलग अध्याय में जिक्र किया है। यहाँ हम भारतीय विधान के आधार पर केन्द्र और प्रान्तों के अधिकार विषयों की सूची दे रहे हैं।

१–केन्द्रीय सूची

निम्नांकित सूची में वे विषय दिये जा रहे हैं जिनपर केवल केन्द्रीय (संघ) सरकार ही कानून बना सकती है और उनकी वित्त व्यवस्था कर सकती है—

१– भारत की प्रतिरक्षा, तैयारी, युद्ध इत्यादि।

२– संघ की जल, स्थल व वायु सेनाएँ तथा अन्य यौद्धिक शक्तियाँ।

३– छावनियों का क्षेत्र निर्धारित करना, इन क्षेत्रों का स्थानीय स्वशासन, तथा अधिकारियों के अधिकार व कर्तव्य सम्बन्धी विधान आदि।

४– जल, स्थल, व वायु सेनाओं सम्बन्धी निर्माण कार्य।

५– अस्त्र, शस्त्र, गोला बारूद व अन्य विस्फोटक वस्तुएँ।

६– अणु शक्ति तथा इसके उत्पादन के लिए आवश्यक खनिज स्रोत।

७– वे उद्योग धंधे जो संसद द्वारा देश की रक्षा या युद्ध के संचालन के लिए विधिवत् आवश्यक घोषित कर दिये गए हों।

८– केन्द्रीय गुप्तचर संस्था (Central Bureau of Intelligence and Investigation)

९–देश की सुरक्षा, विदेशी सम्बन्ध अथवा प्रतिरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले अपराधों की रोकथाम के लिए व्यक्ति निरोध, उस निरोध के अन्तर्गत आये हुए व्यक्ति।

१०– परराष्ट्र विषय, ऐसे सभी विषय जिनसे भारत का सन्बन्ध अन्य देशों से आता हो।

११– विदेशी राजनीति, व्यापार आदि से सम्बन्धित प्रतिनिधि दल।

१२– संयुक्त राष्ट्र संघ

१३– अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं या परिषदों या अन्य संस्थाओं मे भाग लेना, तथा उन संस्थाओं के निर्णय को कार्यान्वित करना।

१४– विदेशों से संधियाँ करना और कार्यान्वित करना।

१५– युद्ध व शान्ति

१६– विदेशी अधिकार (Foreign Jurisdiction)

१७– नागरिकता, विदेशी को नागरिकता देना, तथा अनागरिक।

१८– निष्क्रमण (Extradition)

१९– देश में आने की अनुमति, बाहर जाने की आज्ञा, देश निकाला, पासपोर्ट विदेशियों को भारत मे आने की पासपोर्ट पर अनुमति (Visas)।

२०– भारत से बाहर की तीर्थयात्रा

२१– समुद्री डाकू, तथा वायु या समुद्र पर किये गए अपराध तथा राष्ट्रों के अधिनियमों के विरुद्ध किये गए अपराध इत्यादि।

२२– रेलपथ

२२– राष्ट्रीय महापथ, संसद द्वारा विधिवत् घोषित।

२४– उन अन्तर्देशीय जल-पथों का नौकावाहन व जहाजों का आवागमन तथा निगमन जो कि संसद द्वारा राष्ट्रीय महा-पथ घोषित कर दिये गए हों।

२५–जहाज रानी तथा जहाजों का आवागमन जो खुले समुद्रों से सम्बन्धित हो, जहाजी शिक्षा की व्यवस्था व राज्यों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का नियमन।

२६– प्रकाश गृह (light houses) व अन्य सामग्रियाँ जिनका सम्बन्ध जलपोतों तथा वायुयानों की सुरक्षा से हो।

२७– वे बन्दरगाह जो किसी वर्तमान अधिनियम द्वारा या संसद के अधिनियम द्वारा बड़े बन्दरगाह घोषित कर दिए गए हों । इन बन्दरगाहों के क्षेत्रों का निर्धारण व बन्दरगाह की व्यवस्थापक संस्थाओं के अधिकार व कर्तव्य सम्बन्धी विधान ।

२८–बन्दरगाह के स्वास्थ्य-प्रचेतन, उससे सम्बन्धित अस्पताल, मल्लाहों तथा समुद्री अस्पताल

२९– वायुमार्ग, वायु यातायात, जिसमें वायु परिवहन (air navigation) हवाई अड्डों, यातायात का नियन्त्रण, व्यवस्था, हवाई शिक्षा आदि ।

२०– जल, स्थल, वायु या राष्ट्रीय जलपथ पर यंत्र द्वारा संचालित यातायात द्वारा व यात्रियों व माल का लाना ले जाना ।

३१– डाक व तार, बे तार का तार, रेडियो आदि संचार के साधन ।

३३– संघ की सम्पत्ति व उससे होने वाली आय ।

३३– संघ के काम के लिए देश की सम्पत्ति पर अधिकार कर लेना या माँगना ।

३४– देशी राज्यों के शासकों की जायदादों का संरक्षण (Courts of wards)

३५– संघ का लोक ऋण

३६– द्रव्य, मुद्रानिर्माण, वैध मुद्रा, (legal tender) विदेशी विनिमय ।

३७– विदेशी ऋण

३८– भारत का केन्द्रीय बंक (Reserve Bank of India)

३९– पोस्ट संचय बंक (Post office Savings Bank)

४०– भाग्य पत्र (Lotteries) भारत-सरकार अथवा राज्य सरकार द्वारा नियोजित ।

४१– विदेशों के साथ व्यापार व वाणिज्य, तटकर सीमाओं से होकर जाने आने वाला निर्यात व आयात आदि ।

४२– संघ के राज्यों के बीच होने वाला व्यापार व वाणिज्य ।

४३– सहकारी समितियों के अतिरिक्त अन्य वित्तीय प्रमण्डलों, बंकों, बीमा कंपनियों इत्यादि का प्रारंभण (Incorporation)

४४– विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त प्रमंडलों का, जो व्यापार से सम्बन्ध रखते हों या न रखते हों, प्रारम्भण, नियमन तथा समापन (winding up) जब कि वे प्रमण्डल एक से अधिक राज्यों से सम्बन्ध रखते हों ।

४५– बंक कार्य

४६– विनिमय पत्र, चैक, नोट (Promissory Notes) आदि अधिकार पत्र।

४७– बीमा

४८– शेअर बाजार व भावी सौदे के बाजार

३९– प्रतिनिधि अधिकार, व्यापार चिन्ह, शोध अधिकार आदि।

५०– तौल और नाप के मान निर्धारित करना

५१– विदेशों को या एक राज्य से दूसरे राज्य को जाने वाले माल के प्रकार का मान (Standard) निर्धारित करना।

५२– उद्योग जिनका नियंत्रण संसद द्वारा लोकहित के लिए आवश्यक घोषित कर दिया गया हो।

५३– तेल के क्षेत्रों व तेल की खानों का विकास व नियमन।

५४– जनहित की दृष्टि से आवश्यक खानों का विकास व नियंत्रण।

५५– मजदूरों, खानों और तेल क्षेत्रों में सुरक्षा का नियंत्रण।

५६– संसद द्वारा जनहित के लिए आवश्यक घोषित एक से अधिक राज्यों के अन्दर बहने वाली नदियों और उनकी घाटियों का घोषणा की सीमा तक नियंत्रण करना।

५७–देश की सामुद्रिक सीमा के बाहर मछली पकड़ना तथा मछली क्षेत्र।

५८– संघ के एजेण्टों द्वारा नमक का बनाना, बेचना, व वितरण, तथा अन्य संस्थाओं द्वारा नमक बनाने, बेचने और वितरण पर नियंत्रण।

५९– अफीम उगाना, बनाना, बेचना और निर्यात।

६०– सिनेमा फिल्मों को प्रदर्शित करने का अधिकार देना।

६१– संघ के कर्मचारियों की औद्योगिक उलझनें।

६२– इस विधान के लागू होने के समय जो इन नामों से प्रचलित हैं जैसे राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय अजायबघर, इम्पीरियल युद्ध अजायब घर, विक्टोरिया स्मारक, भारतीय युद्ध स्मारक और अन्य कोई भी संस्था जो संसद द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित कर दी गई हो तथा जिसे पूर्णतः या अंशतः संघ सरकार चलाती हो।

६३– हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तथा विश्व भारती का संचालन।

६४– राष्ट्रीय महत्व की वैज्ञानिक तथा विशेष क्रियात्मक ज्ञान संस्थाएँ।

६५–संघीय संस्थाएँ:—

(क) पुलिस अफसरों तथा अन्य की शिक्षा संस्थाएँ।

(ख) विशेष अध्ययन तथा शोध सम्बन्धी।

(ग) अपराधों के अनुसन्धान में सहायक वैज्ञानिक तथा क्रियात्मक संस्थाएं।

६६– अनुसंधानीय बैज्ञानिक और क्रियात्मक संस्थाओं के मान निश्चित करना।

६७– राष्ट्रीय महत्व के प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक, लेख पुरातत्व के स्थान और खंडहर।

६८– भारत के माप, भूगर्भिक, बनस्पतिक, जन्तु संबंधी, प्रमानविक, ऋतु सन्धान सम्बन्धी संस्थाएँ।

६९– जनगणना।

७०– संघीय लोकसेवा, अखिल भारत सेवाएँ, संघीय लोकसेवा आयोग।

७१– संघीय जीवन वृत्तियाँ।

७२– लोकसभा, राजकीय धारा सभा, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति के लिए निर्वाचन। निर्वाचन आयोग।

७३– लोकसभा के सदस्यों के वेतन।

७४– दोनों लोकसभाओं के अधिकार इत्यादि।

७५– राष्ट्रपति, राज्यपाल, संघीय मंत्रियों के वेतन, छुट्टी आदि।

७६–संघ तथा राज्यों का हिसाब परीक्षण।

७७– सुप्रीम कोर्ट का निर्माण, उनका कार्य क्षेत्र, उसका अधिकार।

७८– हाईकोर्टों का निर्माण आदि।

७९– हाईकोर्टों के अधिकार क्षेत्रों को बढ़ाना।

८०– किसी राज्य के पुलिस अधिकारियों के अधिकार तथा कार्यक्षेत्रों को बढ़ाना।

८१– एक राज्य से दूसरे राज्य में आना जाना। अन्तर्प्रान्तीय स्वास्थ्य।

८२– कृषि से होने वाली आयके अतिरिक्त अन्य आयों पर कर लगाना।

८३– आयात निर्यात कर।

८४– तमाखू तथा अन्य भारतीय निर्मित पदार्थों पर आबकारी कर लगाना। सिवाय निम्नांकितों के:—

(क) मनुष्य के पीने के लिए एलकौहौल मिली शराब।

(ख) अफीम,गाँजा तथा अन्य नशीली वस्तुएँ

८५ प्रमंडलकर (कॉरपोरेशन टैक्स)

८६– व्यक्तियों या प्रमंडलों की सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले कर जिनमें कृषि संपत्ति कर सम्मिलित नहीं है।

८७– जायदाद कर

८८– कृषि भूमि के अतिरिक्त संपत्ति पर मृत्युकर ।

८९– जल, थल, वायु के यात्रान्त कर, रेल भाड़े, जहाज भाड़े पर कर ।

९०– वायदे के सौदों तथा शेयर बाजार के विनिमयों पर कर, (स्टाम्प कर के अतिरिक्त)

९१– स्टाम्पकर, कर दरें ।

९२– समाचार पत्रों तथा इनके अन्दर छपने वाले विज्ञापनों पर कर ।

९३– इस सूची के किसी भी मामले का अपराध ।

९४– इस सूची के मामलों के संबंध में जाँच, नाप तौल, अंकादि ।

९५–सुप्रीम कोर्ट के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र, नौसेना अधिकार ।

९६–इस सूची के किसी भी मामले से सम्बन्धित शुल्क ।

९७– सूची नं. २ अथवा ३ में नहीं गिनाये हुए सभी अन्य विषय ।

२ राज्य अधिकार सूची

१– आन्तरिक शान्ति, सैनिक शक्ति को छोड़कर ।

२– पुलिस ।

३– न्याय प्रशासन ।

४– कारागार

५– स्थानीय स्वायत्त शासन

६– लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता, अस्पताल और दवाखाने ।

७– विदेश को छोड़कर अन्य यात्राएं ।

८– नशीली शराबों का बनाना, रखना, क्रयविक्रय आदि ।

९– असमर्थ और बेकार जनता की सहायता ।

१०– शिक्षा ।

११– यातायात, जिसमें वे साधन हैं जो पहली सूची में सम्मिलित नहीं किये गये हैं ।

१२– पुस्तकालय, अजायबघर, जिन्हें राज्य चलाता हो, राश्ट्रीय महत्व के अतिरिक्त ऐतिहासिक और पुरातत्विक वस्तुएँ ।

१३– संघ सूची में नहीं गिनाये हुए यातायात-साधन यथा पुल, सड़कें, नदी पार करने के स्थान, म्यूनिसिपिल ट्राम, रस्सी मार्ग, आन्तरिक जलमार्ग आदि ।

१४– कृषि जिसमें कृषि-शिक्षा, शोध, कृषि-रक्षा आदि सम्मिलित हैं ।

१५– पशुओं के रोगों की रोक, पशु-रक्षा, उन्नति, पशु-ज्ञान-शिक्षा ।

१६– काजी घर, अनधिकार घूमने वाले पशु ।

१७– जलपूर्ति जिनमें जनता को पानी देने वाली संस्थाओं के अतिरिक्त नहरें इत्यादि भी सम्मिलित हैं।

१८– भूमि अर्थात् भूमि सम्बन्धी अधिकार, भूमिकर की वसूली, भूमि देना और छीन लेना, भूमि का विकास आदि।

१९– जंगलात।

२०– जंगली पशुओं और चिड़ियों की रक्षा।

२१– मछलीगाह

२२– कोर्ट आफ वार्ड्स

२३– उन खानों का नियंत्रण व विकास जो संघ के नियंत्रण में नहीं हैं।

२४– संघ द्वारा नियंत्रित उद्योगों के अतिरिक्त अन्य उद्योग

२५– गैस तथा गैस कारखाने।

२६– राज्य का अन्देंशीय व्यापार व वाणिज्य

२७– उभय सूची (नं.३) के ३३ में बताये सामानों के अतिरिक्त सामानों का बनाना, पूर्ति और वितरण।

२८– बाजार और मेले।

२९– तोल और नाप, मान निर्धारण छोड़कर।

३०– द्रव्य की उधारी व उधार देने वाले पर नियंत्रण तथा कृषि ऋण।

३१– सराय और सराय मालिक

३२– संघीय सूची के अतिरिक्त विश्वविद्यालय, साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, व्यापारिक तथा अन्य सभा समितियाँ। सहयोगी समितियाँ।

३३– नाट्य शालाएँ, सिनेमा, खेलकूद, आमोद-प्रमोद।

३४– जुआ, शर्त।

३५– राज्य के अधिकार के कारखाने, जमीनें और मकान।

३६– जायदादों पर अधिकार करना।

३७– लोकसभा द्वारा बनाये नियमों के अन्तर्गत राज्य सभाओं के विर्वाचन।

३८ राज्य सभाओं के सदस्यों आदि के वेतन और भत्ते।

३९– राज्यसभाओं के अधिकारादि।

४०– राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते।

४१– राज्य की लोक सेवाएँ, राज्य का लोकसेवा आयोग।

४२– राज्य द्वारा दिये जाने वाले जीवन भत्ते।

४३– राज्य का लोक ऋण

४४– गड़े खजाने

४५– भूमि से होने वाली आय जिसमें कर की वसूली निर्धारण, अभिलेख

(Record) सम्मिलित हैं।

४६– कृषि आय पर आय-कर।

४७– कृषि सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर

४८– कृषि सम्पत्ति पर जायदाद कर

४९– भूमि व इमारतों पर कर

५०– खानों के अधिकार पर कर

५१– मानवीय उपभोग की शराबों, अफ़ीम, भंग व अन्य मादक वस्तुओं पर कर।

५२– चुंगी।

५३– विजली के उपभोग और विक्रय पर कर।

५४– बिक्री कर जिसमें अखबारों का बिक्री कर शामिल नहीं है।

५५– अखबारों में छपे बिज्ञापनों के अतिरिक्त बिज्ञापनों पर कर।

५६– सड़क व अन्तर्देशीय जलपथ द्वारा ले जाये जानेवाले माल व यात्रियों पर कर।

५७– ट्रामों तथा अन्य सड़क के यातायात साधनों पर कर।

५८– पशुओं तथा नावों पर लगाया जाने वाला कर।

५९– व्यक्ति कर (Tolls)।

६०– व्यवसाय, सेवा योजना, व्यापार आदि पर कर।

६१– प्रति व्यक्ति कर (Capitation Tax)।

६२– आमोद प्रमोद, जुआ, आनन्द साधन आदि पर कर।

६३– उन अधिकार पत्रों पर लगाये जाने वाला स्टांप कर जो संघ सूची में नहीं आते हैं इत्यादि।

६४– इस सूची के मामलों के अपराध।

६५– इस सूची सम्बन्धी मामलों के न्यायालयों के अधिकार।

६६– इस सूची सम्बन्धी शुल्क।

३–सम्मिलित सूची (Concurrant List)

१– अपराध विधि– जिसमें भारतीय दण्ड विधान सम्बन्धी सभी बातें सम्मिलित हैं

२– अपराध प्रक्रिया (Criminal Procedure)।

३– राज्य के संरक्षण तथा शान्ति रक्षा आदि के लिये आवश्यक, सम्भावित अपराधी व्यक्तियों की रोक थाम।

४– कैदियों को एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाना।

५— विवाह, तलाक, बच्चे, अवयस्क, गोद लेना वसीयतनामा, उत्तराधिकार, संयुक्त परिवार, बटवारा आदि

६— सम्पत्ति का हस्तान्तरण जिसमें कृषि सम्पत्ति शामिल नहीं हैं ।

७— प्रसंविदे (Contracts) जिसमें कृषि सम्बन्धी प्रसंविदे शामिल नहीं हैं।

८— सजा योग्य अपराध

९— दिवालियापन (Insolvency and Bankruptcy) ।

१०— प्रन्यास (Trust)

११— बड़े प्रबन्धक और सरकारी प्रन्यासी

१२— सबूत और सौगंध, कानून और सरकारी कार्यवाहियाँ, अभिलेख, और न्यायालयों की कार्यवाहियों की मान्यता

१३— असैनिक प्रक्रिया (Civil procedure)

१४— न्यायालय की तौहीन

१५— आवारा गर्दी, घुमक्कड़ जातियाँ

१६— पागल पन, पागल खाने

१७— पशु यंत्रणा की रोक थाम

१८— खाद्य तथा अन्य पदार्थों में मिलावट

१९— जहर, रसायन आदि

२०— आर्थिक तथा सामाजिक आयोजन,

२१— व्यापारिक तथा औद्योगिक एकाधिकार

२२— मजदूर संघ, औद्योगिक और मजदूर झगड़े

२३— सामाजिक सुरक्षा, और सामाजिक बीमा,

२४— श्रमिक कल्याण, कार्य परिस्थिति, आदि

२५— श्रमिकों की पेशा-शिक्षा तथा क्रियात्मक शिक्षा,

२६— वकील, डाक्टर, अन्य पेशेवर

२७— भारत पाकिस्तान विच्छेद के परिणाम स्वरूप विस्थापितों का स्थापन,

२८— धर्मादा

२९— एक राज्य से दूसरे राज्य में छूत की बीमारियों के फैलने से रोक,

३०— जन्म, मरण लेखा

३१— छोटे बन्दर गाह

३२— आन्तरिक जल थल, मार्ग और मशीन संचालित यान

३३— इन उद्योगों से सम्बंधित उत्पादन, बितरण, पूर्ति, व्यापार तथा वाणिज्य जो संसद द्वारा जन-हित के लिये आवश्यक घोषित किये गये हों ।

३४— मूल्यों पर नियंत्रण

३५– मशीन से चलने वाली गाड़ियाँ

३६– कार खाने

३७– भट्टी (boilers)

३८– विजली

३९– अखबार , पुस्तकें, छापेखाने

४०– राष्ट्रीय महत्व के अतिरिक्त के पुरातत्वीय स्थान,

४१– विस्थापितों की जायदादें

४२– राष्ट्रीय अथवा राज्यीय कार्यों के लिये ली हुई जायदाद का मुआवजा।

४३– राज्यान्तर्गत कर अथवा अन्य सरकारी माँग की वसूली।

४४– स्टाम्प कर-न्यायिक स्टाम्प के अतिरिक्त

४५– सूची २ और ३ से सम्बन्धित पूछताछ और अंक संकलन

४६– इस सूची से संबंधित मामलों पर सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त न्याया–लयों का अधिकार क्षेत्र

४७–इस सूची के मामलों से सम्बन्धित शुल्क,

उपरोक्त तीनों सूचियों में केन्द्र तथा राज्यों की अधिकार सूचियाँ हैं और तीसरी सूची में वे विषय हैं जिन पर केन्द्रीय अथवा राज्यीय दोनों सरकारें कानून बना सकती हैं। इन सूचियों के अध्ययन से हम थोड़े में इस प्रकार समझ सकते हैं।

सूचियों के सारांश

केन्द्र की आय के प्रमुख साधन निम्न हुए।

१–आयकर

२–तटकर

३– उत्पादन कर

४– प्रमण्डल कर

५– प्रमण्डलों पर पूंजी मूल्य कर

६– रेल, डाक विभाग की आयें।

७– सामान्य प्रशासन व सिक्कों की ढलाई।

८– शेष और अन्य जो संसद लगाये

राज्यों की आय के प्रमुख साधन

१– भूमि कर

२– कृषि आय पर आयकर व कृषि सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर।

३– जमीन व इमारतों पर कर।

४– खानों पर अधिकार कर।

५– शराब, अफीम, गांजा, भांग आदि ।

६– चुंगी ।

७– बिजली उपभोग, विक्रय ।

८– समाचार पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर विक्रय कर ।

९– अन्तर्देशीय जलपथ तथा सड़कों के यातायात माल पर कर ।

१०– व्यवसाय, व्यापार आदि कर ।

११–विलास सामग्री, मनोरंजन कर ।

१२– संघ सूची के अतिरिक्त स्टाम्प कर ।

राज्यों की आय के कुछ अंक नीचे दिये जाते हैं ।

करोड़ रुपये *

वर्ष	उत्तर प्रदेश,	बम्बई,	बिहार,	मध्य प्रदेश
१९३८.३९	१२.८०	१२.४५	५.२४	४.२७
१९४६.४७	३२.६५	४०.१८	१६.२७	११.८८
१९४७.४८	३८.७४	४३.७३	१८.५०	१२.२५
१९४८.४९	४९.२०	४९.९१	२३.१०	१७.३८
१९४९.५०	५६.२६	६२.६२	२७.४२	१८.८२

उपरोक्त अंकों से स्पष्ट होगा कि राज्यों की आय बढ़ती ही रही है । लोक वित्त का उपयोग लोक समृद्धि की ओर होता रहा है कि नहीं, पाठक इसका अध्ययन करें ।

---

* Public Finance— Mehta and Agrawal P. 487

१७

स्थानीय लोकवित्त

यों तो जिसके साम्राज्य में सूरज नहीं डूबता और जिसके अन्तर्गत अनेक देश हैं वह एक राष्ट्र के कार्यों को स्थानीय नाम दे सकता है किन्तु यहाँ हम भारतीय लोकवित्त से ही मुख्यतः सम्बन्धित हैं। अतः केन्द्रीय अथवा संघीय लोकवित्त का अर्थ है, संपूर्ण भारत की सरकार का लोकवित्त, उसके बाद राष्ट्र के टुकड़े हुए प्रान्त जो अब राज्य कहलाते हैं। इन सरकारों के लोकवित्त को हम प्रान्तीय या राज्य लोक वित्त कह सकते हैं। यद्यपि अँगरेजी काल में प्रान्तीय सरकारों को लोकल गवर्नमेंट भी कहते थे और उस आधार पर उनकी वित्त व्यवस्था को स्थानीय लोकवित्त कहा जा सकता था। परन्तु फिर शहर या जिला समितियों के लिए कोई समीचीन शब्द नहीं रह जाता, अतः हम स्थानीय लोकवित्त केवल नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों के आय व्यय केलिए ही सुरक्षित रक्खेंगे। बल्कि आगे चलकर सम्भवतः जिला परिषदों का आय व्यय भी 'स्थानीय' की श्रेणी से ऊपर उठकर प्रान्तीय लोकवित्त की तरह जिला लोक वित्त का रूप और नाम धारण कर लेगा।

स्थानीय और केन्द्रीय का अन्तर

यों तो स्थानीय तथा केन्द्रीय बजटों में बहुत कुछ साम्य होता है किन्तु कई बातों में दोनों में भारी अन्तर है।

१— क्षेत्र की दृष्टि से

२— कार्याधिकार की दृष्टि से

३— कर्तव्यों के प्रकार की दृष्टि से

(१) क्षेत्र का अन्तर तो स्पष्ट ही है। केन्द्रीय सरकार का क्षेत्र संपूर्ण देश है, और स्थानीय व्यवस्था का केवल एक शहर या जिला ही होता है।

(२) कार्याधिकार की दृष्टि से स्थानीय व्यवस्था के श्रीमती उर्सुलाहिक्स के अनुसार तीन रूप होजाते हैं।

(क) वास्तविक संघ राज्य के अन्तर्गत स्थानीय सभाओं को पूरा अधिकार रहता है। उनपर केन्द्र का नियंत्रण नहीं के बराबर रह जाता है। बहुधा प्रान्तीय

और स्थानीय कर-भार एक ही कराधार पर डाल दिए जाते हैं। हिक्स तो बल्कि इस दोहरे तिहरे कर का स्वागत करती हैं।

(ख) केन्द्रित शासन व्यवस्था की सरकार के अन्तर्गत स्थानीय सभाओं को केवल नाममात्र के अधिकार होते हैं। निर्वाचन उनका जनता द्वारा ही होता है, वित्तीय प्रस्ताव और विवाद भी वे कर सकते हैं परन्तु केन्द्रीय सरकार का किसी न किसी प्रकार के नियंत्रण के अन्दर उन्हें रहना पड़ता है। नेपोलियन द्वारा निर्मित स्थानीय प्रबंध के लिए 'प्रीफैक्चर' व्यवस्था, जिसमें केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्ति स्थानीय संस्था के मामलों पर सर्वाधिकार रखता है, लगभग सारे यूरुप में गत द्वितीय महायुद्ध तक तो चल रही थी। इस व्यवस्था में स्थानीय अधिकारियों के कार्यों पर हथकड़ी पड़ी रहती है।

(ग) इन दोनों का समन्वय, अर्थात् स्थानीय अधिकारी जनता के प्रतिनिधि होते हैं। उनको पूरी सत्ता होती है परन्तु केन्दीय सरकार उनके साथ पूर्ण सहयोग करती है। उनकी आय के साधनों में हस्तक्षेप न करके और ऊपर से केन्द्रीय बजट में से कुछ सहायता भी देती है, कुछ केन्द्रीय कार्य भी व्यवस्था के लिए उसे सौंप दिए जाते हैं। जैसे स्वास्थ्य बीमा, मुख्य सड़कें, आदि।

(३) कर्तव्यों के प्रकार में तो बड़ा भारी अन्तर है, केन्द्रीय सरकार के कर्तव्य सभी देश भर को दृष्टि में रखकर होते हैं, और इस क्षेत्राधारी अन्तर के कारण एक विशेष अन्तर उत्पन्न हो जाता है। केन्द्र के जिम्मे देश की वाह्य रक्षा और आन्तरिक शान्ति भी जुड़ जाते हैं। स्थानीय व्यवस्था के कर्तव्य केवल प्रकाश, सफाई, शिक्षा, आदि तक ही सीमित हैं। एक और अन्तर यह है कि स्थानीय कर यथासम्भव लाभ के सिद्धांत पर बैठाया जाता है, कर-योग्यता पर इतना नहीं।

इधर स्थानीय मामलों का महत्व बहुत ही वढ़ रहा है। अब जनता शहरों में ही नहीं देहातों में भी, अधिकाधिक सामाजिक सुख के साधन माँगती जा रही है। अतः स्थानीय कर्तव्यों में वृद्धि बड़े जोरों से हो रही है और साथ ही कीमतें भी तेजी से ऊपर उठ रही हैं। अतः स्वभावतः स्थानीय बजट में व्यय की रकम में बाईं ओर को अंक पर अंक जुड़ते जा रहे हैं, और इसकी पूर्ति के लिये आय के साधन बढ़ाना स्वाभाविक ही है। इसके लिये कर, केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों से मदद स्थानीय सभा के व्यापारी कार्यों की आप तथा ऋण सभी में वृद्धि करनी आवश्यक हो जाती है। केन्द्रीय आय की तुलना में स्थानीय आय का भी बड़ा महत्व हो जाता है। कुल कर का ३३% से ४०% तक स्थानीय कर हो जाता है। अमेरिका में तो ५७ प्रतिशत भी हो गया था,

कार्यों का वर्गीकरण

स्थानीय कार्यों का एक मोटा वर्गीकरण दो रूपों में हो सकता है। अनिवार्य

तथा ऐच्छिक। अनिवार्य तो वे कार्य हैं जो केन्द्रीय सरकार की ओर से स्थानीय अधिकारी करते हैं। वे केवल स्थानीय मूल्य के नहीं होते बल्कि देशभर के महत्व के होते हैं। जैसे पुलिस, शिक्षा, वेकारों की सहायता, तथा सार्वदेशिक सड़कों की मरम्मत आदि।

भारत में पुलिस स्थानीय प्रबन्ध में नही है। इन कार्यों के लिये केन्द्रीय सरकार या तो मदद देती है अथवा कुछ करों में वृद्धि कर के व्यय पूर्ति का साधन दे देती है जैसे हमारे देश में जिलापरिषदों की बजट आय के लिये मालगुजारी पर १० प्रतिशत अब्वाब लगा दिया गया था।

स्थानीय सेवाओं के ६ विभाग किये जाते हैं—

१— शिक्षा, पुस्तकालय, चित्रागार, अजायब घर

२— जन स्वास्थ्य, जल, मोरी, भंगीकाम, अस्पताल, जनगृह, शिशु कल्याण, गृहनिर्माण, नगरोन्नति, प्रकाश, यातायात नियंत्रण।

३— सड़कें, गली, पुल

४— जन सहायता, पागलों तथा लुंजों के लिये रक्षण स्थान

५— पुलिस, जेल

६— कृषि, देहाती उद्योग, मवेशीरोग, कृषिरोग, खाद, छोटे खेत, और अनुदान (allotments)

कुछ देशों में इनमें से कुछ छोड़ दिये जाते हैं और कुछ में थोड़े और जोड़ दिये जाते हैं जैसे कर वसूली, व्यवस्थापिकाओं के निर्वाचन, निर्वाचकों की सूची, बीमा-योजनाओं का प्रवन्ध, वृद्ध पेंशनों की व्यवस्था।

स्थानीय बजट आय के लिये सभी देशों में एक आधार सामान्य है, जमीन और मकानों पर कर। यही स्थानीय बजट की धुरी है। चुंगी, लोकसेवी व्यापारी कामों का लाभ, फ्रांस में, अमेरिका में व्यक्ति कर, कम्पनी, कर, विशेष बीमा कम्पनी कर, पहिया, कर पैट्रोल कर, स्थानीय भी हैं। तार, टेलीफ़ोन, गैस, बिजली, बंक आदि पर भी कर है। इटली में शराब, दूध सुगन्ध, साबुन, आदि उपयोग के पदार्थों पर भी कर हैं। कुटुम्बकर भी है, होटल, नाचघर, घरेलू नौकर, पालतु जानवर, पेशों पर, इश्तिहार आदि पर भी कर हैं। भारत में जायदाद करों के अतिरिक्त, पेशा, व्यापार कर, चुंगी, यात्रान्त कर (terminal tax) पहिया कर, जल, टट्टी, गन्दगी उठाने के शुल्क आदि हैं। जिला बोर्डो को माल गुजारी पर ६। से १२।। प्रतिशत तक ऊपर लेने का हक है। अनुपार्जित वृद्धि पर भी कर हैं।

स्थानीय आय के वर्ग

शीराज के अनुसार स्थानीय आय को ९ शीर्षकों के नीचे रख सकते हैं।

१— वास्तविक जायदाद पर कर (जमीन, मकान)

२– उद्योग, व्यापार, पेशा कर

३– आयात निर्यात कर (चुंगी- यात्रान्त कर)

४– विशेष पदार्थ जैसे गैसोलीन, मोटरगाड़ी, बीयर तथा सामान्य उपभोग के सामान पर कर

५– स्थान मूल्य कर

६– केन्द्रीय बजट से मदद, (क) मूल्य के अंश के रूप में (ख) निश्चित रकम (ग) केन्द्रीय आय का अंश,

७– केन्द्रीय या प्रान्तीय कर में वृद्धान्श

८– लोकसेवी कार्यों पर कर,

९– अन्य जरिये ।

इन सभी मदों पर संक्षिप्त दृष्टिपात समीचीन होगा,

जायदाद कर के मूल में दो बातें मानी जाती हैं एक तो यह कि सरकार की मदद के लिये व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार देना चाहिये, दूसरे यह कि जायदाद उस योग्यता की सुदृढ़ नाप है। शूरू में जायदाद-कर का हिसाब बड़ा आसान था घर, जमीन, मवेशी, खलिहान आदि का मूल्यांकन करके कर लगा दिया जाता था। पर अब जायदाद प्रत्यक्ष के साथ परोक्ष भी हो गई है। जैसे रहन, शेयर आदि, और बहुत फैल गई। अतः धीरे धीरे जायदादी कर अवैयक्तिक होता जा रहा है। परंतु स्थानीय अधिकारी केवल प्रत्यक्ष जायदाद पर ही कर लगाते हैं।

पहले जायदाद पर कर लगाने के दो तरीके थे या तो कुल बजट व्यय को सारी जायदादों पर ढाल देते थे और या हर काम के लिये अलग अलग हिसाब लगाकर जैसे २ पैसे शिक्षा के लिये, १ पैस। सड़कों के लिये आदि। परंतु अब भारत में तो जायदाद की वार्षिक आय मूल्य के आधार पर एक निश्चित रकम लगा दी जाती है।

उद्योग, व्यापार, पेशा आदि पर आज्ञापत्रकों द्वारा (लैसंस) कर लिया जाता है। बंबई में ठेला चमार, दूधवाले, होटल आदि को आज्ञापत्र लेने पड़ते हैं और बिना आज्ञा पत्र वालों का सामान अनधिकार विध्वंसक लारी उठा ले जाती है। यह कर बड़ा प्रतिगामी है, गरीब आदमी इस कर के मारे धंधा नहीं कर पाता या कर चोरी कर के लारी की लूट में अपना माल खो देता है। चुंगी स्थानीय आय के दूसरे नंबर का महत्व रखती है। इसमें कई खराबियां हैं— चुंगी के माल और दर की फहरिश्त को न्याय्य रखने के लिये बाजार भावों का द्रुतज्ञान आवश्यक है जो अकसर नहीं होता। दूसरे ये फहरिश्तें सार्वजनिक हित की अपेक्षा वर्ग विशेष के हितानुसार ही अधिक होती हैं। इनसे व्यापार में बड़ी बाधा पड़ती है। तटकर की ही तरह मूल्यपरक और वैशेषिक होने के कारण बहुत कठिन है। इनसे वस्तुओं के दाम भी बढ़ जाते हैं, कई बार तो चुंगी के झगड़े में सामान ही सड़ गल जाता है। रास्ते के शहरों में उतराई

में एक सिरे पर दी हुई चुंगी शहर पार करने के बाद दूसरे सिरे पर मिलती ही नहीं है और बड़ी कठिनाई यात्रियों को होती है। इतने पुराने समय से यह चुंगी कर चला आता है कि अब कितनी ही बार स्थिति बदल गई और यह कालातीत हो गई, अभी इसके विरुद्ध आन्दोलन काफी है। इसके बजाय मकान, पेशा, बाजार, विक्रय आदि कर लगाये जा सकते हैं।

यात्रान्त कर यद्यपि वसूली में तकलीफ दे है मगर आय अच्छी देता है। चुंगी और यात्रान्त करों में वसूली अफसर बहुत कर भक्षण कर जाते हैं।

स्थान मूल्य कर केवल उन्हीं पर पड़ता है जिनको आबादी बढ़ने या सड़क बनने आदि से परोक्ष रूप में लाभ पहुँचा है उनके स्थान की उपयोगिता बढ़ जाने से मूल्य बढ़ गया है। अतः यह स्थानीय आय का उपयुक्त साधन है।

केन्द्रीय सहायता जब स्थानीय कार्य विशेष पर व्यय के अंश विशेष के रूप में दी जाती है तो लाभ तो यह है कि स्थानीय अधिकारी उस कार्य में अधिक ध्यान देंगे, परन्तु साथ ही यह खराबी भी है कि वे केन्द्रीय मदद के भरोसे लापरवाह भी हो सकते हैं और मितव्ययता के बजाय फिजूलखर्ची में उतर जाँय।

कुछ अर्थशास्त्री निश्चित रकम की मदद को अधिक उपयोगी समझते हैं उनकी राय में उससे तीन लाभ होंगे—

१— मितव्ययता को प्रोत्साहन मिलेगा,

२— कर-दाता से माँग सीमित होगी,

३— प्रधान कार्यालय में कर्मचारी कम लगेंगे,

भारत में स्थानीय कर वर्ग

हमारे देश में नगरपालिकाएँ सामान्यतः निम्न कर लगाती हैं—

१—चुंगी

२— यात्रान्त माल कर

३— यात्रान्त व्यक्ति कर

४— मकान या जमीन पर कर

५— जल कर

६— पेशा और व्यापार कर

७— परिस्थिति और जायदाद पर कर

८— हलालखोर कर (Conservancy)

९— जानवरों और गाड़ियों पर कर

१०— सड़कों पर और नदी उतराई कर

११— झील मुखी (Lake Frontage) और नाव कर

१२— प्रकाशकर

१८

लोक ऋण

रूपरेखा

लोक वित्त, लोक आय तथा लोक व्यय की भाँति लोक ऋण भी जनता के लिये सरकार द्वारा लिया हुआ ऋण है। आज लोक ऋण का अर्थ वह नहीं है जो इस शताब्दी के पूर्वार्ध तक रहा है। सरकार अपने आपको तख्त पर बैठाये रखने के लिये चाहे जहाँ से, चाहे जिस आधार पर, मन माने दर पर, अपने उपयोग की शर्तों पर और चाहे जितना ऋण ले ले और जनता के मत्थे लाद दे, किंतु आज जनता अपना अधिकार जानती है। आज जो सरकार केवल विदेशी ऋण के ठाठ के आधार से जनता पर शासन करना चाहेगी वह लोक सरकार नहीं। जो सरकार उचित से उचित लोकवित्त की आवश्यकताओं के अनुसार व्ययों के लिये ही ऋण प्राप्ति के प्रयत्न करने के बजाय अन्यथा ऋण लेकर बरबाद करेंगी उनको जनता के सामने अयोग्यता की छाप पाकर हटना होगा।

लोक ऋण का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। किंतु फिर भी जनता, ऋण प्राप्त धन का अपव्यय देखते देखते काफी सजग हो चुकी है। युद्धों, और देश निर्माण की आवश्यकताओं के नाम पर ऋण का बोझ लाद कर सरकारों ने, लगभग प्रत्येक सरकार ने, गुलछर्रे उड़ाये हैं। जनता जब खुले में ऋण देने से इन्कार कर गई तो विदेश से लेकर जनता के ऊपर एक और बोझ लाद दिया और वहाँ से भी मनमाने अपव्यय के लिये काफी नहीं मिला तो नोट छापने शुरू कर दिये। नोट छापना वास्तविक आवश्यकता के लिये बुरा नहीं है यह हम आगे विचार करेंगे, किन्तु बरबादी के लिये, देश की अर्थ व्यवस्था की परवाह न कर के नोट छापने का, हाल का, निकृष्ट उदाहरण पहले चीन के तानाशाह चांङ्गकाईशेक का है। अन्त में जनता ने उसको उठा फेंका और जो व्यवस्था उस ६० करोड़ जनता ने स्वीकृत की है वह कितनी श्रेष्ठ है!

तो लोक ऋण वह ऋण है जो सरकार जनता के लिये लेती है। लोक ऋण की तादाद की कोई सीमा नहीं है। साधारणतः लोक आय द्वारा ब्याज और चुकाव का ध्यान रखकर ही उसकी तादाद की सीमा निश्चित की जाती है कि वह मय ब्याज एक उचित समय में आय में से चुकाया जा सके। यों लोक आय में वृद्धि

करते जाने पर ऋण की सीमा भी बढ़ती जायगी, किन्तु वैयक्तिक अर्थ व्यवस्था में जनता की आय वृद्धि की परवाह न करके सरकारें सिर्फ कर वसूली की सीमा का ही ख्याल करती हैं, सिर्फ यह सोचती हैं कि जनता को अधिक से अधिक कितना निचोड़ा जा सकता है। उस स्थिति में ऋण की सीमा बहुत जल्द आ जाती है क्योंकि जनता से पहले ही कर के रूप में उनकी देय शक्ति से अधिक धन लिया जा चुका होता है। किन्तु यदि लोक व्यय जनता की उत्पादन क्षमता को बढ़ाते जाने में पूर्णत: और लगातार सक्षम रहता है तो ऋण की कोई सीमा नहीं, या कहें कि सीमा, उत्पादन बढ़ता जाने की क्षमता के अनुपात से सीमित होगी।

लोकऋण के उद्देश्य

सरकार का जनता की आवश्यकताओं के लिये व्यय करना कर्तव्य है। उसके पास कर–आगम की आय होती है, साधारणत: वार्षिक सामान्य कामकाज को सरकार उसी में से चलाती है, अथवा आवश्यकतानुसार आय बढ़ा लेती है। परन्तु कई बार असाधारण और सामयिक ऐसे भारी काम आ पड़ते हैं। विदेशी हमला, देश में अकाल या बाढ़ या महामारी का प्रकोप आदि जिन्हें करना अनिवार्य हो जाता है।

इन कार्यों को तुरन्त करना आवश्यक है। इनमें बहुधा वार्षिक बजट की आय से बहुत अधिक धन व्यय होता है। अत: ऐसे कार्य के लिये ऋण ले लिया जाता हैं, कभी कभी कर आय अचानक कम पड़ जाती है, उस समय भी थोड़े समय के लिये ऋण लेकर काम चला लिया जाता है। किन्तु इन परिस्थितियों के अतिरिक्त आजकल जानबूझ कर सोउद्देश्य भी ऋण लिया जाता है। वह उद्देश्य है देश की उत्पादन शक्ति बढ़ाना। इस प्रकार मोटे तौर पर कहें तो सरकार ऋण दो प्रकार के उद्देश्यों से ले सकती हैं।

१– उत्पादक उद्देश्य

२– अनुत्पादक उद्देश्य

उत्पादक उद्देश्यों के लिये लिया हुआ ऋण बोझ नहीं बनेगा और धीरे धीरे ऋण–निधि निर्माण द्वारा ऐसे ऋण को समाप्त किया जा सकता है। उत्पादनके लिये ऋण के विशेष प्रकार भी हो सकते हैं जिनका अब तक सरकारों ने दुरुपयोग किया है अथवा अन्य कार्यों के लिये सरकारें धनी वर्ग से धन उधार लेती रही हैं परन्तु निर्धन वर्ग से कसकर बेगार लेती रही हैं। डंडे के जोर से, बिना एक कौड़ी खाने के के लिये भी दे कर भूखे प्यासे मजदूर पसीने में लथपथ जमादार के डंडे खाते हुए काम करते किसने नहीं देखे, हम उसी को दृष्टि में रखकर उत्पादन उद्देश्य के लिये नया रूप अधिक उत्तम और व्यवहारिक समझते हैं।

उत्पादन के लिये आवश्यक हैं मुख्यतः तीन प्रकार के सामान —

१– मानव श्रम शक्ति

२– कच्चा माल

३– मशीन औजार आदि

भारत जैसे अविकसित उत्पादन के देश के लिये तो यह सर्वोत्तम है कि लोक ऋण के रूप में ये तीनों प्रकार की वस्तुएँ देश में जिनके कब्जे में हैं उनसे ली जाँय ।

श्रम शक्ति प्रत्येक श्रम योग्य व्यक्ति से ऋण के रूप में ली जाय, प्रत्येक की उत्पादन शक्ति और वास्तविक उत्पादन के आधार पर उसको दैनिक ऋण पत्र दिये जाँय और अच्छा व्याज दिया जाय । जीवन की आवश्यक सामग्रियों के लिये एक निश्चित तादाद के ऐसे टिकट दे दिये जाँय जिनसे सरकारी दूकान से लागत के भाव मे अच्छा सामान, खाना, कपड़ा आदि उनको मिल जाय । उतना उनके श्रममे से काट कर बाकी उनका ऋण के रूप में जमा रहे और मासिक या छः मासिक व्याज दे दिया जाय वह भी या तो सरकारी दूकान की टिकट के रूप में ही अथवा साधारण सिक्के के रूप में ।

इस ऋण की तादाद बहुत भारी हो सकती है, एक मोटा हिसाब लगाया जाय तो निम्न लिखित अनुमान दृष्टि में आता है । देश की जनसंख्या ३५ करोड़ के लग-भग है, उनमें श्रम योग्य लगभग २० करोड़ तो हैं ही, यदि प्रत्येक के दैनिक श्रम में से हम एक रुपया भी ऋण के रूप में लें, अर्थात् उसकी कुल मजदूरी में से एक रुपया काटकर दें और उसे १ रु० का ऋण पत्र दे दें तो प्रतिदिन ऋण प्राप्ति २० करोड़ रुपये की होगी और वर्ष में ६५ दिन सप्ताहिक और आकस्मिक छुट्टी के निकाल दें तो ३०० दिन प्रति व्यक्ति काम करेगा, इस प्रकार एक वर्ष में लगभग ६००० करोड़ रुपये ऋण प्राप्त हो गया, परन्तु यह होगा तभी जब सरकार इस २० करोड़ की उत्पादक श्रम शक्ति को सुनियोजित करके सब को उत्पादन मे लगायेगी और इस श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ाती जायगी ।

कच्चामाल पूरा ऋण के रूप में लिया जा सकता है । उसके केवल ऋण पत्रक देने की आवश्यकता है । क्योंकि कच्चे माल के मालिक उत्पादन काम तो करेंगे ही, न करें तो ऋण पत्रक का व्याज खाँय । इस प्रकार खनिज, कृषि, जंगल, झरने, नदी झील, समुद्र सभी प्राकृतिक साधन और अर्ध कच्चा माल ऋण के रूप में मिल सकते हैं ।

अब रहे औजार और मशीन, वे जो आज देश में उपलब्ध हैं, सब ऋण के रूप में प्राप्त किये जा सकते हैं । और बाकी विशेषज्ञों की मदद से, जो शोषक राष्ट्र या वृत्ति के न हों, बनवाये जा सकते हैं ।

किसी भी ऋण को बलात् लेने की आवश्यकता नहीं होगी। लोक समाग्री, लोक साधन जैसे रेलें, अन्य यातायात, बिजली शक्ति पहले लोक नियोजित उत्पादन में लगेंगी, बाद में वैयक्तिक उद्योगों की बारी आये।

इस प्रकार लोक ऋण बाहर से लाने की कतई आवश्यकता नहीं है। केवल बुद्धिमत्ता पूर्ण आयोजन की आवश्यकता है। इससे एक परिणाम तो यह निकलता है कि जो सरकारें विदेश से ऋण लेती हैं परन्तु अपने देश में इस प्रकार उत्पादन साधन रूप में ऋण लेकर, या राष्ट्रीयकरण कर के, उत्पादन नियोजन नहीं करतीं, वे लोक-समृद्धि-पोषक सरकार नहीं हैं और उनपर बजटके समय या अन्य उपयुक्त समय जब ऐसी स्थिति स्पष्ट हो जाय, अविश्वास बिना हिचक प्रगट करना चाहिये। दूसरे जो लोक समृद्धि का ढोल पीटें परन्तु उनके आयोजन में ऋण की माँग धनिकों से रुपये के रूप में ही हो, और देश के प्रत्येक श्रम योग्य व्यक्ति को सहर्ष लोक समृद्धि नियोजन म काम कर के श्रम ऋण देने की सुबिधा न हो तो वह सरकार अयोग्य है उसे स्वयं ही हट जाना चाहिये वरना अविश्वास से हटा देना ही समृद्धि पोषण है। ये दोनों निष्कर्ष जनता के लिये लोक वित्त के सिद्धान्त हैं। यहाँ किसी राजनीतिक दल का प्रश्न नहीं है, यह तो शुद्ध लोक समृद्धि का प्रश्न है। किसी भी दल की सरकार हो, परन्तु सरकारी तख्त पर आते ही उसे लोक समृद्धि सरकार होना ही पड़ेगा।

अनुत्पादक उद्देश्य केवल इस प्रकार के उद्देश्य हैं। जिनसे आर्थिक उत्पादन के साधनों को जुटाने और संयुक्त करने में मदद नहीं मिलती। कुछ लोग सरकार के प्रत्येक काम को उत्पादक ही, और जन हितैषी ही मानते हैं चाहे वह सरकार नाम का गुट अपने को तख्त पर बनाये रखने के लिये जनता को ही क्यों न भून डाले। ऐसे लोग सरकार नामक गुट को ही देश मान लेते हैं और जनताको देश की दुश्मन। हम ऐसा नहीं मान सकते। हर सरकार का हर काम जनोपयोगी नहीं होता रहा है। वैयक्तिक अर्थ प्रणाली में तो ऐसी स्थिति अधिकांश में होती है। दूसरे देश को शोषण के लिये किये गये युद्ध, निजी जेबें भरने के लिये निर्माण– योजनाएँ, अनुत्पादक ऋण को चुकाना, लोकोत्पादक कार्य में विघ्न कारी वैयक्तिक धंधों को प्रोत्साहन, अनावश्यक फौजी व्यय, आदि अनुत्पादक उद्देश्य हैं। इनके लिये अनेक ढ़ोंग रचकर ऋण लिये जाते हैं। इन से देश को भारी हानि होती है यह हम लोक व्यय के प्रकरण में जिक्र कर चुके हैं।

लोक ऋण और व्यक्तिगत ऋण

लोक ऋण और व्यक्तिगत ऋण में अन्तर समूह शक्ति के कारण है और इसी तरह का है। इस अन्तर को विभिन्न दृष्टि कोणों से देखकर यों रक्खा जासकता है—

लोक ऋण देश भर की जनता के लाभ के लिये होता है। व्यक्तिगत ऋण केवल एक व्यक्ति अथवा उसके बालबच्चों या सम्बन्धियोंके लिये ही काम आता है।

लोक ऋण जनता से कर वसूल करके उस में से चुकाया जाता है, यदि आन्तरिक ऋण है तो वही जनता कर दाता है वही ऋण दाता है। परन्तु व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

लोक ऋण, जनता की शक्ति की साख के कारण, सस्ते व्याज पर चाहे जितनी रकम में प्राप्त हो सकता है, व्यक्ति की साख उतनी नहीं हो सकती, उसे ऋण मँहगा और कम मिलता है।

जनता अमर रहती है, उसकी सरकार अमर रहती है, अतः सरकारों का लेन देन अमर रहता है परन्तु व्यक्ति तो अमर नहीं है।

लोक ऋण की प्रतिभृतियाँ अथवा ऋण–पत्रक बड़ी आसानी से बाजार में खरीदे या बेचे जा सकते हैं। किन्तु व्यक्ति के ऋण पुर्जों को गिरवी रखने में भी कठिनाई पड़ती है। लोकऋण की प्रतिभूतियों को धरोहर में तो बड़ी आसानी से रक्खा जा सकता है।

सरकार कागजी मुद्रा निकालकर भी ऋण ले सकती है परन्तु व्यक्ति की कागजी मुद्रा बहुत कम चलती है।

सरकार जबर्दस्ती भी ऋण ले सकती है और उसे वापिस देने के लिए या वक्त पर देने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, व्यक्ति के लिये यह असंभव है।

लोक ऋण के प्राप्त करने तथा भुगतान दोनों कार्यों का देश के उत्पादन वितरण और उपभोग पर काफी प्रभाव पड़ सकता है व्यक्तिगत ऋण से नहीं।

लोक ऋण युद्ध काल में युद्ध के लिए और शांति काल में उत्पादन के लिए लिए जाते हैं परन्तु व्यक्ति अधिकतर उपभोग के लिए ही लेता है।

ऋण और कर में अन्तर

मुख्य अन्तर दोनों में यह है कि कर जबर्दस्ती वसूल किया जाता है। परन्तु ऋण का देना इच्छा पर निर्भर है जो चाहे सरकार को ऋण दे जो चाहे दे, हाँ युद्धादि आपत्ति काल में जो जबर्दस्ती ऋण लिए जाते हैं वे कर की ही भाँति देने पड़ते हैं।

बाकी अन्तर व्यवस्था की सुगमता और प्रभाव के आधार पर हैं—

जब बहुत बड़ी तादाद में सरकार को व्यय करना अचानक या एकही साथ आवश्यक हो जाता है। तो कर एकदम उतनी बड़ी तादाद में जनता नहीं दे

सकती, परन्तु ऋण मिल जाता है ।

कर साधारणतः चालू आमदनी में से दिया जाता है । परन्तु ऋण अकसर बचत में से दिया जाता है ।

कर की वापिसी का कोई प्रश्न ही नहीं, परन्तु ऋण की वापिसी ही नहीं ब्याज भी मिलता है और सरकार को दिया हुआ ऋण बहुधा मारा नहीं जाता ।

कर का भार यों देखने में तो धनी वर्ग पर अधिक पड़ता है परन्तु लोक विवर्तन का अध्ययन यह बताता है कि लगभग सभी कर निम्नतम श्रेणी की जनता पर भार बनते हैं, किन्तु ऋण धनी लोग ही दे सकते हैं अतः उसका ब्याज और आदर लाभ भी उन्हीं को मिलता है ।

कर और ऋण की इस दृष्टि से तुलना नहीं हो सकती कि क्या सरकारों का काम केवल ऋण या केवल कर से हर अवस्था में चल सकता है । क्योंकि कर के स्थान पर ऋण ही लेते जाने से सरकार बोझ ही बढ़ाती जायगी, आजकी स्थिति में दोनों ही आवश्यक हो गये हैं ।

कर केवल आवर्त व्ययों के लिए उपयुक्त हैं और ऋण अनावर्त व्ययों के लिए ।

कर दाता सरकार पर नियंत्रण का पूरा हक रखता है ऋण दाता इतना नहीं । हाँ जब विदेशी सरकार ऋणदात्री है तो वह नियंत्रण करती ही है ।

ऋणों और करों का मुद्रा प्रसार पर प्रभाव अलग अलग भी पड़ सकता है, यद्यपि दोनों ही द्वारा जनता की जेब से रुपया निकलकर सरकारी खजाने में चला जाता है । इससे उत्पादन पूँजी में कमी द्वारा उत्पादन में कमी और चालू व्यय में कमी द्वारा क्रय शक्ति में कमी होने से मुद्राप्रसार में कमी होती है किन्तु सरकार जब उस रुपये को व्यय करती है तो कर का रुपया तो साधारण वार्षिक व्यय की भाँति ही साधारण फेर फार करता हैं परन्तु भारी ऋण की रकमें मुद्रा प्रसार कर सकती हैं, और विदेश से ऋण आया है तो और भी । यदि कागजी मुद्रा छापकर ही ऋण ले लिया गया है और उत्पादन नहीं बढ़ा हैं तो बहुत अधिक मुद्रा प्रसार हो सकता है ।

लोक ऋणों का वर्गीकरण

लोक ऋणों के कई वर्ग किये जा सकते हैं जो उनकी देयता, समय, आदि के आधार पर होते हैं ।

१— **ऐच्छिक तथा अनिवार्य ऋण**—सरकार साधारण समयों में ऋण देना अनिवार्य नहीं करती है। क्योंकि उसे ऐच्छिक ऋण ही बहुत मिल जाता है, अनिवार्य ऋण से जनता भी रुष्ट होती है। आजकल तो अनिवार्य ऋण एक प्रकार से मिट ही गये हैं। परंतु चाहे तो कोई सरकार यह अनिवार्य भी कर सकती है कि ऋण देना ही पड़ेगा, आजकल प्रत्यक्ष अनिवार्य ऋण लेने के बजाय मुद्रा स्फीति द्वारा अप्रत्यक्ष ऋण ले डालने की प्रथा ही हो गई है। इससे अनिवार्यता का कुप्रभाव लोगों के दिमाग पर होने से बच जाता है और ऋण तो मिल ही जाता है। ऐच्छिक ऋण जब जनता नहीं खरीदती तो उसका कारण या तो यह होता है कि जनता पहले ही इतनी शोषित की जा चुकी है कि उसके पास और धन है ही नहीं अथवा सरकार पर विश्वास नही रह जाता, युद्ध अथवा गृह युद्ध में हारती हुई दिखाई देती है, अथवा यह भी संभव है कि सरकार जिस व्याज दर तथा अन्य वापिसी आदि की शर्तों पर ऋण बेच रही है वे काफी आकर्षक नहीं हैं। साधारण तौर पर सरकार की साख सबसे अधिक होती है इसीलिये उसे कम व्याज पर लम्बे समय के लिये भी पर्याप्त से अधिक ऋण मिल जाता है। उसके ऋण पत्र स्वर्ण-किनार प्रतिभूतियाँ (guilt-edged) कहलाते हैं। गत महायुद्ध में अंगरेज सरकार ने भारत के गरीब किसानों तक को युद्ध ऋण पत्रक खरीदने पर मजबूर किया था। नाम ऐच्छिक ऋण रख कर भी जबर्दस्तों ऋण वसूल किया गया था। ऐसा अन्य सरकारें भी कर सकती हैं। कुछ सरकारें 'दान' का नाम लेकर भी अनिवार्य कर के रूप में ऋण वसूल करती हैं जिसे चुकाना भी नहीं पड़े,व्याज भी नहीं देना पड़े। स्वतंत्रता के बाद भारत में सरकार ने कई जगह 'श्रमदान' के नाम पर गरीब जनता से वेगार ली और डंडे मार कर ली। इसे 'दान' न कह कर, जो कि ऋण हो जाता, कर ही कहना चाहिये।

अत: ऐच्छिक ऋण वह है जो व्यक्ति अपनी इच्छा और साधन के अनसार खरीदते है और अनिवार्य बह है जो खरीदना ही पड़ता है।

२—**स्थायी, अस्थायी और चल ऋण**—स्थायी ऋण एक वर्ष से पहले नहीं चुकाये जाते, स्थायी कहते ही उनको हैं जो कम से कम एक वर्ष के बाद चुकाये जाते हैं अथवा बिल्कुल चुकाये ही नहीं जाते, जैसे ब्रिटिश कोन्सल्स, जिनका मूल कभी चुकाया ही नहीं जायगा।

अस्थायी ऋण एक वर्ष के भीतर ही चुका दिये जाते हैं और अस्थायी आव-श्यकता के लिये ले लिये जाते हैं। उदाहरण के लिये जब सरकार का व्यय पहले छः महीनों में आय से अधिक हो गया, आय अगले छ: महीनों में अधिक होती है, तो देश के मुख्य बैंक से आवश्यक काम चलाऊ रुपया उधार ले लिया जाता है, इसे अंगरेजी में 'वेज् एण्ड मीन्स' तरीका कहते हैं।

चल ऋण वह है जो विल्कुल ही कम समय के लिये लिया जाता है, सरकारी खजाना ऐसे ऋण पत्रक बाजार में बेच देता हैं जिनकी अवधि ३ मास के आसपास होती है, इनको अंगरेजी में 'ट्रैज़री बिल' कहते हैं और तीनों प्रकार के ऋणों को क्रमश: फण्डैड, अनफण्डैंड और फ्लोटिंग ऋण कहते हैं ।

स्थायी ऋण देश के किसी बड़े काम के लिये लिये जाते हैं जैसे, युद्ध, रेल, पुल, बाँध आदि के लिये । अस्थायी ऋण वजट में आकस्मिक कमी की पूर्ति आदि छोटे कामों के लिये, परंतु चल ऋण से अकसर हर साल ही ट्रेज़री बिल 'बेचकर' बजट का शुरू का काम चलाया जाता है। अस्थायी ऋण जो देश के केन्द्रीय बैंक आदि से लिया जाता है एक प्रकार से उचन्त खाता सा है ।

३–**देय और अदेय ऋण**—अंगरेजी में इन्हें क्रमशः रिडीमेबिल और इर्रिडीमेबिल ऋण कहते हैं। देय ऋण वे हैं जिनकी वापिसी का सरकार वायदा करती है, अदेय ऋण की वापिसी का कोई वायदा नहीं किया जाता ।

साधारतः सरकार देय ऋण ही लेती है और उसके लिये वापिसी का प्रबंध करना पड़ता है । बहुधा तो कर में से ही वापिसी की जाती है । यदि १० वर्ष में देय है तो हर वर्ष उसका दसवां भाग नये कर लगा कर इकट्ठा करती जायगी, इससे कर का भार बढ़ जाता है । परंतु कभी ऐसा भी होता है ऋण का चुकाव कर में से नहीं नया ऋण लेकर किया जाता है , उसे ऋण परिवर्तन कहते हैं । उस अवस्था में नया कर नहीं लगाना पड़ता' हां व्याज भर के लायक कर बढ़ाना पड़ता है । और अदेय के लिये तो केवल व्याज ही का प्रबन्ध करना होता है । ऐसा ऋण 'अमर' होता है । यह बड़ा मँहगा पड़ता है । क्योंकि व्याज उसका सदा सर्वदा देते ही रहना पड़ता है ।

सभी स्थायी ऋणों का यह प्रभाव होता है कि उनका बोझ भावी पीढ़ियों पर जा पड़ता है, परंतु अदेय कर तो बहुत ही लंबी दूरी तक बोझ फेंकता है । कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि स्थायी ऋण जब निर्माणकार्य में लगता हैं तो उससे उत्पादन बढ़ जाता है, आय बढ़ जाती है अतः अधिक कर लगाकर उसका व्याज सहित देना और अदेयों का व्याज देते जाना भारी नहीं पड़ेगा। परन्तु अदेय के विरुद्ध यह बड़ा तर्क है कि कोई भी निर्माण सामग्री अमर नहीं होती, उसका अन्त होते ही उससे होने वाली आय समाप्त हो जायगी । तब वह भारी बोझ हो उठेगा । इसी बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कोई भी ऋण कितने समय में चुका देना चाहिए, जितनी देर उससे हुआ लाभ चलता रह सके उतने समय में अन्दर । एक बाँध यदि ५० वर्ष में गिर जायगा तो वह ऋण ५० वर्ष में चुका दिया जाना चाहिए । हमारी राय यह है कि सरकार को कोई भी 'अमर' ऋण नहीं लेना चाहिए, जिसका व्याज सदा सर्वदा के लिए बजट पर वोझ बन जाय ।

हाँ कुछ देय ऋण बाजार की गिरी अवस्था को उठाने के लिए अथवा बहुत मुद्रा-स्फीति की अवस्था को बचाने के लिए चुकाये या लिए जा सकते हैं।

४—**उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋण**—कुछ लोग उत्पादक ऋणों का अर्थ यह लगाते हैं कि ऋण के बराबर या अधिक मूल्य की सम्पत्ति सरकार के पास है × परन्तु हम ऐसा नहीं मानते। श्री मेहता और अग्रवाल का भी मत ऐसा नहीं है। उत्पादक ऋण का अर्थ हम यह समझते हैं कि जो ऋण जन समृद्धि के ऐसे कामों में लगाया जाय जिनसे आर्थिक उत्पादन होगा। जैसे नये कारखाने बनाना, कृषि के लिए बाँध बनाना, मशीनें बनाना, नई रेल जो उत्पादन में सहायक हो, खोलना आदि। अनुत्पादक वे ऋण हैं जो उत्पादन में न लगकर युद्ध या बजट की घाटा पूर्ति में लगा दिया जाता है। दुष्काल या बाढ़ में जनता को दिया हुआ धन भी उत्पादक है बशर्ते कि उससे उस जनता की स्थिति सुधरी हो और वह फिर समृद्धि की ओर चल पड़ी हो।

भारतीय सरकार के सामने पंचबर्षीय योजनाओं का प्रश्न है। हम इस दृष्टि से उत्पादक ऋणों के संबंध में यह कहना ठीक समझते हैं कि उत्पादन कार्यों के लिए भारत में ऋण मिलने में कमी नहीं पड़ सकती, आवश्यक यह है कि उत्पादन का आयोजन इस प्रकार हो कि देश के प्रत्येक श्रम योग्य व्यक्ति की उत्पादन शक्ति के पूर्ण उपयोग होने और उसकी उत्पादक शक्ति के बढ़ते जाने का प्रबन्ध हो और प्रत्येक व्यक्ति मजबूरी से नहीं,ख़ुशी से, उत्साह से उत्पादन में जुट पड़े। चीन की सरकार के उत्पादन प्रयत्नों से हमें सीखना चाहिए। लोकवित्त का यह सबसे महत्वपूर्ण पाठ है।

५—**देशी और विदेशी ऋण**—सरकार जो ऋण अपने ही देश वासियोंसे लेती है वह देशी या आन्तरिक ऋण कहलाता है और जो ऋण किसी अन्य देश की सरकार अथवा व्यक्तियों से लिया जाता है उसे विदेशी ऋण कहते हैं। विदेशी ऋण जिस देश से लिया जाता हैं उसकी मुद्रा के नाम से भी बोला जाता है जैसे इंगलैंड से लिया हुआ ऋण यहाँ स्टर्लिंग ऋण और अमेरिका से लिया हुआ डॉलर ऋण कहलाता है। विदेशी ऋण देशी की तुलना में अवांछनीय होता है कारण ये हैं कि एक तो लेने और देने दोनों समयों पर माल के भाव और चुनाव में ऋणी को हानि उठानी पड़ती है। दूसरे व्याज के रूप में दिया धन देश से मुफ्त में बाहर चला जाता है। तीसरे ऋण दाता विदेशी सरकार अपना नियंत्रण और राजनीतिक बंधन लादती है। साम्राज्यवादी सरकारें तो अपनी ऋणी सरकारों को ऋणी देश के

× राजस्व की सरल रूपरेखा श्री मालीराम तथा श्री विश्वम्भर सहाय पृष्ठ—९०

शोषण के लिए हथियार और औजार मात्र बना डालती हैं। भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि विदेशी ऋण दात्री साम्राज्यवादी सरकारें हमारे देश में निर्माण कार्य नहीं होने देतीं केवल ठगने और जेब भरने के तरीके काम में लाती हैं। स्वतंत्रता के बाद से ही भारतीय लोकवित्त का बारीक अध्ययन इसे प्रगट कर देगा।

यों केवल विदेशी होने के नाते ही कोई ऋण बुरा नहीं होता यदि उससे देश की समृद्धि में पूरी मदद मिले और कोई फाँसी गले में न पड़े। परन्तु यह निश्चित है कि यदि वित्त व्यबस्था लोक समृद्धि की दृष्टि से हो तो भारत को विदेशी ऋण की आवश्यकता नहीं है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि जहाँ कम ब्याज पर ऋण मिले वहीं से लेना चाहिए चाहे देश हो या विदेश परन्तु हम यह उचित नहीं समझते, क्योंकि देश में अधिक ब्याज से लिया ऋण भी ब्याज का लाभ देश की जनता को ही देता है। ऐसी धारणा उस सरकार की हो सकती है जो अपने को देश की जनता की प्रतिनिधि और लोक समृद्धि कार्य के लिये नियुक्त की गई नहीं समझती।

हम यह स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं कि शुद्ध राजस्व नाम की कोई वस्तु नहीं होती। सरकारी वित्त व्यवस्था का विचार बिना राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्ध जोड़े नहीं किया जा सकता, इसीलिए हमको बारबार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्धीय राजनीतिक दृष्टिकोण की ओर ध्यान दिलाना पड़ता है।

६ मुद्रा स्फीति ऋण—मुद्रा स्फीति ऋण वास्तव में न तो ऋण का नाम देकर लिया जाता है और न दिया जाता है। सरकार के पास जब खजाने में रुपया कम हो जाता है और ऋण मिलता नहीं या मिलने पर भी पर्याप्त नहीं होता तो वह छापेखाने में जैसे चालु मुद्रा छापती है वैसे ही और बहुत तादाद में छाप डालती है और खरीद तथा सेवाओंका मूल्य उन नोटों से चुकाती हैं। गत दोनों ही युद्धों में अँगरेज सरकार ने भारतमें ऐसा ही किया था। इस प्रकार की मुद्रास्फीति का प्रभाव यह होता है कि हर वस्तु का दाम बढ़ जाता है, रुपये की क्रय शक्ति घट जाती है सरकार को माल और सेवाएँ केवल कागज के भाव में मिल जाती हैं और विदेशी सरकार हुई तो अनाप सनाप देश का माल केवल कागज देकर उठा ले जाती है। भारत में अंगरेजों ने यही किया। आज गुलाम देशों में साम्राज्यवादी सरकारें यही कर रही हैं। जब आधिक्य में चलाये मुद्रा नोट वापिस ले लिये जाते हैं और रद कर दिये जाते हैं तो समझा जाता है कि ऋण चुक गया। इसमें व्याज के नाम पर कुछ नहीं देना पड़ता, इस प्रकार के ऋण का उपयोग कुछ न कुछ हद तक सभी सरकारें करती हैं।

ऋण भुगतान

ऋण–भुगतान या ऋण का चुकाना व्यक्ति या सरकार दोनों ही की साख के लिये भला और आवश्यक है। अनेक ऋण दाता तो ऋण भुगतान की तिथि नजदीक आई देखकर परेशान होते हैं कि अब फिर रुपये को कहाँ लगायें, कैसे लगायें। मामूली तौर से ऋण भुगतान की दो तिथियाँ दी जाती हैं जिनमें २, ३ वर्ष का या कुछ कम अधिक अन्तर रक्खा जाता है, पहली तिथि पर सरकार चाहेगी तो चुका देगी और दूसरी पर वह चुकायेगी ही।

ऋण भुगतान कई प्रकार से किया जाता है—

१– सबसे आसान तो है ऋण को रद घोषित करना, उसके चुकाने की जिम्मेदारी से अपने को बरी करना। रूस में ज़ार के ऋणों को क्रान्ति के बाद लेनिन की सरकार ने रद घोषित किया था। ऐसा साधारणतः नई सरकार ही कर सकती है लेती है वह नहीं। क्योंकि ऐसा करने से उसकी साख नष्ट होती है। वैसे तो सोवियत सरकार की भी विदेशों में साख गिरी परन्तु उसको विदेशी ऋण लेने की आवश्यकता ही नहीं थी।

२– खुले बाजार में अपने ऋण पत्रक खरीद कर भी सरकार ऋण चुका सकती है। इसमें कोई समय की पाबन्दी का भी प्रश्न नहीं है। जब रुपया हाथ आया, जितना आया तभी और उतने ही के अपने ऋण पत्रक बाजार में खरीद कर रद कर दिये। उतना ऋण कम हो गया। इसी प्रकार धीरे धीरे सारा ऋण रद किया जा सकता है।

३– यदि बजट में आय अधिक हो जाय तो ऋण चुका देना चाहिये परन्तु आजकल सरकारों के बजट में अकसर बचत होती ही नहीं है क्योंकि पहले ही से बजट में व्यय की मद बहुत बढ़ाकर रक्खी जाती है क्योंकि सरकार के कर्तव्य आज बहुत बढ़ गये हैं।

४– ऋण परिशोध कोष भी ऋण चुकाने के लिये बना लिया जाता था। प्रति वर्ष ऋण चुकाने के ही उद्देश्य से रुपया एक कोष में डाल दिया जाता था, और मूल और उसका चक्रवृद्धि व्याज दोनों मिलकर ऋण के बराबर हो जाते थे तो ऋण चुका दिया जाता था। परन्तु आजकल हर साल मूलधन ही का उतना भाग चुकाते जाते हैं उससे आसानी होती है। दूसरे कई अयोग्य सरकारें उस कोष का दुरुपयोग कर लेती हैं, अतः उसे न रखना ही अच्छा समझा गया है।

५– वार्षिक बचत में से एक बँधी रकम ऋण दाताओं को देते रहते हैं और निश्चित अवधि तक देने के बाद मूल और व्याज दोनों चुक जाते हैं। ऐसे चुकाव को 'ऐन्यूइटी' कहते रहे हैं।

६– पूंजी पर कर लगाकर भी ऋण चुकाने के लिये धन एकत्र कर लिया जाता है। इसको अंगरेजी में 'कैपीटल लैवी' कहते हैं। यह एक निश्चित रकम की सम्पत्ति से अधिक वालों से उनकी सम्पत्ति पर एक ऋणशोधन–कर के रूप में लिया जाता है। इससे ऋण बहुत जल्द चुकाये जा सकते हैं। कुछ विद्वानों का तो मत है कि युद्धादि में लगे अनुत्पादक ऋणों को चुकाने का यही सर्वोत्तम तरीका है। इससे वह बोझ जो वर्तमान पीढी के कारण आपड़ा है भावी पीढ़ियों पर नहीं पड़ेगा। अँगरेज अर्थशास्त्री श्री रिकार्डो भी इसी राय के थे कि बड़े ऋणों को पूँजी कर द्वारा चुका डालना चाहिये। डाल्टन भी यही मानते हैं।

७–**परिवर्तन द्वारा**–पहले ऋण को नया ऋण लेकर चुका दिया जा सकता है। नया ऋण ऐसा मौका उत्पन्न करके लिया जाय कि कम व्याज पर मिल जाय।

ऋणशोधन के उभय पक्ष

इस प्रकार ऋण शोधन के पक्ष और विरोध में अनेक लोगों ने अनेक युक्तियाँ दी हैं। कुछ मुख्य युक्तियाँ हम नीचे गिनाते हैं—

(क) युद्ध काल में, यद्यपि एक पक्ष कहता है कि, गरीब अगर युद्ध जनित मँहगाई आदि तकलीफ भुगतते हैं तो अमीर भी तो भुगतते हैं, परन्तु विरोधी तर्क यह है कि गरीब लोग युद्ध में सिपाही बनकर लड़ते और जान देते हैं तो धनी वर्ग को धन देना चाहिये। यदि युद्ध देश रक्षा के लिये है तो रक्षा का लाभ होता भी धनी को ही अधिक है। उसके धन और दैनिक समेट दोनों अक्षुण्ण रहते हैं। गरीब की तो जान की भी रक्षा नही होती। अतः धनी वर्ग को ऐसा व्यय उठाना ही चाहिये।

(ख) पूँजी कर से व्यवसाय को हानि होती है अवश्य, परन्तु भारी करोंद्वारा हर वर्ष हानि होने की अपेक्षा एक बार हो लेना श्रेयस्कर है।

(ग) सरकार भी भारी ऋण से मुक्त होकर आय को जन कल्याण के कामों में लगा सकेगी इसलिये भी पूँजी कर से उसे जल्द चुका देना चाहिये।

(घ) बड़ा बोझ बड़े सिर वालों पर रखना ही न्याय्य है।

(ङ) युद्ध के बाद जब कीमतें गिरती हैं और यदि ऋण बाकी ही हैं तो उनका वास्तविक बोझ और बढ़ जायगा।

लोकऋण का भार और प्रभाव

लोक ऋण भार की दृष्टि से उत्पादक और अनुत्पादक वर्ग के आधार पर तथा देशी और विदेशी वर्ग के आधार पर देखने आवश्यक हैं। मुद्रास्फीति ऋण भी भार और प्रभाव दोनों दृष्टियों के लिये महत्व पूर्ण है।

देशी और विदेशी में, विदेशी ऋण का भार देश भर पर पड़ता है, क्योंकि

उसके मूल और व्याज के भुगतान में देश का उत्पादित माल देना पड़ता है और अलाभ कारी भावों पर । इससे माल आवश्यकता से अधिक देना पड़ता है यह तो बोझ है ही परन्तु इस माल के निर्यात से देश की उत्पादन शक्ति भी कम होजायगी। कच्चा माल निर्यात हुआ तो देशी उद्योगों को उत्पादन सामग्री कम मिली,पक्का उपभोग का माल गया तो देश में उपभोग सामग्री की कमी से जीवन स्तर गिरा । देशी ऋण तो केवल क्रय शक्ति हस्तान्तरित करता है । ऋण लेने के समय तो मुद्राभार केवल धनी वर्ग पर पड़ता है जो सरकारी ऋण खरीदता है परन्तु जब यह ऋण मय व्याज चुकाया जाता है तो सारा का सारा बोझ करदाताओं के मत्थे पड़ता है । यों सीधे सरकार धनी वर्ग से भी कर लेती है किन्तु पड़ता वह अन्त में निम्नतम वर्ग ही पर है । क्योंकि कर-विवर्तन की श्रृंखला उसे वहीं जा पहुँचाती है ।

उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋणों में उत्पादक का तो भार होता ही नहीं । क्योंकि उसका शोधन तो उसके उत्पादन से हो जाता है, फ़िर भी यदि उत्पादन केवल इतना ही है जितना व्याज, अथवा कम, तो वह भार ही बनता है क्योंकि ऋण द्वारा जो उत्पादन का कारखाना या पूंजी रोप है वह कभी न कभी तो नष्ट हो ही जायगा अत: उसमें से मूल वापिस नहीं दिया जा सकेगा और वह कर में से देना होगा। उत्पादन ऋण वही काम का है जिससे उत्पादन क्षमता बढ़े,नई अधिक उत्पादक मशीनें औजार बनें, खास तौर से हमारे जैसे पिछड़े देश में केवल उपभोगी उत्पादन हमें आगे नहीं बढ़ा सकता, हर व्यक्ति की उत्पादन क्षमता बढ़नी आवश्यक है । अनु-त्पादक ऋण तो पूरा बोझ होता है देश की उत्पादन शक्ति पर ।

ऋण भार को भावी पीढ़ियों पर डाला जाना उचित है या नहीं यह एक प्रश्न है । क्योंकि ऋण वर्तमान सरकार ले और उसे मनमाना बर्वाद करदे, उसका भुग-तान २० या अधिक वर्ष आगे के लिये डाल दे,यह न्याय संगत नहीं हो सकता । भावी सन्तान हमारे कारनामों के लिये जुम्मेदार क्यों बनाई जाय । परन्तु इसके विरुद्ध एक बड़ा तर्क यह है कि अनुत्पादक ऋणों के संबन्ध में तो यह बात कुछ हद तक ठीक हो सकती है परन्तु उत्पादक ऋणों के विषय में नहीं, क्योंकि यदि इस प्रकार ऋण ले. कर देश निर्माण नहीं किया जायगा तो कोई निर्माण हो ही नहीं सकता । जो निर्माण ऐसे हैं जिनसे उत्पादन शक्ति चक्रवृद्धि व्याज की तरह बढ़ती ही चली जाय, उनका भावी संतान पर बोझ नहीं पड़ेगा, उसको आराम मिलेगा, वह चक्रवृद्धि रूप में वृद्ध उत्पादन शक्ति से व्याज ही नहीं मूल से कहीं अधिक प्राप्त करेगी ।

कुछ का ख्याल है कि आन्तरिक ऋण का पूरा बोझ सरकार हटा सकती है यदि जिससे जितना ऋण लिया उतना उसपर कर लगा दिया जाय । क्योंकि इस अवस्था में कर और ऋण बराबर हो जाँयगे । परन्तु यह बात व्यवहारिक नहीं है, आज

की वैयक्तिक अर्थ व्यवस्था में और सहकारी अर्थ व्यवस्था में यह प्रश्न उठता ही नहीं।

जैसे अन्य सभी ऋणों का एक बोझ सा सरकार के सिर पर रहता है वैसा मुद्रास्फीति ऋण का नहीं रहता। उसको देने की जिम्मेदारी नहीं है, न व्याज की।

यदि ऋणों के प्रभाव पर हम विचार करें तो अनुत्पादक विदेशी ऋण सबसे निकृष्ट प्रभाव डाल सकता है। राजनीतिक दासता और अर्थ शोषण के अतिरिक्त इससे देश के उद्योगों पर घातक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि पूंजी का काफी भाग माल के रूप में विदेश चला जाता है। जनता की क्रय शक्ति भी भारी कर के कारण कम हो जाती है, यह भी उत्पादन पर प्रभाव डालता है। देशी उत्पादक ऋण सर्वोत्तम है। इससे देश समृद्ध हो सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तिगत हाथों में पूँजी रह कर अधिक उत्पादक होती है परन्तु यह अवस्था अब नही है, अब तो संघीय उत्पादन व्यवस्था अधिक फल दायक होती है। अतः व्यक्ति के हाथ से बचत एकत्र होकर लोक-उत्पादन में लगेगी तो बहुत अधिक फली भूत होगी, बल्कि हम तो यहाँ तक कहते हैं कि जिनके पास जो उत्पादन के साधन हैं उनसे कुल ऋण के रूप में ले लिये जाँय और सरकार उन्हें संघीय ढंग पर आधुनिकतम वैज्ञानिक साधनों की सहायता से उत्पादन में लगा दे तो सर्वोत्तम उत्पादन होगा और सर्वाधिक।

मुद्रा स्फीति का प्रभाव बहुत कुछ उत्पादन और मुद्रा नियंत्रण पर निर्भर होता है। यदि उत्पादन न बढ़े और मुद्रा चलन पर कोई नियंत्रण भी न हो तो कीमतें एक दम बढ़ जायँगी। जिनकी आय निश्चित रकम के रूप में होती हैं उनकी क्रय शक्ति में भारी क्षय होगा, परन्तु यदि उत्पादन मुद्रास्फीति के अनुपात में ही बढ़ गया है और द्रव्य चलन नियंत्रण में है तो भाव नहीं बढ़ेंगे। मुद्रा-स्फीति द्वारा उत्पादन को काफी प्रोत्साहन मिल सकता है।

भारतीय लोक ऋण

सरकारों की आय के साधन जो कर, कीमतें और शुल्क हैं, उनसे जब काफी प्राप्ति नहीं होती तो वे ऋण लेकर अपना काम करती हैं। यह उचित भी है। वरना काम पड़ा ही रह जाय, परंतु आज जो सरकारों का ऋण लेने का ढंग है वह बहुत पुराना नहीं है। प्राचीन काल में राजा और बादशाह लोग करों से या लूट से अपने ख़जाने को भरा हुआ रखते थे, सोना चाँदी जवाहिरात आदि ही धन थे। यदि खजाना काफ़ी धन से भरा नहीं होता था तो सिर्फ इसीलिये भी धनी देशों पर चढ़ाई की जाती थी। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी आदि लुटेरे ही थे, तैमूर लंग, नादिरशाह भी इसीलिये भारत पर आ चढ़े थे। अंगरेजों ने भी भारत में खूब लूट की थी। परंतु राजा लोग ऋण भी लेते थे, अपनी निजी साख पर, राज्य की जुम्मेदारी पर नहीं। वह व्यक्ति-

गत ऋण होता था, राज ऋण नहीं, यहाँ तक कि किसी को प्रगट भी नहीं किया जाता था। ऋण लेना कमजोरी की निशानी समझी जाती थी,परंतु आज जब से सरकारी तंत्र में जनता का हाथ बढ़ता जा रहा है, ऋण का रूप भी सार्वजनिक होता जा रहा है।

भारत में लोक ऋण का प्रारंभ ईस्ट इंण्डिया कम्पनी ने किया। यूरोप की ही तरह यहाँ भी युद्धों के कारण ऋण चढ़ा। ईस्ट इण्डिया कंपनी ने डचों, फ्रान्सीसियों आदि से जो युद्ध किपे उनको वह भारत के मत्थे मढ़ गई। सन् १७६५ में जब वह बंगाल की मालिक हुई तो उस पर कर्ज था और १७९३ तक ही उस पर ७० लाख पौण्ड का ऋण हो चुका था। १८१४ में कम्पनी अंगरेज सरकार की प्रतिनिधि के रूप में हो गई और उसका व्यापार का एकाधिकार छिन गया। उस समय से इसने दो प्रकार के हिसाब रखने शुरू किये 'राजनीतिक और क्षेत्रीय खाता' (पोलिटिकल एण्ड टैरीटोरियल ऐकाउण्ट) तथा व्यापारी खाता (कमर्शल ऐकाउण्ट)। परन्तु अपने व्यापारी खाते की अनेक रकमें वह दूसरे खाते में मँढ कर घोटाला करती रही। १८३४ में में जाकर यह घोटाला बन्द हुआ,जब कि कंपनी का व्यापारी अधिकार छीन लिया गया। उस समय कंपनी पर ३ करोड़ ७० लाख पौण्ड का ऋण हो चुका था, लंका, सिंगापुर, हाँगकांग, अदन, रंगून में किये युद्धों के व्यय भी भारतीय हिसाब में ही डाल दिये गये, सेण्ट हेलेना, बेकूलन, मलाका प्रिंस ओफ वेल्स द्वीप, केण्टन, मनीला, केप आफ गुडहोप मारीशस में अंगरेजी कोठियों और जत्थों (ऐक्सपैडीशन्स) के खर्चे भी अपने ही सिर पड़े, तो ऋण बढ़ेगा ही।

१८३४ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने कम्पनी का पूरा कर्ज, व्यापारी और राज–नीतिक, भारत सरकार के नाम पर अपने जिम्मे ले लिया। १०।। प्रतिशत का भुगतान कंपनी की मिल्कियत पर देना मंजूर किया जो ६३०००० पौण्ड होता था और भारत के नाम लिख दिया गया। १८७४ के बाद १०० पौण्ड के शेयर के २०० पौण्ड देकर भुग–तान किया जा सकता था। २० लाख पौण्ड का एक कोष ऋण शोधन निधि के रूप में रख दिया गया, परंतु कर्ज चुकने के बजाय और बढ़ा। १८५७ के स्वातंत्र्य यूद्ध के पूर्व तक ४९० लाख पौण्ड कर्ज हो गया और ४४० लाख पौण्ड इस स्वातंत्र्य युद्ध को दबाने के खर्चे के नाम पर भारत के सिर मढ़े गये, १८५९ में ८८१ लाख पौण्ड ऋण था और उस पर ४९९ लाख पौण्ड व्याज तब तक दिया जा चुका था।

स्टर्लिंग और रुपया

यह ऋण दो रूपों में था, स्टर्लिंग ऋण और रुपया ऋण, अर्थात इंगलैण्ड से लिया और भारत से लिया हुआ ऋण। यों कुछ स्टर्लिंग ऋण भारतीयों ने भी खरीद रक्खा था और रुपया ऋण अंगरेजों ने भी।

१८६० में भारत सरकार ने नई नीति आरंभ की। रुपये को उत्पादक कार्यों

मे भी लगाना आरम्भ किया, रेल और नहर बनाने में। ऋण के दो रूप और हो गये, पब्लिक वर्क्स ऋण (जनकार्य ऋण) और सामान्य ऋण। १८७५ में ये नाम उत्पादक और सामान्य कर दिये गये । १८९८में इन दोनों मदों में ऋण की संख्या १६९३ लाख पौण्ड और ६३० लाख पौण्ड थी । इसके बाद सरकार ने सामान्य ऋण को उत्पादन में बदलना शुरू किया । १९१५ में सामान्य ऋण केवल ३ करोड़ पौण्ड रह गया और २ वर्ष में बिल्कुल उड़ जाता परन्तु प्रथम महायुद्ध में भारत सरकार ने १५० करोड़ रुपये का ऋण लेकर ब्रिटिश सरकार को युद्ध के लिये दान कर दिया, १३ करोड़ रुपये नई दिल्ली बनाने में लगा दिये । कई वर्षो तक बजट में घाटा पड़ता रहा। फल यह हुआ कि १९२४ में सामान्य ऋण २ अरब ४ करोड़ ९५ लाख रुपये हो गया, उत्पादन ऋण १९२० में ४४६. २ करोड़ रुपये हो गया था, १९२२ में रेल बनाने में १५०करोड़ और लगाने का निश्चय किया गया और १९२४में यह ऋण ५७८.३९ करोड़ रुपये हो गया। ३१ मार्च १९२४ को कुल ऋण ९१७.५३ करोड़ रुपये था। तात्कालीन वित्त मंत्री सर बेसिल ब्लैकेट ने ऋण शोधन के लिये एक ऋण शोधन निधि का प्रबन्ध किया, उस वर्ष ३.६६ करोड़ रुपये उस निधि में डाल दिये गये । कुछ वर्ष वह तरीका चालू रहा, परन्तु १९२९–३०की मंदी में बजट में घाटा आ पड़ा और अनुत्पादक ऋण फिर बढ़ने लगा ।

३१ मार्च १९३७ के दिन प्रान्तीय स्वाधीनता के पूर्व कुल ऋण १२०९ करोड़ रुपये हो चुका था, इसमें स्टर्लिंग ऋण भी १ शिलिंग ६ पैंस प्रति रुपये के हिसाब से शामिल है । यह ऋण और बढ़ा और सन् १९५०–५१ में केन्द्रीय ऋण २५५०.०९ करोड़ और प्रान्तीय ऋण लगभग १९४ करोड़ रुपये हो गया था । इतना भारी बढ़ाव द्वितीय महायुद्ध के कारण हुआ । मुद्रा- स्फीति का भी इसमें भारी हाथ रहा ।

१५ अगस्त १९४७ को भारत का विभाजन हुआ और उसी वर्ष पाकिस्तान और भारत में एक वित्त समझौता हुआ । उसके अनुसार कुल ऋण की जिम्मेदारी भारत सरकार के सिर रही और पाकिस्तान ऋण का अपना भाग ५० वर्ष में १९५२ से शुरू करके धीरे धीरे भारतीय सरकार को देगा ।

भारत का कुल ऋण जिन रूपों में है वे ये हैं—

	वर्ष १९५०–५१ में
१ स्टर्लिग ऋण	२१.४६ करोड़ रु.
२ रुपया ,,	१४८५.३२ ,, ,,
३ छोटी बचतें	३२१.६५ ,, ,,
४ ट्रेजरी बिलं तथा वेज़ एण्ड मीन्स एडवान्स (कोष पत्रक तथा द्रुत साधन अग्रिम धन)	३६२.२३ ,, ,,
५ अन्य जमा तथा अग्रिम	३७९.८३ ,, ,,
कुल	२५५०.०९ ,, ,,

स्टर्लिंग और रुपया ऋण—भारतीय ऋण के कुछ वर्गों पर अब निगाह डाल ली जाय। हमारे देश का कुल ऋण अधिकांश इन्हीं दो रूपो में है। स्टर्लिंग ऋण इंग्लैण्ड से लिया हुआ ऋण है। जिसके कुछ ऋण पत्रक भारतीयों के हाथ में हो सकते हैं और रुपया ऋण भारत का आन्तरिक ऋण है जिसके कुछ ऋण पत्रक अंगरेजों के हाथ में हो सकते हैं। सन् १९१४ तक तो स्टर्लिंग ऋण ही अधिक था, उस समय स्टर्लिंग ऋण २६५.८१करोड़ रुपये के मूल्य का था और रुपया ऋण लगभग १७९.७७ करोड़ रुपये था। उसके बाद १९३४ तक दोनों ऋण बढ़े, विदेशी ५१२.१५ करोड़ रुपये तक पहुँच गया और रुपया ऋण ६९३.०९ करोड़ रुपया हो गया। गत द्वितीय महायुद्ध से अँगरेजों की नीति में फर्क आ गया और उन्होंने इंग्लैण्ड के कर्ज को कम करना आरम्भ किया और रुपया ऋण बढ़ता गया, यहां तक कि १९४३ में विदेशी ऋण लगभग ६० करोड़ रुपये रह गया और युद्ध के अन्त और भारतीय स्वतंत्रता आने तक केवल ३८ करोड़ रह गया। सन् १९५० में ३० ही करोड़ का स्टर्लिंग ऋण था। रुपया रिण बढ़कर १९५० में २४२५.३२ करोड़ हो गया।

स्टर्लिंग के कम होने का कारण खुली लूट है। अँगरेजों ने युद्ध के बहाने भारत को खूब लूटा, यह डर था कि भारतीय जनता विरोध में है,स्वतंत्र हो गई तो हमारा ऋण दे या न दे, पहले ही चुका लो, और इतना अधिक माल इन्होंने यहाँ से उठाया कि भारतीयों की आँखों में धूल झोंकने के बाद भी भारत का कुछ कर्ज चढ़ गया यह मानना ही पड़ा। इस कर्ज को, जो इंग्लैण्ड पर भारत का माल उठा ले जाने से हो गया, **स्टर्लिंग बैलेन्स** कहते हैं।

रुपया ऋण बढ़ा,इसके चार मुख्य कारण बताये जाते हैं। एकतो द्वितीय महा-युद्ध का भारी व्यय भारत के सिर पर भी पड़ा और यहीं से ऋण लिया गया, दूसरे भारत सरकार स्टर्लिंग ऋण को रुपया ऋण में बदल रही थी, तीसरे युद्ध के बाद ही सरकार ने विकास कार्य पर व्यय करना आरम्भ कर दिया और चौथे स्वतंत्रता के बाद पाकिस्तान से आये हुए भारतीयों को पुनर्स्थापन में भारी व्यय बढ़ गया। परन्तु इन चार कारणों के अतिरिक्त पंचवर्षीय योजनाओं का व्यय भी रुपया ऋण में वृद्धि का कारण हो रहा है। वस्तुओं के दाम तथा कर्मचारियों के मँहगाई भत्तों के कारण भी ऋण वृद्धि पर कुछ प्रभाव पड़ा।

स्थायी, अस्थायी और चल ऋणों के विस्तार में न जाकर हम थोड़ा उत्पादक और अनुत्पादक वर्ग की ओर दृष्टि डाल लें। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि वैत्तिक दृष्टि से यह अच्छा है कि भारत का अधिकांश ऋण उत्पादक है, और इसका बोझ कर दाता पर नहीं है। परन्तु हमारी समझ में यह शुद्ध विदेशी दृष्टिकोण है जैसे भारत का अँगरेज वित्त मंत्री बात करता। भारतीय के दृष्टिकोण से देखने पर जितना ऋण उत्पादक कहलाता है और जो रेलों

और नहरों में लगा बताया जाता है, उसका कतिपयांश भी वास्तब में लगा नहीं हैं। अधिकांश उस नाम की आड़ में शुद्ध लूट है। अँगरेजों ने रेलें और नहरें शुद्ध लूट के लिये बनाई थीं भारतीयों की भलाई के लिये नहीं। आज इसके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। और इसलिये ये भारतीयों पर नैतिक दृष्टि से बहुत भारी बोझ रहे हैं। आज भी नहरों और रेलों की एकाधिकारी कीमतों के साथ परोक्ष कर की भारी रकम वसूल की जा रही है। रेलों के किराये स्वतंत्रता के बाद तीसरे दर्जे में चलने वालों के लिये, जो निम्नतम स्तर की जनता है, दूने से भी अधिक कर दिये गये हैं और नहरों द्वारा सिचाई का कर भी बहुत बढ़ा है। उत्तर प्रदेश में तो हाल ही में एक आन्दोलन भी इसके विरोध में हुआ था।

पंचवर्षीय योजनाओं के लिए जो ऋण लिए गये हैं और लिए जा रहे हैं उनका भी कतिपयांश ही वास्तविक उत्पादन में लग रहा है और उत्पादन शक्ति बढ़ाने के साधनों में तो नहीं के बराबर।

अनुत्पादक ऋण के संबंध में कुछ अर्थशास्त्रियों को संतोष है कि वह कुल व्यय का तिहाई ही है। कुल ऋण सन् १९४९ – ५० में २६०४ करोड़ रुपये था और अनुत्पादक ऋण उसी समय ७८९ करोड़ रुपये था। परन्तु भारतीय लोकवित्त की दृष्टि से यह संतोष जनक नहीं है। भारतीय राष्ट्रीय आय की तुलना में भी यह एक हल्की रकम नहीं है जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं। इसी वर्ष राष्ट्रीय आय समिति नें जो फरवरी में रिपोर्ट पेश की है उसके अनूसार हमारी राष्ट्रीय आय वार्षिक ९००० करोड़ रुपये है। इतनी जनसंख्या की इतनी कम उत्पादन शक्ति पर इतना ऋण एक भारी बोझ न समझना बर्तमान लोकवित्त नीति को न समझना है। अमेरिका की राष्ट्रीय आय की तुलना में उसका राष्ट्रीय ऋण १२९ प्रतिशत और इंगलैंड का ऋण उसकी राष्ट्रीय आय की तुलना में २४६ प्रतिशत बताया जाता है* और इस बात पर संतोष प्रकट किया जाता है कि भारत का प्रतिशत केवल ३० ही है। परन्तु यह प्रतिशतों का प्रश्न नहीं है,प्रश्न है, जनता के जीवन स्तर का। अमेरिका और इंगलैंड का जीवन स्तर भारत के स्तर से बहुत अधिक ऊपर है। भारत का जन साधारण दो वक्त भोजन भी नहीं पाता। उसकी ३ रोटी में से अगर १ रोटी छीन ली ऋण चुकाने के लिए, तो वह आधा पेट भी न खा सकेगा। और उन देशों के लोग तो सारी आवश्यकताओं को पूरी करके मज़े के सामानों से ओत प्रोत हैं। वे यदि एक बार बड़ा ऋण भी दे देंगे तो आवश्यकताओं पर फिर भी आँच नहीं आयेगी। इसलिए केवल प्रतिशत की तुलना धोखे में डाल देती है।

एक लोक ऋण के संबन्ध में यह भी विचार करना आवश्यक है कि स्वतंत्रता के बाद सरकार को ऋण जितना चाहिए था उतना देश में नहीं मिला,

---

* पब्लिक फाइनेंस – मेहता और अग्रवाल पृष्ठ ५१७

और इसी कारण सरकार को पुर्निर्माण के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लेना पड़ा। इस ऋण भिचाव के तीन कारण बताये जाते हैं।

१—सरकार सस्ता रुपया चाहती है, अर्थात् कम व्याज पर।

२—मध्य वर्ग की बचत कीमतें बढ़ जाने के कारण कम हो गई है।

३—ऊँचे दामों के कारण शहरों का रुपया गाँवों में चला गया और वहाँ वेकार पड़ा है।

परन्तु इन तीनों कारणों में से पहला ही मुख्य कारण है। क्योंकि पूँजी पति लोग सरकार की मजबूरी का पूरा लाभ उठाने पर तुले हैं। बिना ब्याज की दर बढ़ाये वे रुपया नहीं देंगे। दूसरी दोनों बातों में कोई तथ्य नहीं है। क्योंकि मध्यम वर्ग की बचत और गाँवों में छनकर गया हुआ रुपया हो ही कितना सकता है, जिससे लोक ऋण प्राप्ति पर प्रभाव पड़े।

परन्तु हम यहाँ फिर कहना ठीक समझते हैं कि यदि सरकार देश के प्रत्येक श्रम योग्य व्यक्ति की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के साधन और स्थिति उत्पन्न करे और हर व्यक्ति म उत्पादन उत्कंठा, व्यक्ति को मजबूर करके नहीं, मन से, पैदा करे तो इतना ऋण मिल सकता है कि सरकार उसे संभाल नहीं सकेगी। कारण मोटे तौर पर कहें तो यह है कि उस स्थिति में उत्पादन आज की आवश्यकता से कहीं अधिक होगा और खपत और बचत दोनों बढ़ते ही चले जायँगे। देश समृद्ध होता चला जायगा।

१६

भारतीय लोक-वित्त

भारतीय लोकवित्त की पृष्ठ भूमि

अन्य सभी देशों की भाँति भारतीय लोक वित्त भी राजस्व की अवस्था से विकसित होते होते लोक वित्त की ओर धीरे धीरे बढ़ता रहा है। इस ओर विकास की भारतीय अवस्था का जिक्र अपने लोक वित्त को समझने के लिये उपयोगी रहेगा।

राजनीतिक पृष्ठ भूमि—भारतीय महान अर्थशास्त्री वृहस्पति और चाणक्य के पूर्व से लेकर अशोक, विक्रमादित्य, हर्ष, पठान, मुगल, और अँगरेजी काल के अधिकांश में शासन व्यवस्था में जनता का हाथ नहीं के बराबर रहा, यद्यपि प्रारम्भ से उत्तरोत्तर जनता में से कुछ उच्च स्तर के लोगों को सलाह मशविरे का मौका दिया जाता रहा परन्तु राजस्व की वसूली और व्यय एक मात्र राजकीय संस्था के हित में होता रहा। भारत में अँगरेजी राज्य स्थापन के समय इंगलैण्ड में जन-प्रतिनिधि-सत्ता का बोलबाला हो चुका था और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी से सत्ता हटा कर इंगलैण्ड की सरकार ने ले ली, यूरोप के अधिकांश देशों में जन-प्रतिनिधि-सत्ता की ओर क्रांतिकारी प्रयत्न हो चुके थे। बिखरे हुए देश इटली, जर्मनी आदि में एकीकरण जोरों पर था अतः एक-राष्ट्रीय भावना का उदय, और जन जागृति का युग प्रवर्तित था। भारत पर उसका परोक्ष प्रभाव पड़ रहा था और प्रत्यक्ष वातावरण अँगरेजों के पाशविक अत्याचारों के फल स्वरूप सन् १८५७ के स्वतंत्रता युद्ध के रूप में बन चुका था जिससे सारा भारत एकीकरण की डोर में बँध चुका था। इस युद्ध में भारतीय असफल रहे, परन्तु उन्होंने युद्ध छोड़ा नहीं और १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस स्थापित हुई। अँगरेजी सत्ता को मजबूर किया जाता रहा कि वह देश की जनता को अपना राजनीतिक प्रबन्ध करने दे, फल स्वरूप आर्थिक ढाँचे में थोड़े थोड़े परिवर्तन हुए। भारतीयों को कुछ हद तक शासन व्यवस्था में हस्तक्षेप का मौका मिला। १९१९ में पहली बार कुछ शासन व्यवस्था भारतीयों के हाथ में 'हस्तान्तरित' विभागों के रूप में सौंपी गई, १९३५ के भारतीय शासन विधान में सभी प्रान्तीय शासन भारतीयों को अपने हाथ में लेने का मौका देना पड़ा। १९२०-२१,

१९३०-३२, १९४०-४२, १९४४-४६ के राष्ट्रीय आन्दोलनों ने अगरेजों को मजबूर किया कि वे पूर्ण सत्ता भारतीयों के हाथ में दे दें। और १५ अगस्त १९४७ को भारत पूर्ण स्वतंत्र हो गया। फिर सम्पूर्ण व्यवस्था अपने ही हाथ में आगई। इस प्रकार राजनीतिक प्रभाव लोक वित्त के विकास में सहायक हुआ।

आर्थिक पृष्ठ भूमि

आर्थिक परिस्थिति लगभग राजनीतिक पृष्ठ भूमि के पीछे ही पीछे चलती है। बल्कि और अधिक सही कहें तो कहना चाहिये आगे ही आगे चलती है क्योंकि आर्थिक परिस्थितियाँ ही राजनीतिक तथा अन्य परिस्थितियाँ बनाती हैं।

औद्योगिक क्रांति के पूर्व जो यूरोप में आर्थिक उत्पादन की स्थिति थी, मध्य-कालीन, वह भारत में लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक रही। उस समय तक आर्थिक उत्पादन का एक ही मुख्य साधन था 'भूमि'। भारत का व्यक्ति खेती कर के ही अपना पेट भरता और दुनियाँ का भी। क्वैसने के एकाकी कर की अवस्था यहाँ भी थी। 'भूमि कर' लगान, मालगुजारी, यही सरकार के राजस्व की मुख्य आय थीं। उद्योग धन्धे बहुत थोड़े थे, कपड़ा बुनना भी छिट् फुट घरेलू उद्योगों के ही रूप में था। अतः उनसे सरकार को कोई विशेष आय होने की सम्भावना नहीं थी, किंतु भारत में रेलें और कारखाने जब बनने लगे और भारत के बाहर आयात निर्यात बढ़ा भारतीय द्रव्य में एक रूपता आई और चलन बढ़ा तो राजस्व की अन्य मदें भी खुलने लगीं। देश में एक आर्थिक चेतना का हल्का सा विकास होने लगा और अब स्वतंत्र भारत कल के गुलाम देशों में सबसे अधिक उद्योग पूर्ण है। अतः आज 'भूमि' पर सरकारी आय का केवल एक तिहाई के लगभग ही निर्भर है. बाकी आयकर विक्रय कर, तट कर, नमक आदि कर कई नई मदें लोक आय के साधन बन गई हैं।

भारतीय लोक वित्त का विकास

हम भारत के हिन्दू और मुसलिम कालीन लोकवित्त व्यवस्था की ओर इस समय नहीं जा सकते क्योंकि वहाँ तक वह राजस्व की ही अवस्था में रहा परन्तु अँगरेजी सत्ता स्थापित होने से उसके विकास के बीज आ बुवे, अतः वहीं से उसके इतिहास का संक्षेप में जिक्र करेंगे।

सन् १७६५ में ईस्टइंडिया कम्पनी को बंगाल और बिहार की दीवानी का अधिकार इलाहाबाद की संधि में मिला। इस समय सरकारी आय की मुख्य साधन मालगुजारी ही थी, नमक कर, तट कर और चुंगी से भी कुछ आय हो जाती थी परन्तु बहुत कम। परन्तु मालगुजारी की वसूलयाबी कुप्रबन्ध के कारण बहुत बुरी अवस्था में थी। मालगुजारी के ठेकेदारों ने जनता पर अत्याचार कर के देश को उजाड़ दिया। १७९३ म लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त किया। इस के फल

स्वरूप आय स्थिर होने लगी। जमीदारों को मालगुजारी का दस बटा ग्यारह एक निश्चित समय तक सरकारी खजाने में जमा करना पड़ता था और बाकी वे अपने लिये रख सकते थे।

सन् १८३३ से पहले बम्बई, मद्रास और बंगाल तीनों प्रेसीडेन्सी सरकारें, आर्थिक मामलों में एक दूसरे से स्वतंत्र थीं, उनका अपना अपना बजट था, अपने अपने कर थे, व्यय था। उस वर्ष चार्टर पास कर के ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने तीनों की आर्थिक सत्ता एकत्र कर दी, पूर्ण केन्द्रीकरण हो गया। बंगाल का गवर्नर गवर्नर-जनरल था ही, सम्पूर्ण भारत सरकार का एक बजट बनने लगा। प्रान्तों को न कर लगाने का अधिकार रहा न बिना केन्द्र की अनुमति के व्यय करने का।

इस केन्द्रीयकरण से चार बड़ी खराबियाँ हो गईं। पहली बात तो यह कि प्रान्तीय सरकारों की छोटी छोटी बातों में केन्द्रीय सरकार हस्तक्षेप करने लगी। इससे व्यवस्था में कठिनाई होने लगी। दूसरे प्रान्तीय सरकारें गैर जिम्मेदार होने लगीं उनका काम सिर्फ यह रह गया कि वे बजट बनाकर केन्द्र को भेज दें और केन्द्र आय की व्यवस्था करे। व्यय में भी इसीलिये, प्रान्तीय सरकारें फिजूल खर्च वन गईं। तीसरे प्रान्तों में आपस में भी जलन बढ़ गई, सबसे अधिक केन्द्र उसे देता जो अधिक शोरगुल करता, और चौथे कर व्यवस्था का प्रभाव जनता पर बहुत बुरा पड़ा। माल गुजारी का बोझ सबसे अधिक गरीबों पर पड़ा जो दे नहीं पाते थे, नमक कर भी उन्हीं पर बोझ बनता था, तटकर और चुंगी ऐसे थे जिनसे अँगरेजी माल को पूरी सहूलियत मिलती और भारतीय उद्योग विल्कुल नष्ट हो गये। अतः सरकारी बजट में भारी घाटा रहने लगा। इस प्रकार का पूर्ण केन्द्रीकरण चल नहीं सका और १८५७ के गदर में यह व्यवस्था बिल्कुल ढह पड़ी। अब फिर सरकार ने नये प्रयोग आरम्भ किये और गदर के बाद जब अँगरेज सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से पूरी सत्ता ले ली तो विकेन्द्रीकरण की ओर कदम उठाना आरम्भ हुआ। एक एक करके पाँच बार में आज हम जहां है वहां विकेन्द्रीकरण आकर पहुँचा है।

विकेन्द्रीकरण की ओर

पहला प्रयत्न– श्री विलसन ने जो गदर के बाद वित्त सदस्य थे, केन्द्रीयकरण को सफल बनाने की आखिरी कोशिश की और पहली वार इस ओर सरकार का ध्यान आर्कार्षित किया कि हिसाब रखने का ढंग सब जगह एक सा होना चाहिये, असैनिक तथा सैनिक व्यय और हिसाब परीक्षण केन्द्रित होने चाहियें बजट एक ही तरह बनने चाहियें। रुक्की–टिकट कर (स्टाम्प ड्यूटी) बढ़ाया, आय कर नया लगा दिया' तट–कर दूना कर दिया, और कागज के नोट चला दिये, परंतु बजट संतुलित न हुए। मुख्य कारण था कि प्रांतीय सरकारें साथ नहीं दे रही थीं। आखिर लार्ड मेयो की यह

योजना ब्रिटिश सरकार को मंजूर करनी पड़ी कि कुछ महकमे जो बिल्कुल प्रान्तीय हैं और इसलिये जिनकी जानकारी केन्द्र को नहीं हो सकती, प्रान्तीय सरकारों को सोंप दिये जाँय। उनसे जो आय हो वह भी उन्हीं के पास रहे और उसके अतिरिक्त भारत सरकार उनको एक निश्चित रकम मदद के रूप में दे जिसका नाम 'ऐसाइनमेण्ट' (अनुदान) रक्खा गया। यह बात खोल दी गई कि यदि फिर भी उन्हें और रुपये की आवश्यकता निकल पड़े तो अपने प्रांत में से वे स्वयं प्राप्त करें, इस प्रकार जेल, रजिस्टरी, पुलिस, शिक्षा, औषधि, छपाई, सड़कें और सरकारी सिविल (असैनिक) इमारतें आदि प्रान्तीय सरकारों को दे दिये गये। कुल ४६८८७११० रु. प्रान्तों की सहायतार्थ हर साल देने तय हुए और यह रकम सन् १८७०–७१ के हिसाब के आधार पर प्रांतों को उनकी आवश्यकतानुसार बाँट दी जाय।

इस प्रकार आशा थी कि प्रान्तीय सरकारें अपने आप सम्हल जायँगी। इससे भारत सरकार को १० लाख पौण्ड की खालिस बचत तो हो गई, परंतु यह मेयो योजना सफल नहीं रही।

दूसरा प्रयत्न लार्ड लिटन के समय में किया गया। सरजोन स्ट्रेची जो मेयो योजना को सफल बनाने की कोशिश कर रहे थे इस नतीजे पर पहुँचे कि निश्चित रकम की मदद ठीक नहीं बैठती। उससे बढ़ते हुए व्यय को सम्हालना कठिन होता जा रहा है। १८७७ में यह निश्चित हुआ कि, प्रान्तीय महत्व के कुछ और विभाग प्रांतों को दे दिये जायँ और उनकी आय भी प्रान्तीय सरकारों के जुम्मे कर दी जाय और बाकी व्यय आवश्यकतानुसार केन्द्र दे। इस मदद का नाम 'ऐडजस्टिंग ऐसाइनमेण्ट, (पूरक अनुदान) रख दिया गया। अब प्राँतों के तीन तरह के आय साधन हो गये—

१– विभाग जो १८७१ में दिये गये थे,

२- अब दिये गये विभाग, आबकारी, रुक्की टिकठ, कानून तथा न्याय, सामान्य व्यवस्था आदि।

३– ऐडजस्टिंग एसाइनमेण्ट,

तीसरे प्रकार की आय को जो केन्द्रीय सरकार से मिलती थी इस प्रकार निश्चित किया गया कि हस्तान्तरित विभागों के आय और व्यय का अध्ययन करके सम्भावित अन्तर निकाल लिया जाता था। और उसी अन्तर को पूरा करने के लिए उतनी ही मदद दे दी जाती थी। इस लिटन– योजना से केन्द्र और प्रांन्त दोनों को लाभ हुआ।

तीसरा प्रयत्न विकेन्द्रीकरण की ओर १८८२ में लार्ड रिपन के समय में शुरू हुआ और १९२१ तक परिवर्तित होता हुआ चलता रहा। लिटन योजना को मद्रास, बर्मा और आसाम में नहीं स्वीकार किया गया। लिटन योजना में प्रांतीय सरकारों

का किसी प्रकार केवल काम ही चलता था, राष्ट्रनिर्माण के कार्यों के लिये सरकारों के हाथ में कुछ रह ही नहीं जाता था। और कुछ प्रान्तों की निजी स्थानीय समस्याएँ थीं जिनके कारण केन्द्रीय मदद काफी नहीं होती थी। अतः १८७९ में भारत सरकार ने एक और योजना बनाई और इन प्रान्तों में उसे लागू कर दिया गया। लार्ड रिपन के समय में वह अन्य प्रांतों में भी लागू कर दी गई। उसकी मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं–

१– आय साधनों के तीन भाग किये गये—

(क) पूर्णतः केन्द्रीय

(ख) पूर्णतः प्रान्तीय

(ग) विभाजित– आय वाले

२ हस्तान्तरित बिभाग सब प्रान्तों को एक से दिये गये। पहले किसी को कम आय का किसी को अधिक आय का, अलग अलग ढंग से दिये गये थे। इससे आपसी जलन जाती रही।

३–योजना केवल ५ वर्ष के लिये लागू की गई। हर पांच वर्ष वाद पुनः विचार किया जाय यह तय हुआ और सब प्रान्तों में एक ही साथ लागू की गई।

४– अनुदान की प्रथा विल्कुल तोड़ दी गई, यदि किसी प्रान्त की आवश्यकता को केन्द्र उचित समझे तो मालगुजारी में से जो पूर्णतः केन्द्रीय यिषय था, कुछ भाग दे सकता था।

इस योजना के अन्तर्गत भूमिकर, भेंट, तट कर, नमक,अफीम, व्याज, रेल और लण्दन के विनिमय तथा साम्राज्य विनमय से आय, ये पूर्णतः केन्द्रीय विषय रहे। प्रांतीय विषय रहे—प्रान्तीय गृह कर, औषधि, डाक, पुलिस, कानून और न्याय, शिक्षा, छापा और दफ्तरी सामान, आदि, तथा जंगलात,रुक्की टिकट, आबकारी, चुंगी, आय-कर, रजिस्ट्रेशन, आदि विभागों की आय आधी आधी केन्द्र और प्रान्त में बटने लगी।

पहला पुर्नविचार—सन् १८८७–८८ में हुआ इसके अनुसार विभाजित आय का तरीका छोड़ा तो नहीं गया परन्तु उसके अनुपात में अन्तर कर दिया गया। स्टाम्प और चुंगी की आय का तीन चौथाई केन्द्र को और एक चौथाई प्रान्त को दिया गया, भूमिकर का भी यही अनुपात तै हो गया। भूमिकर हालांकि केन्द्रीय ही था पर आधा प्रान्तों को मदद में दे दिया जाता था। इससे खजाने को ६३०१०० पौण्ड खालिस लाभ हुआ, प्रान्तों को भी लाभ रहा।

दूसरा पुर्नविचार–१८९२–९३ में हुआ और केन्द्र ने प्रान्तीय आय में से जो विभाजित आय का भाग थी पांचवाँ भाग और ले लिया। २०४२७०० रु. में से ४६६३०० रु. ले लिए। प्रान्तों का सन्तुलन बिगड़ गया। और फिर निश्चत अनुदान

प्रथा को ग्रहण करना पड़ा।

तीसरा पुर्नविचार—१८९६–९७ में हुआ। बर्मा युद्ध समाप्त हो जाने से केन्द्र की अवस्था कुछ सुधर गई थी। प्रान्तों को आय में और अधिक भाग दे दिया गया, अनुदान को न्यूनतम कर दिया गया। परन्तु इस काल में देश भर में अकाल पड़े, १८९६, १८९७, १८९९, १९०० में भूकम्प, दुष्काल, महामारी सभी आपत्तियाँ आईं और भारी व्यय हुआ, केन्द्र और प्रान्त सभी का, और बजट पर भारी जोर पड़ा।

चौथा विचार—कुछ कारणवश सन् १९०४ में हुआ। सरकार अब पंचवर्षीय पुर्नविचार को तोड़कर अर्ध स्थाई समझौता चाहती थी। इसके अनुसार जो सरकार प्रान्त का जितना व्यय सम्हालती है उसी अनुपात में विभाजित आय में वह भाग पाये। इस प्रकार बंगाल, यु. पी., बम्बई और मद्रास को एक चौथाई, पंजाब वर्मा को तीन बटा आठ, मध्य प्रान्त और आसाम को आधा। बाद में सबका भाग आधा ही कर दिया गया। मद्रास और यू. पी. को निश्चित अनुदान भी देने निश्चित हुए। परन्तु इससे काम नहीं चला। केन्द्रीय सरकार कर लगाती थी प्रान्तीय सरकारों के हाथ में खुले बाजार में ऋण लेना भी नहीं था। उनकी कठिनाई हल नहीं हुई।

पाँचवाँ समझौता—१९१२ में हुआ। यह स्थायी कहलाया। थोड़े से आवश्यक विषय और प्रान्तों को देकर प्रान्तीय स्थिति बदतर कर दी गई, और अर्धस्थाई को स्थाई कर दिया गया।

विकेन्द्रीकरण की ओर चौथा प्रयत्न—सन् १९१९ में हुआ। प्रथम महायुद्ध में भारतीयों ने अँगरेजों को मदद दी इस आशा पर कि हमें स्वतंत्रता मिल जायगी। १९१७ में बृटिश पार्लियामेंण्ट में घोषणा की गई कि हमारा उद्देश्य भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य की ओर धीरे धीरे ले जाना है। मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड की रिपोर्ट के आधार पर सन् १९१९ का भारत सरकार विधान बनाया गया। उसके राजनीतिक सुधारों के आधार पर ही वैत्तिक सुधार भी आवश्यक हो गये। लार्ड मेस्टन के सभापतित्व में एक कमेटी इसीलिए नियुक्त हुई। उसके अनुसार आर्थिक सुधार हुए तथा विकेन्द्रीकरण और आगे बढ़ा। इस सुधार के अनुसार निम्न परिवर्तन हुए। केन्द्रीय सरकार के व्यय को पूरा करने लायक विभाग केन्द्र को दिए गये बाकी सब विषय प्रान्तों को **दिए गए**। विभाजित मदों में भूमिकर, स्टाम्प, चुंगी, आयकर और सिंचाई कर मुख्य थीं। इनमें से भूमिकर, स्टाम्प, चुंगी और सिचाई प्रान्तों को दे दिए गये, आयकर केन्द्र को दिया गया। प्रान्तीय विभाग हुए भूमिकर, सिचाई, आबकारी, जंगलात, न्याय शुल्क, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन आदि और केन्द्र को मिले तटकर, चुंगी, नमक, आयकर, रेल और डाक तार। स्टाम्प को पहले न्यायी

और सामान्य में बाँटकर सामान्य स्टाम्प केन्द्र को दिए गये थे परन्तु बाद में दोनों ही प्रान्तों को दिए गये। यह भी तै हुआ कि प्रान्त अपनी बचत के अनुसार केन्द्र को अनुदान दें। अनुदान की रकम में सात वर्ष के बाद आवश्यक हेर फेर करके उसे स्थायी बना दिया जाय।

प्रान्तीय मदों को सुरक्षित और हस्तान्तरित दो भागों में बाँट दिया गया। हस्तान्तरित विषय भारतीय मंत्री के हाथ में दिए गये जैसे स्थानीय स्वराज्य, औषध व्यवस्था, स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, पब्लिक वर्क्स, कृषि, सहयोग, जंगल, चुंगी, मछली-गाह, मौत जन्म लेखा, तोल नाप आदि ये सभी राष्ट्र निर्माण के विभाग हैं। यह आशा की जाती थी कि इस सुधार के फलस्वरूप राष्ट्र निर्माण कार्यों के लिए काफी रकमें प्रान्तीय सरकारें बचा सकेंगी। पर ऐसा नहीं हुआ। मँहगाई, युद्ध ऋण, विधान सभाओं संबंधी व्यय आदि में व्यय बहुत बढ़ गया, और बजट घाटे पर घाटा दिखाने लगे। १९२४ में मुड़ीमेन कमेटी ने मेस्टन व्यवस्था में कुछ परिवर्तन सुझाये ताकि प्रान्तों का बोझ कुछ हल्का हो जाय।

केन्द्रीय बजट की हालत और बिगड़ गई। युद्ध के बाद सैनिक व्यय घटना चाहिये था वह उलटा बढ़ गया। १९२१-२२ में ७८ करोड़ हो गया जो कुल केन्द्रीय कर-आय से भी अधिक था। प्रान्तीय अनुदान न मिलें तो हिसाब ही नहीं बैठ पाता। १९२३–२४ में इंचकेप कमेटी बनी और उसने केन्द्रीय बजट में काफ़ी सुधार किया। सैनिक व्यय काफ़ी घटाया। नमक कर बढ़ा। अन्य कई आय साधन बदले। और केन्द्र की अवस्था कुछ सुधरी। बाद में अर्थ-सदस्य सर बेसिल ब्लैकेट ने कई वित्त सुधार किए जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं।

१–रेल बजट सामान्य बजट से अलग कर दिया गया। रेल बजट से निश्चित प्रतिशत बजट में दिया जाना तय हुआ।

२–सरकारी ऋण चुकाने के लिए एक ऋण शोधन निधि स्थापित की गई।

३–हिल्टन यंग कमीशन के सुझाव के अनुसार भारतीय मुद्रा का दर १ शि. ६ पें. प्रति रुपया निश्चित कर दिया गया।

४–एक प्रान्तीय ऋण निधि स्थापित की गई ताकि प्रान्त खुले बाजार में ऋण ले सकें।

इसके अतिरिक्त सर ब्लैकेट ने १९२४ में एक कर-भार-जाँच समिति भी नियुक्त कराई १९२३ में भारतीय तटकर कमीशन भी नियुक्त कराया जिसने सुझाव दिया कि भारत को 'आंशिक संरक्षण' दिया जाय।

पाँचवाँ प्रयत्न—विकेन्द्री करण की ओर सन् १९३५ के विधान द्वारा हुआ।

इसके अनुसार तीन सूचियाँ बनाई गईं। एक केन्द्रीय सूची, दूसरी प्रान्तीय सूची, तीसरी उभयनिष्ठ सूची।

केन्द्रीय सूची के विषयों पर केवल केन्द्र कानून बना सकता है, प्रान्तीय सूची के विषयों पर केवल प्रान्तों को पूरा अधिकार होगा और उभयनिष्ठ सूची के विषयों पर दोनों कानून बना सकते हैं। मतभेद के मौके पर केन्द्र का निर्णय मान्य होगा। प्रान्तों को अपने विषयों में पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई और सरकार का विधान गण-तांत्रिक हो गया।

मुख्य केन्द्रीय विषय निम्नांकित हैं—

आयात निर्यात कर, आबकारी कर तम्बाकू तथा अन्य भारत में उत्पादित माल पर(परन्तु इनको छोड़कर(क) शराबें पीने की(ख)अफीम, चरस गाँजा, आदि नशीली और अन्य रसायन (ग) ऐलकोहोल से बनी दवाएँ और सौन्दर्य वस्तुएँ या (ख) की वस्तुओं से बनी चीजें), कम्पनी कर (कारपोरेशन टैक्स), नमक, कृषि आय के अतिरिक्त आय पर कर कृषि भूमि कर छोड़ कर, अन्य पूँजी पर कर, कम्पनियों की पूंजी पर कर, कृषि भूमि के अतिरिक्त उत्तराधिकार कर, हुंडी, चैक, रुक्के माल लदाई के बिल, साखपत्र, बीमा पत्र, रसीद और प्रतिनिधि पत्र आदि पर टिकट कर, वायु और रेल से यातायात माल व सवारियों पर यात्रान्त कर, रेल किराये और माल भाड़े पर कर आदि।

प्रान्तीय सूची इस प्रकार है।

भूमिकर, उसका लगाना और वसूल करना, निम्न पर आबकारी (क) ऐल-कोहोल की शराबें पीने की (ख) अफ़ीम भारतीय चरस अन्य नशीली दवायें और गैर नशीली रसायन (ग) ओषधियाँ तथा शृंगार वस्तुएँ जिनमें ऐलकोहोल पड़ा हो, कृषि आयकर, भूमि, मकान, चूल्हा और खिड़की कर, कृषि भूमि की वारिसी, खदानों के अधिकारों पर केन्द्र द्वारा विकास कर के साथ कर, व्यक्ति कर, पेशा, व्यापार आदि पर, जानवरों नावों पर, बिक्री और विज्ञापन, चुंगी, विलास सामग्री पर कर, आमोद प्रमोद, जुआ, केन्द्रीय स्टाम्प कर के अतिरिक्त स्टाम्प कर, आन्तरिक जल मार्गों से माल और यात्रियों के यातायात पर कर, टाल कर, अन्य शुल्क आदि।

इनमें से कुछ कर प्रान्त उगाहते थे और वह कुछ केन्द्र, और फिर वे बाँट लिये जाते थे। प्रान्तों को स्वतंत्रता तो मिली थी परन्तु उनका लगभग ७० प्रतिशत व्यय ऐसा था जिस पर धारा सभाओं को मत देने का अधिकार नहीं था, जैसे गवर्नर, हाई कोर्ट जज, आई. सी. ऐस. आदि अफसर, हिसाब परीक्षक आदि के व्यय। अतः सरकारी आय का बहुत थोड़ा भाग ऐसा रह जाता था जिसे राष्ट्र निर्माण में उप-योग किया जा सकता था। सन् १९३७ में जब कांग्रेस मंत्रिमंडल प्रान्तों में बने तो वे

राष्ट्र निर्माण के लिये बहुत अधिक नहीं कर सके ।

परन्तु १९३९ में युद्ध छिड़ गया और राष्ट्रीय मंत्रिमंडल जबरन भारत को युद्ध में ढकेल देने के विरोध में पृथक हो गये, युद्ध का व्यय बढ़ता गया । कुल सैनिक व्यय युद्ध काल में १७४३.७१ करोड़ रुपये हुआ । युद्ध काल में भारतीय जनता पर भयंकर कमर तोड़ बोझ लादा गया । कर पर कर लगाये गये, आय कर बढ़ा--लाभ कर लगा और बढ़ा । तार, टेलीफोन, पोस्टकार्ड, लिफाफे, रेल किराये, अर्थात् जीवन का कोई ऐसा व्यवहार नहीं बचा जिस पर युद्ध कर का बोझ न पड़ा हो । जब करों से भी काम न चला, ऋण भी खूब ले लिया और फिर भी आवश्यकता पूर्ण न हुई तो मुद्रा स्फीति का सहारा लिया गया, फलस्वरूप वस्तुओं के दाम चौगुने बढ़ गये, मँहगाई द्योतक अंक जो १९३९–४० में ११२.९ थे वे १९४७ ४८ में ३५९.९ हो गये, और यह सामान्यतः सभी जानते हैं कि ये अंक वास्तविक मंहगाई से बहुत कम प्रकट करते हैं ।

स्वतंत्र विधान की वित्त व्यवस्था

जब १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ तो विधान में परिवर्तन हुआ, अब अंगरेज हट गय हैं, और हर बात अपने ही हाथ में हैं । नये विधान का स्वरूप बहुत कुछ १९३५ के बिधान के अनुरूप ही है । कार्यो का वही तिहरा विभाजन हुआ है ।

१– संधीय सूची

२– राज्य (प्रान्त) सूची

३– उभय सूची

जो विषय देश भर से सम्बन्ध रखते हैं वे संधीय सूची में हैं और जो क्षेत्रीय महत्व के हैं वे राज्य सूची में रक्खे गये हैं । जिनका दोनों प्रकार का महत्व है वे उभय सूची में रखदिये गये हैं । यह भी निश्चय हुआ कि विधान लागू होने के २ वर्ष के अन्दर तथा उसके बाद हर ५ वर्ष बाद राष्ट्रपति एक वित्त आयोग नियुक्त करेंगे जो निम्न बातों पर विचार करेगा—

१– केन्द्र और राज्यों में कर आदि की आय किस अनुपात में विभाजित की जाय ।

२– राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान किन सिद्धान्तों के आधार पर दिये जाने चाहियें ।

३– केन्द्र और राज्यों के आपसी समझौतों में विधान धारा २७८ और ३०६ के अनुसार क्या परिवर्तन होने आवश्यक हैं ।

४– अन्य आवश्यक कार्य ।

इस संविधान के अंतर्गत प्रान्तों को वही अर्ध-स्वतंत्रता है । संघराज्य की दृष्टि

से प्रान्तों का नाम राज्य रख दिया गया है । वैसे वित्त व्यवस्था के हिसाब से प्रांतों की अवस्था पहले से अच्छी ही है । उनको केन्द्र की अनुमति से ऋण लेने का अधिकार दिया गया है । राष्ट्र निर्माण कार्यों के लिये केन्द्र उन्हें अनुदान भी देता रहेगा। हर पाँचवें वर्ष उनके केन्द्र के साथ सम्बन्धों पर पुनः विचार होता रहेगा, कर वसूली के कर्मचारियों पर दुहरी फिजूल खर्ची बन्द हो गई । केन्द्र और प्रांतीय विषयों में घिल मिल नहीं रही । तट कर एक दम केन्द्रीय हो गया और जूट निर्यात कर के केन्द्रीकरण से जिन प्रान्तों की आय में हानि हुई उनको केन्द्र से उतना अनुदान में देना निश्चित हो गया । श्री मेहता और अग्रवाल की राय यह है कि प्रांतों की वित्त अवस्था और बिगड़ेगी ‡ परन्तु हम ऐसा नहीं समझते । उनके आय के साधन काफ़ी लचीले हैं । उत्पादन प्रोत्साहन के अनेक साधन उनके पास खुले हुए हैं जिनसे वे उत्पादन बढ़ाकर अपनी आय बृद्धि काफ़ी कर सकते हैं ।

एक बात इन वित्त शास्त्रियों ने इंगित की है कि स्वतंत्र विधान में स्थानीय पालिकाओं को कोई सीधा अस्तित्व नहीं दिया गया । वे राज्यों की दया पर हैं ।× परन्तु यह प्रश्न बहुत मौलिक है । क्या विकेन्द्री करण उस सीमा तक ले जाना लाभ कर है ? इस पर हम आगे विचार करेंगे । थोड़े में यहाँ हम यह इशारा कर सकते हैं कि विकेन्द्री करण स्वयं कोई लाभकर उद्देश्य नहीं है । स्थानीय विशेषताओं का उपयोग छूट न जाय अथवा दुरुपयोग न हो जाय, अज्ञान के कारण । इसीलिये विकेन्द्री करण का महत्व है और सिर्फ उसी सीमा तक जहाँ सर्वदेशीय व्यवस्था में छिटफुटता न फैले ।

नीमियर निर्णय

जब १९३५ में अँगरेज सरकार ने नया भारतीय विधान पास किया तो सर ओटो नीमियर को यह जांच करने के लिये नियुक्त किया गया कि प्रान्त और केन्द्र में क्या वित्त व्यवस्था सम्बन्ध रहे । उन्होंने अपने सुझाव अप्रैल १९३६ में पेश कर दिये ।

उन्होंने कहा कि केन्द्र का व्यय कम नहीं हो सकता, अन्यथा सुरक्षा खतरे में पड़जायगी, परन्तु प्रान्तों का व्यय राष्ट्र निर्माण कार्य की दृष्टि से बढ़ाया जा सकता है । प्रान्तों को सहायता देने के उन्हों ने तीन तरीके गिनाये—

१— केन्द्र प्रान्तों पर चढ़े अपने ऋण को रद करदे

२— जूट निर्यात के प्रान्तों को जो जूट निर्यात कर का ५०% मिलता था ६२॥ प्रतिशत कर दिया जाय ।

३— नकद अनुदान दिये जाँय ।

---

‡ पब्लिक फाइनेंस— पृष्ट—२०७ × वही

इन सुझावों का प्रभाव प्रान्तों के काफी हक में हुआ। ऋण रद होने से बंगाल को ३३ लाख, बिहार को २२ लाख, आसाम को १५।। लाख, सीमा प्रान्त को १२ लाख, उड़ीसा को ९.५ लाख, मध्य प्रान्त को १५ लाख की बचत हो गई। जूट आय में वृद्धांश से बंगाल को ४२ लाख बिहार को २. ५ लाख, आसाम को २.२५ लाख, और उड़ीसा को २५ हजार रु० का लाभ प्रतिवर्ष हो गया। प्रान्तों को एक प्रारम्भिक अनुदान अपनी स्थिति सम्हालने के लिये और सिन्ध, उड़ीसा, आसाम, सीमाप्रान्त और युक्त प्रान्त को वार्षिक अनुदान भी देने का सुझाव दिया।

आयकर के सम्बन्ध में श्री नीमियर ने कहा कि उसका ५० प्रतिशत प्रान्तों को दे दिया जाय। परन्तु यह तय हुआ कि केन्द्र के बजट में जो १३ करोड़ की कमी है उसे पूरा करने के लिये फिलहाल केन्द्र प्रान्तों का भाग पूरा या आंशिक रोक सकता है ताकि आयकर का केन्द्र का हिस्सा + प्रान्तीय अंश + रेल द्वारा भेंट, मिलकर घाटा पूरा हो जाय। सर ओटो नीमियर की सभी बातें छोटे मोटे हेर फेर कर के मान ली गईं।

नीमियर निर्णय में पहला संशोधन—१९४०–४१ में हुआ।

युद्ध आरम्भ हो जाने से स्थिति बदल गई थी। और सर नीमियर के निर्णय में सुधार आवश्यक हो गया मुक्य सुधार इस प्रकार हुए—

१– रेल विभाग की भेंट का प्रान्तों की सहायता के सम्बन्ध में विल्कुल संबंध न जोड़ा जाय।

२– आय कर के प्रान्तीय हिस्से में से केन्द्र ४.५ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष रक्खेगा, औसतन यही पिछले दो वर्षों में केन्द्र रखता आया है।

३– यह बात १९४१–४२ तक लागू रहेगी। फिर केन्द्र द्वारा रक्खा हुआ यह भाग प्रतिवर्ष एक बटा छः कम कर दिया जाता रहेगा,

नीमियर निर्णय में दूसरा सुधार १७ मार्च १९४८ को हुआ।

स्वतंत्रता के बाद देश के दो टुकड़े हो गये। भारत से सीमाप्रांत' सिन्ध आधा पंजाब, आधा बंगाल अलग हो गये। फलतः भारत सरकार ने उसमें फिर सुधार किया। यह सुधार आज्ञा पत्र निकाला तो १७ मार्च १९४८ को परंतु लागू किया गया स्वतं-त्रता दिवस से, अर्थात १५ अगस्त १९४७ से। इसके अनुसार—

१– आय कर के प्रान्तों में विभाजन का आधार बदला गया

२– निर्यात आय का प्रांतीय भाग ६२।।% के स्थान में २०% कर दिया गया,

३– आसाम और उड़ीसा ही को केवल अनुदान दो वर्ष के लिये देना तय हुआ,

४– चीफ कमिश्नरी प्रांतों को आय कर का १ प्रतिशत देना निश्चित हुआ,

देशमुख निर्णय

नीमियर निर्णय में तृतीय संशोधन २ वर्ष वाद पूर्व निश्चयानुसार संविधान

सभा के निश्चय के लिये भारतीय वित्त मंत्री श्री चिंतामणि देशमुख को प्रान्तीय-केन्द्र वित्त व्यवस्था में आवश्यक हेर फेर सुझाने के लिये जनवरी १९५० में नियुक्त किया गया। श्री देशमुख का निर्णय २ वर्ष लागू रहेगा यह तय कर दिया गया, इस निर्णय की मुख्य बातें निम्न हैं—

आयकर में बम्बई, मध्य प्रदेश, आसाम और उड़ीसा के भाग वही रहे। पश्चिम बंगाल और पंजाब के भाग बढ़ाये गये। मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार के घटाये गये। इस प्रकार बम्बई, मध्यप्रान्त, आसाम और उड़ीसा को अपना पुराना भाग क्रमशः २१, ६, ३, ३ प्रतिशत मिला। पश्चिम बंगाल को १३·५, पंजाब को ५·५ अर्थात् क्रमशः १·५ और ·५ प्रतिशत बढ़ गया। मद्रास को १७·५ (– ०·५) उत्तर प्रदेश को १८ (– १·०) बिहार को १२·५ (–०·५) भाग मिले।

जूट आय का बटवारा निम्न प्रकार हुआ। पश्चिम बंगाल को १०५ लाख, आसाम ४० लाख, बिहार ३५ लाख, और उड़ीसा ५ लाख।

पुराने देशी राज्यों में, जिनके संघों को अब ब श्रेणी के राज्य कहते हैं, नई वित्त व्यवस्था लागू की गई। आयकर पटियाला और पूर्व पंजाब संघ, तथा ट्रावंकोर कोचीन में पूरी भारतीय दर से लागू कर दिया गया। परंतु मध्य-भारत, राजस्थान में सौराष्ट्र की दर से, और बाकी हैदराबाद, मैसूर और सौराष्ट्र में वहाँ की वर्तमान दरों से लागू हुआ। इन में बटवारे के संबंध में यह निश्चय हुआ कि जिनकी आय में घाटा है उनको उतना अनुदान मिलेगा और जिनका आयकर का भाग, जो कि प्रांत विशेष से प्राप्त आयकर का आधा तै हुआ, अधिक है उनको वह मिलेगा। इस प्रकार हैदराबाद ७६ लाख, मैसूर ३२५ लाख, ट्रावंकोर-कोचीन को २८० लाख सौराष्ट्र को २५० लाख घाटा पूर्तिके लिए देने निश्चय हुए और पैप्सू को २४ लाख, मध्य भारत को ३५ लाख, राजस्थान को २२ लाख आयकर का भाग मिला। केन्द्र को इस प्रकार कुल १० करोड़ १२ लाख रुपये देना पड़ा।

आपसी खींच-तान में जैसे असन्तोष होना स्वाभाविक था वैसा इस देशमुख निर्णय के संबंध में हुआ। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपना अधिकार अधिक समझती है। कोई भी संतुष्ट नहीं है। परंतु इसमें श्री देशमुख क्या करें? उन्होंने कोई सिद्धान्त लेकर निर्णय नहीं किया। एक स्थिति को सुलझाना था वह किसी तरह भी सुलझा दी। नीमियर ने तो जन संख्या आदि का ख्याल रक्खा था। परंतु जैसे हम इस भारतीय वित्त व्यवस्था के इतिहास को देखते आये हैं, इस प्रकार के निर्णय, इस प्रकार की व्यवस्था कभी सफल और प्रभावशाली नहीं सिद्ध हुई। प्रान्त असन्तुष्ट ही रहे। कारण के लिए गहराई में जाना आवश्यक है। और नतीजा यह निकलता है कि असल कारण सहयोग भावना की बिल्कुल कमी है। विकेन्द्रीकरण इस भावना में और

कमी करता है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सभी वित्त व्यवस्था एक सूत्री होने से ही स्थिति सुधर सकती है। हाल ही में हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी चीन यात्रा के बाद वहाँ की एक सूत्री वित्त व्यवस्था की काफी प्रशंसा की है।

बर्तमान भारतोय लोकवित्त

स्वतंत्रता के बाद की लोकवित्त व्यवस्था अभी बहुत कुछ अंगरेजी काल की ही भाँति चली आ रही है। हम यहाँ उसकी कुछ मुख्य बातों पर ही प्रकाश डालेंगे। केन्द्रीय आय और व्यय की मुख्य मदें निम्न प्रकार हैं—

आय साधन	**व्यय की मदें**
आयकर	रक्षा व्यय
कम्पनी कर (कारपोरेशन टैक्स)	वसूली व्यय
लाभकर (अतिरिक्त तथा व्यापार)	सामान्य व्यवस्था
पूँजी लाभ कर	हिसाब परीक्षण
उत्तराधिकार कर या मृत्यु कर	न्याय और जेल
तट कर	पुलिस
केन्द्रीय आबकारी कर	धार्मिक
नमक कर	राजनीतिक
केन्द्रीय सरकार के व्यापारी कार्य	राष्ट्रपति
रेल, डाकतार, मुद्राटकसाल	विज्ञान विभाग
अफीम कर	शिक्षा, औषधि, स्वास्थ्य
अन्य	अन्य

आय कर

अध्याय १२ में हम आय कर के सिद्धान्तों का विचार कर चुके हैं। भारत में आय कर पहले पहल १८६० ई० में गदर में खजाना खाली हो जाने के कारण लगाया गया था और केवल ५ वर्ष के लिये अस्थायी तौर पर लगाया गया था। २००) वार्षिक तक की आय पर कर नहीं लगाया गया। २००) से ५००) तक केवल २ प्रतिशत और उसके ऊपर ४ प्रतिशत आयकर था। ५ वर्ष के बाद उस समय तो यह कर बन्द कर दिया गया परन्तु १८६९ में फिर लगा दिया गया और १८८६ से तो भारतीय बजट का यह स्थायी भाग हो गया। आय कर की दर और कर-वंचित सीमा में जब तब अन्तर किया जाता रहा है। आयकर सिद्धान्त के प्रकरण में हम वर्तमान दरों का कुछ दिग्दर्शन करा चुके हैं। भारतीय लोक आय का एक काफी बड़ा भाग आयकर से पूरा होता है। आयकर दाताओं की संख्या भी बढ़ती जा रही

है और आय भी बढ़ी है। कारण, रुपये का दाम गिरना, और कुछ उद्योगीकरण का बढ़ना दोनों हैं। १९५४-५५ के बजट में १२६.६५ करोड़ रुपये की आय इस मद से होने का अनुमान है। यदि इसमें कारपोरेशन कर और जोड़ दिया जाय जो इस वर्ष लगभग ३८.३५ करोड़ रुपये होने का अनुमान है तो दोनों आयें मिलकर कुल कर आय की ३६.७ प्रतिशत हो जायेंगी जो तिहाई से भी अधिक है।×

कारपोरेशन कर

यह एक विशेष सुविधा के बदले में कर है, आय के बदले में नहीं है। सीमित उत्तरदायित्व की कम्पनियों को सरकार एक विशेष सुविधा देती है इसी आधार पर यह कर लिया जाता हैं। कम्पनियों के कुल शुद्ध लाभ पर यह कर लिया जाता है। इस कर से काफी अच्छी आय होती है।

लाभ कर (अतिरिक्त और व्यापार)

भारत में अतिरिक्त लाभकर तो युद्धकाल में लिया गया था। अतिरिक्त लाभ व्यापारी की चतुरता या विशेष पूँजी के कारण नहीं बल्कि यौद्धिक परिस्थिति के कारण छप्पर फाड़ कर प्राप्त हुआ लाभ माना जाता है। इसलिये उसका बहुत बड़ा भाग सरकार ले लेने में बुरा नहीं समझती। अतिरिक्त लाभ किसे कहें इसका निश्चय करने के लिये सरकार या तो किसी एक या अधिक सालों को नाप-वर्ष (स्टैण्डर्ड-ईयर) करार दे देती है अथवा लाभ की एक नाप रकम तै कर देती है। नाप-वर्ष में हुए लाभ से ऊपर या नाप-रकम से ऊपर का लाभ अतिरिक्त लाभ मान लिया जाता है। भारत में अतिरिक्त लाभ कर पहले १९१९ में युद्ध के अन्त में लगा और १९२० में ही छोड़ दिया गया। उस समय अतिरिक्त लाभ का आधा कर में ले लिया जाता था। गत द्वितीय महायुद्ध में १९४० में यह फिर लगाया गया। १९३५-३६, १९३६-३७, १९३७-३८ नाप के वर्ष मान लिये गये। इन सालों में से किसी को भी व्यापारी अपने लिये चुन सकता था। ३००००) भी नाप रकम तै कर दी गई। इससे कम लाभ पर यह कर नहीं था। कर की दर वही आधी रक्खी गई। सन् १९४१-४२ में यह दर बढ़ाकर ६६.६ प्रतिशत कर दी गई। और बाकी ३३.३ प्रतिशत पर आयकर सुपर टैक्स देना पड़ता था। इस प्रकार कर दाता पर केवल २० प्रतिशत बाकी रह जाता था। स्वतंत्रता के प्रथम वित्त मंत्री श्री लियाकत अली खाँ ने इसे हटा दिया। और उसकी जगह व्यापारी लाभ कर लगा दिया। पर इससे आय बहुत भारी हुई थी १९४६-४७ में ७२ करोड़ की आय हुई थी।

पूंजी लाभ कर, उत्तराधिकार या मृत्यु कर

पूंजी लाभ वह है जिसमें पूंजी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय से बहुत ही बड़ी रकमें जब तब

× पब्लिक फाइनेंस—आर. एन. भार्गव पृष्ठ २४५

अचानक प्राप्त हो जाती हैं। उस पर यह कर लगाया जाता है। देय शक्ति के हिसाब से यह कर बिल्कुल उचित है। भारत में १५ हजार से ५० हजार तक १ आने से लेकर १० लाख के ऊपर पाँच आने प्रति रुपया तक इस मद में कर लगता है।

उत्तराधिकार अथवा मृत्यु कर मुगलों के समय में था। बड़े ओहदेदारों या सूबेदार आदि का सारा धन मृत्यु के बाद सरकारी खजाने में चला जाता था। कहते हैं आसफखाँ से १६४१ में १९ करोड़ का धन खजाने को मिला था। परन्तु अंगरेजों के आने पर मृत्यु कर उठा दिया गया। स्वतंत्रता से कुछ पीछे श्री लियाकतअलीखाँ और उसके बाद श्री सन्मुखम चेट्टी ने विधान सभा में यह कानून पेश किया पर किसी न किसी कारण से टलता रहा। हाल ही में संसद द्वारा यह कानून पास हो गया है।

तटकर

कर सिद्धान्त प्रकरण में हम तटकर पर विचार- कर आये हैं। प्रथम महा-युद्ध के समय तक तो अँगरेजों के सम्पूर्ण लाभ के हिसाव से यहाँ तटकर लगता था। भारत सरकार ब्रिटिश सरकार की हाँ में हाँ मिलाकर स्वतंत्र व्यापार का पोषण करती थी। उसीसे अँगरेजी व्यापारियों को लाभ था। भारत से कच्चा माल जाता था उसपर निर्यात कर से बचते थे। वहाँ से उनका पक्का माल आता था उसपर आयात कर नहीं लगता था। परन्तु बाद में सरकार को बजट में धन की आवश्यकता हुई तो राजस्व बढ़ाने के लिये कर लगाया, भारतीय उद्योगों की रक्षा के लिये नहीं। भारतीय तटकर आयोग की शिफारिश के अनुसार एक पक्षीय संरक्षण देना मंजूर हुआ। १९३२ से ओटावा समझौते के कारण ब्रिटिश माल पर कम तटकर लगाया गया। गत द्वितीय महायुद्ध में ये कर और बढ़ाये गये और नये लगाये गये। नई, बनावटी रेशम (तार और धागा), पैट्रोल, नमक, सिगार, सिगरेट, सुपारी, बना तमाखू, मिट्टी का तेल पर तटकर लगा,या बढ़ा। पर युद्ध के बाद घटा दिया गया। स्वतंत्रता के बाद तटकर पर फिर विचार हुआ और कई वस्तुओं पर कर लगे और बढ़े। भारत के कई उद्योगों को संरक्षण दिया गया है। भारत सरकार देश के हित में तटकर को लारही है।। इस वर्ष के बजट में तटकर आय से १७५ करोड़ की आय का अनुमान है जो कुल कर आय का ४६.८ प्रतिशत होगा।*

केन्द्रीय आबकारी कर—

प्रान्तीय आवकारी कर तो माल के विक्रय के समय लगता है परन्तु केन्द्रीय कर माल के उत्पादन के समय लगता है। अर्थात् यह एक उत्पादन कर है। आव-कारी भारत में बहुत पुराना कर है। अंगरेज पहले भारत में केवल शराब गांजा

* भार्गव—वही— पृष्ट ३००

आदि नशीली चीजों पर यह कर लेते थे। १९१९ तक केवल केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में यह कर था। बाद में प्रान्तीय सरकारों को कुछ वस्तुओं के विक्रय पर आबकारी कर लगाने की अनुमति दे दी गई। आजकल केन्द्रीय सरकार चीनी, दियासलाई, मिट्टी का तेल, बनस्पति घी, चाय, काफी, पेट्रोल, टायर, ट्यूब और तमाखू पर आबकारी कर लगती है। आबकारी से बड़ी भारी आय होती है। १९५४-५५ में कुछ वस्तुओं पर आवकारी आय निम्नांकित होने का अनुमान है।

पेट्रोल	२१५ लाख रुपये	
मिट्टी का तेल	२५ ,, ,,	
चीनी	१२०० ,, ,,	
दियासलाई	९०० ,, ,,	(राज्यों का भाग मिला कर)
तमाखू	३५०० ,, ,,	
बनस्पति घी	२७५ ,, ,,	
चाय काफ़ी	४२५ ,, ,,	
सूती कपड़ा	२६५० ,, ,,	

भारत में उत्पादन पर कर लगाना अभी उत्पादन को हतोत्साह करना है। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन पर कर का बोझ जनसाधारण पर सब से बोझिल होता है। जो हानिकर वस्तुएँ हैं उनके उत्पादन पर बहुत भारी कर होना चाहिये था जैसे बनस्पति घी पर। इस पर कर भारी नहीं लगने का फल यह हुआ है कि भारत में से आज असली घी लगभग गायब ही हो गया। अर्थशास्त्र का यह सिद्धांन्त पूरा चरितार्थ हो गया कि बुरा सिक्का भले सिक्के को भगा देता है। ये कर राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से लगाने चाहियें, समाज की समृद्धि के लिये ही इनका उपयोग होना चाहिये।

नमक कर

नमक कर प्राचीन काल से ही चला आता है। मुसलिम काल में भी यह कर था। भारत के विभिन्न भागों में इसकी दरें भिन्न थीं परन्तु १८८२ में सारे भारत में एक दर हो गई और १९०७ में वर्मा में भी वही दर लगा दी गई। इस शताब्दी के प्रारम्भ में यह कर २।।) प्रतिमन था। फिर १९०३ में २) मन और २ वर्ष बाद १।।) मन तक घटा दिया गया। प्रथम महायुद्ध के समय १) मन था पर फिर १।) मन किया गया। युद्ध के बाद २।।) मन किया गया, फिर धारा सभा के जोर देनें पर घटा दिया गया, १९३१ तक वैसा ही चलता रहा।

महात्मा गान्धी ने अपनी प्रसिद्ध डन्डी यात्रा द्वारा इस नमक कर का घोर विरोध किया और देश भर में नमक सत्याग्रह ही कर दिया। स्वतंत्रता के बाद प्रथम

वित्त मन्त्री श्री लियाकत अली खाँ ने इसे उठा दिया था। इससे सरकार को १० करोड़ रुपये तक आय हो जाती थी। पर भारत में नमक की खपत बहुत कम है, केवल वर्ष में ६ सेर प्रति व्यक्ति।

नमक कर उठ गया परंतु मँहगाई के कारण भाव बढ़ जाने से और पहाड़ी नमक पाकिस्तान में चले जाने से, नमक खरीदना जनसाधारण के लिये उतना ही कठिन हो गया जितना अंगरेजों के समय में था।

अफीम कर—

भारत में अफ़ीम सरकार के एकाधिकार की वस्तु है। चीन के लोगों को अंग-रेजों ने बहुत अफ़ीम खिलाई और खूब लूटा, इसलिए यहाँ अफ़ीम उन्होंने अपने हाथ में कर रक्खी थी। अब चीन अफ़ीम नहीं खाता। अब सिर्फ दवाओं के लिए ही यह यूरोप आदि भेजी जाती है। परंतु सरकार ने इस पर एकाधिकार करके देश को भारी हानि पहुँचाई है। अब अफ़ीम के डोड़े कूड़े में पड़े फिरते हैं पर मनुष्य उनको हाथ लगाये या काम में ले तो सजा का भागी होता है। इसको भारत में तो औषधि के लिये खुली रखना चाहिये। बजट को अब इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसकी रखवाली, ठेका आदि में भारी व्यय होता है। १९५२ – ५३ में ११००० मन अफीम पैदा हुई परंतु भारत में केवल चौथाई भाग ही उपयोग में आया। नीमच और गाज़ीपुर अफीम के सरकारी कारखाने हैं। ७७००० एकड़ में अफीम बोई जाती हैं। १९११ में हालेण्ड में हेग परिषद में तय हुआ कि भारत अफीम केवल ओषधि के लिये ही भेजे।

भारत सरकार के व्यापारी कार्य–

रेलें—रेलें भारत में १८५३ से गारंटी आधार पर बन रही हैं। इंगलैण्ड की कम्पनियों ने इस शर्त पर रुपया लगाया कि इस काम में घाटा हो तो भी भारत सर-क़ार उन्हें एक निश्चित मुनाफा तो देगी ही। १८५९ तक आठ कम्पनियों ने ५००० मील रेल पटरी बनाने का ठेका ले लिया पर १८६९ तक १६६·५ लाख का घाटा दिखा दिया। इससे सरकार ऊब गई और अपने स्वयं रेल बनाना तै किया परंतु १० बर्ष में ही उसे यह काम छोड़ना पड़ा और फिर कम्पनियों को ही ठेका दिया। मीटर गेज रेलें सरकार ने ही बनानी शुरू की थी। करीब १९०० तक बहुत सी मुख्य रेलें बन चुकी थीं।

भारत की रेलों में करीब ९०० करोड़ रुपया लगा हुआ है और सरकार का सबसे बड़ा व्यापारी कारबार है। १९५१–५२ में रेलों में ९·२५ लाख मजदूर काम करते थे जिनकी सालाना मजदूरी हुई थी १२२·८५ करोड़ रुपये। १९२४ से

रेलवे वित्त सामान्य बजट से अलग कर दिया गया, ऐक्वर्थ कमेटी की यही राय थी। यह तय हुआ कि रेल बजट सामान्य बजट में एक रकम दिया करेगा। इस व्यवस्था में कई बार परिवर्तन हुए। रेलों में वहुत बार भारी घाटे हुए परंतु १९३८–३९ से रेल अब तक बजट में कुछ देती रही है। देश विभाजन के पूर्व १९४५–४६ में रेलों ने १२ करोड़ रुपया दिया। परन्तु अनेक बार रेल भाड़े में भयंकर वृद्धि होने पर भी इस वर्ष रेल केवल ७.३७ करोड़ रुपये ही बजट को देगी।

रेल राष्ट्र का सबसे बड़ा कारबार है। उसके किराये भी दूने से अधिक कर दिये गये हैं फिर भी यह बुरा हाल है। इसमें सिवाय प्रबंध की खरावी के और कोई कारण नहीं हो सकता। राष्ट्र निर्माण के कार्यों में रद्दी वित्त व्यवस्था का बहुत निकृष्ट प्रभाव होता है।

डाक तार— रेल के बाद यही महकमा सबसे महत्वपूर्ण हैं, १९१२ तक डाक और तार विभाग अलग थे। पर तब ये एक कर दिये गये। १९२५ में इनको व्यापारी ढंग से पुनः संगठित किया गया। परंतु इसका वित्त सामान्य बजट से अलग नहीं किया गया, और न इस विभाग' के सिर पर सामान्य बजट में कुछ देने का भार लादा गया, इस विभाग से पूँजी का व्याज लिया जाता है और इसके लाभ जमा पर व्याज दिया जाता है। यह विभाग सभी के काम की चीज है। और सच्ची सेवा करता है।

१९४० में डाक तार, टेलीफोन के दर बढ़ाये गये और सामान्य बजट में इसकी बचत ली जाने लगी। पिछले साल इस विभाग से २.०२ लाख रु. मिले। परंतु इस वर्ष (१९५४-५५) केवल १.५० लाख हो मिलने का अनुमान है।

मुद्रा और टकसाल— भारत में अंगरेजों से पहले हजारों राज्य अपने सिक्के चलाते थे। अंगरेजों ने लगभग सव को हटा कर रुपया चलाया परंतु फिर भी ग्वालियर हैदराबाद, जयपुर उदयपुर आदि देशी राज्य अपने सिक्के भी भारतीय सिक्के के साथ चलाते रहे। अब नये विधान के अनुसार सम्पूर्ण भारत में केवल भारत सरकार का सिक्का ही चल सकेगा। केवल हैदराबाद का बाकी है वह १ अप्रैल १९५३ के बाद २ वर्ष के अन्दर रद कर दिया जायगा।

विक्टोरिया के समय तक भारत में सिक्का बहुत कुछ सच्चा था अर्थात् उसे तोड़ कर बेचो तो रुपया रुपये में ही बिक सकता था परंतु अब केवल कागजी सिक्के चलते हैं। यह बात सभ्यता की वृद्धि के अनुसार आवश्यक भी है। परतु अँगरेजों ने इसका भारी दुरुपयोग किया और अक्षम सरकारें अब भी दुरुपयोग कर सकती हैं। इस वर्ष सरकार को इस मद से करीब १८ करोड़ का लाभ होने का अनुमान है।

केन्द्रीय व्यय

भारत सरकार की आय की मुख्य मदों पर हमने संक्षेप में दृष्टि डाली अब हम उसके व्यय पर थोड़ा सा विचार और करेंगे।

प्रतिरक्षा व्यय—अँगरेजी काल में भारत का रक्षा व्यय हमारी रक्षा केलिये व्यय नहीं था बल्कि अँगरेजी साम्राज्य के लिये था। इंगलैण्ड की रक्षा भारत का धन और जन करता था और उसके अन्य उपनिवेशों की रक्षा और दूसरे देशों को गुलाम बनाने में भी भारत की फ़ौजें मदद करती थीं। अतः व्यय बहुत भारी था ही। अँगरेज अफसर भारतीयों से बहुत अधिक वेतन पाते थे। पिछले सन् १९३६-३८ में भारत का रक्षाव्यय ४७.१२ करोड़ रुपये था, जो तत्कालीन कुल व्यय का ५४.५ प्रतिशत था पर गतमहायुद्ध में यह एक दम बढ़ गया और १९४४-४५ में यह व्यय ३९६ करोड़ हो गया जो उस समय के कुल व्यय का लगभग ८० प्रतिशत था, फिर कुछ घटा और इस वर्ष १९५४-५५ में २०५. ६२ करोड़ व्यय होने को धारणा है। कुल व्यय का फ़िर भी यह ४५.६ प्रतिशत बैठ जायगा।

परन्तु व्यय स्वतंत्रता के बाद घटना चाहिए था। अंगरेज जो बरबादी और लूट के कारण व्यय अधिक करते थे उसके बंद होने का प्रभाव पड़ना चाहिए था। फिर भी व्यय कोई विशेष घटा नहीं। इसके निम्न कारण बतलाये जाते हैं—

१—मँहगाई बढ़ने के कारण वेतन और माल खरीद में अधिक व्यय।

२—स्वतंत्र होने के कारण एक स्वतंत्र राष्ट्र की तरह हर बात में स्वयं पूरी तरह तैयार रहना आवश्यक है। शिक्षा आदि का प्रबंध यहीं होना आवश्यक है।

३—काश्मीर में व्यय काफी हुआ।

किन्तु फिर भी हम यह मानते हैं कि गहरी छान बीन करके अत्यत्त आवश्यक ही व्यय करने से भारी बचत हो सकती है। कुछ लोगों का यह कहना है कि अभी संसार की तनातनी बढ़ रही है अतः सैनिक व्यय बढ़ेंगे, घटेंगे नहीं। यह बात भी कम से कम आज की स्थिति में अब नहीं रही। पं. नेहरू चीन की यात्रा करके लौटे हैं। (नवम्बर १९५४), और उनका यह मत पक्का है कि चीन युद्ध नहीं चाहता। रूस भी युद्ध नहीं चाहता है। इन दोनों राष्ट्रों के हित में, स्वार्थ में यह है कि ये युद्ध में न पड़ें। तो फिर संसारमें युद्ध नहीं हो सकता। छोटी मोटी स्थानीय लड़ाई हो सकती हैं। आज के दिन वह भी कहीं नहीं है। अतः सैनिक व्यय काफी घटाया जा सकता है। क्योंकि हमारा देश तो न किसी पर हमला करना चाहता है न हमसे किसी की दुश्मनी है।

जनता के सिर पर से यह अनावश्यक भारी बोझ जितनी जल्दी उतर जाय उतनी ही जल्द ये साधन, ठाली बैठे युवक और सामान, उपयोगी उत्पादन में लग-

कर देश को समृद्धि की ओर ले जा सकेंगे ।

वसूली व्यय—कर व्यवस्था की यह खूबी होनी चाहिए कि उसमें वसूली का व्यय नहीं के बराबर हो । परन्तु भारत में इसी में भारी रकम लग जाती है। १९३८–३९ में ३३१ लाख से बढ़कर १९४६–४७ में ८९१ लाख हो गया । स्वतंत्रता के बाद के वर्ष १९४८–४९ में ७३७ लाख व्यय हुआ । और इस वर्ष १९५४–५५ में इसका अनुमान है १२६६ लाख का । यह कुल कर आय का ३.४ प्रतिशत हो जायगा । इसके निम्न कारण बताए जाते हैं—

१—नये आबकारी करों का लगना ।

२—आयकर दाताओं की संख्या बढ़ना ।

३—देश विभाजन के कारण तटकर के लिए सीमा रेखा बढ़ गई है ।

४—करचोरी को रोकने के लिए कर्मचारी बढ़ाना ।

५—देशी राज्यों में भी भारत सरकार के ही कर्मचारी कर वसूल करने लगे हैं क्योंकि वे अब इसी क्षेत्र में आ गये हैं ।

६—मँहगाई

असैनिक व्यय

इस वर्ग में सरकार के अन्य सब कार्य आते हैं जो सैनिक नहीं हैं । इसके भी दो भाग कर सकते हैं । असैनिक व्यवस्था तथा विभिन्न नागरिक व्यय । इस छोटी पुस्तक में हम प्रत्येक के विस्तार में नहीं जा सकते अतः कुछ पर ही दृष्टि डालेंगे ।

नीचे जो केन्द्रीय असैनिक व्यय की अंकावृति दी जा रही है उससे कुछ बातों की ओर इंगित स्पष्ट ही होता है । १९५२–५३ और उसके बाद के दोनों वर्षों के अंकों की तुलना विभिन्न मदों को करने से मालूम होगा कि लगभग प्रत्येक मद के व्यय बढ़ रहे हैं सामान्य व्यवस्था व्यय तो लगभग ३० प्रतिशत बढ़ गया है । पुलिस का व्यय इससे भी अधिक बढ़ा है ।

असैनिक व्यय का मुख्य उद्देश्य होता है व्यवस्था और राष्ट्र समृद्धि का निर्माण । व्यवस्था का इस अर्थ में तो उपयोग स्पष्ट है कि देश में दंगे फसाद न हों । पुलिस व्यय की वृद्धि इस ओर दृष्टि आकर्षित करती है परन्तु विदेशी शाशन काल में ही पुलिस व्यय आवश्यकता से अधिक था, उनके जुल्मों से भी जनता न उबल पड़े इस दृष्टि से । अब उससे भी अधिक पुलिस की आवश्यकता आ पड़ी ? यह बात अंधकार में ही है ।

राष्ट्र समृद्धि निर्माण के व्ययों में भी वृद्धि है अवश्य । उदाहरणार्थ कृषि पर १९५२–३ में २२२ लाख रुपये व्यय हुआ उसके तीसरे वर्ष ४९८ लाख हो गया परन्तु देश में प्रत्यक्ष वृद्धि दृष्टिगोचर नहीं होती । प्रत्यक्ष के आधार पर ही इन अंकों का अध्ययन होना चाहिए ।

केन्द्रीय असैनिक व्यय×

	लाख रुपये		
	१९५२–३	१९५३–४ संशोधित	१९५४–५५ बजट
सामान्य व्यवस्था	९४५	११५८	१२४०
हिसाब परीक्षण	४३७	४९४	५४४
न्याय	१७	१९	२१
जेलें आदि	५	५	५
पुलिस	२९१	३३८	३८५
बन्दरगाह और मार्गदर्शन (Ports and Pilotage)	८३	८६	१०२
प्रकाश ग्रह तथा प्रकाशपोत	२०	२५	२९
धर्मगुरु (Ecclesiastical)	—	—	—
शाही प्रतिनिधि	—	—	—
जंगली जाति क्षेत्र	२१६	३२९	४३७
परराष्ट्र कार्य	४१९	४५१	४७७
विज्ञान विभाग	६२४	७९३	८८६
शिक्षा	३३२	५०६	१२३१
औषधि	७२	९७	१६४
लोक स्वास्थ्य	६९	१०२	२२२
कृषि	२२२	२८५	४९८
देहात विकास	—	१	१
पशु सम्बन्धी	३०	३३	३७
सहकारी विभाग	१	१	१
उद्योग धंधे	५४८	१२२५	१३८७
हवाई उड़ान	२७२	२८७	२५१
रेडियो	१९२	२१९	२२४
उद्योग, पूर्ति विभाग	—	—	—
अन्य	३७६	४०३	४१६
कुल योग	५१७१	६८५७	८६०८

× Public Finance— R. N. Bhargava— P. 635

सामान्य व्यवस्था—इसमें, मंत्रिमण्डल का व्यय, संसद का व्यय, भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के व्यय शामिल हैं। निम्न अंकों से कुछ अन्दाज इस मद का लग जायगा।

केन्द्र का सामान्य-व्यवस्था व्यय ×

	लाख रुपये		
	१९५०–५१	१९५१–५२	१९५२–५३
राष्ट्रपति के गृह, भत्ता, दफ्तर	१५.२१	१६.२३	१५.४४
पार्लियामेण्ट	२७.८४	३८.५७	१०९.४८
मंत्रिमंडल	२२.३५	२२.२६	२५.१०
संघी लोक सेवा आयोग	१७.२९	१८.३२	१८.४८
गृह मंत्रालय	६७.९६	७९.३५	११७.९३
सूचना, रेडियो मंत्रालय	८२.०३	८२.२३	९३.६१
कानुन ,,	६९.५५	१८७.७०	१२३.२५
शिक्षा ,,	२९.५२	३२.९५	६२.४४
कृषि ,,	२५.५०	—	—
स्वास्थ्य ,,	६.१५	६.०३	६.०७
परराष्ट्र ,,	५०.६७	५६.४१	७१.२४
वित्त ,,	१००.७७	१२०.७७	११८.७२
व्यापार ,,	६०.७८	६०.७१	७०.७०
श्रम ,,	२३.३८	२५.९६	२८.९३
उद्योग, खनिज, शक्ति ,,	१२.५१	—	—
डाकतार ,, (Communication)	६.५५	५.४२	६.१५
यातायात (Transport) ,,	२०.४२	२०.१४	२६.३८
खाद्य ,,	४०.५०	४७.६६	४६.८८
राज्य ,,	१२.४४	१५.८१	१२.३०
प्रतिरक्षा ,,	३१.०३	२५.४०	२५.८४
उद्योग और पूर्ति ,,	२०.३७	—	—
पुनर्स्थापन ,,	१८.३७	१९.८५	१९.७९
प्राकृतिक साधन तथा वैज्ञानिक शोध	—	९.५५	११.३१

× वही पृष्ठ ६३६

विदेश मंत्रालय के व्यय की भी एक अंकावृति यहाँ दी जाती है ।

परराष्ट्र विभाग का व्यय*

लाख रुपये

	१९५१–२ (संशोधित)	१९५२–३ (बजट)	१९५३–४ (संशोधित)	१९५४–५ (बजट)
परराष्ट्र मंत्रालय	—	७१	८४	८७
विदेशों में राजदूतावास तथा आयोग	१८६	२१६	२२२	२२५
अंगरेजी साम्राजिक देशों में भारत के प्रतिनिधि आदि–	४५	४६	६९	६७
संयुक्त राष्ट्रसंघ को अनुदान	६८	६७	६५	७२
अन्य व्यय	११३	९६	१२०	१८५
कुल योग	४१२	४९६	५९०	५८६

हिसाब परीक्षण—१९२१ से पूर्व यह विभाग सामान्य व्यवस्था में ही गिना जाता था परन्तु फिर अलग कर दिया गया । इसमें भारत के मुख्य हिसाब परीक्षक तथा उसके विभाग के वेतन और भत्ते, कार्यालय व्यय, और भारत के महामुनीम (ऐकाउण्टेण्ट जनरल) और उसके कार्यालय व्यय, वेतन और भत्ते शामिल हैं ।

राजनीतिक विभाग—सन् १९३७–३८ तक इस विभाग में इतनी बातें शामिल थीं ।

१— राजदूत और व्यापार दूतों का व्यय ।
२—देशी राज्यों में ब्रिटिश दूतावास ।
३– सम्राट के प्रतिनिधि का व्यय
४– जंगली जातियों के क्षेत्र
५– सीमा पर की अर्ध सैनिक टुकडियाँ

प्रान्तीय स्वराज्य के बाद इसके तीन भाग कर दिये गये । (१) सम्राठ प्रतिनिधि का व्यय (२) जंगली जाति क्षेत्र, (३) विदेशी मामलात । इन तीनों पर धारा सभा मत दान नहीं कर सकती थी । उस साल 'राजनीति' विशेषण निकाल दिया गया । स्वतंत्रता के बाद सम्राट का प्रतिनिधि खतम हो गया । राष्ट्रपति का व्यय एक अलग ही खाता हो गया । बाकी पर संसद फा पूरा अधिकार हो गया । अब यह विभाग 'राजनीतिक' नहीं 'विदेशी मामलात' कहलाता है ।

* वही पृष्ठ ६३६

राष्ट्रपति का व्यय– स्वतंत्रता के तुरन्त बाद तो लार्ड माउण्ट बेटन ही पहला गवर्नर जनरल रहा और वह पहली ही तनख्वाह पाता रहा। बाद में श्री राजगोपालाचारी कार्य वाहक गवर्नर जनरल हुए। उनका वेतन ५५००) प्रतिमास तय हुआ। आयकर नहीं लगाया गया। नये विधान के अनुसार श्री राजेन्द्र प्रसाद प्रथम राष्ट्रपति हुए उनका वेतन १००००) प्रतिमास है। जिसमें से वे १५००) स्वेच्छा से लौटा देते हैं। राष्ट्रपति और उनके सम्बन्ध के अन्यव्यय इस प्रकार हैं।

भारत के राष्ट्रपति का निजी और दफ्तर संबंधी व्यय * (रुपये)

	१९४६-४७	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१
राष्ट्रपति का वेतन	२२९१००	२२००००	६९४००	१२००००
भोज अधिदेय (Sumptuary Allowance)	४५०००	४५०००	४५०००	४५०००
यात्रा व्यय	२५००००	२४०३४८	२०६४००	१७१०००
कार्यालय व्यय—				
१. सेक्रेटरी दफ्तर	१४७८००	१३६६५७	२२२०००	२१००००
२. डाक व्यय, तार	११००००	२३४३१	१००००	९०००
३. अफसर, मोटरें, अन्य	७१०००	३१८७२	२६६००	२२०००
४. राष्ट्रपति चिन्हों का क्रय और रफू	३२०००	१२४३	—	—
५. सैनिक सहायक का दफ्तर	३०१४००	४६८३१६	३९१७००	३९५२००
यात्रा निधि	२३२०००	३४९३७६	१४०९००	१४१८००
अन्य	—	१९५१४८	४८०००	९०००
कुल योग		२३७३२४५	१८३६०००	१५७६०००

विज्ञान विभाग– हमारे प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू की गहरी दिलचस्पी के कारण यह विभाग बढ़ रहा है। इसमें निम्न कार्यालय सम्मिलित हैं। १– भारत की क्षेत्र नाप, २– बनस्पति पर्यालोकन ३– जीव पर्यालोकन ४– भूगर्भ पर्यालोकन ५– खानें ६–पुरातत्व ७– अन्तरिक्ष विज्ञान ८ –अन्यवैज्ञानिक कार्यालय। देश की उन्नति के लिये यह विभाग बहुत बड़ा कार्य कर सकता है।

शिक्षा, औषधि, स्वास्थ्य– अधिकांशतः ये कार्य प्रान्तीय सरकारों के हैं परन्तु भारतीय बजट में भी कुछ अंश इनके आते हैं। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़

* Public Finance-Mehta & Agarwala P. 253.

मुसलिम विश्वबिद्यालय, दिल्ली बहुबिषयक विद्यालय, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल कालेज दिल्ली, लारेन्स मेमोरियल स्कूल, लवडेल, और सनावर का पूरा व्यय भारत सरकार देती है। विश्वभारती, भारतीय अंकशास्त्र विद्यालय, समाज शास्त्र का टाटा स्कूल, आदि को मदद देती है। कुछ छात्रवृत्तियाँ भी स्वास्थ्य और स्वच्छता शास्त्रों की अखिल भारतीय संस्था, भारतीय मलेरिया संस्था, कसौली की केन्द्रीय शोध संस्था, भारतीय ओषध सेवा विभाग का मुख्य निर्देशक भी एक रखती है।

भारतीय लोकवित्त का सिंहावलोकन कई बातों पर प्रकाश डालता है। लोकवित्त का मुख्य उद्देश्य देश की जनता की समृद्धि करना है। इस उद्देश्य दृष्टि को सामने रखकर यदि हम विचार करें तो सबसे प्रथम बात जो दृष्टि पड़ती है वह यह है कि रक्षा व्यय समृद्धि के मार्ग में एक भारी खाई खोदे हुए है। आगे संसार शांती की ओर बढ़ रहा है अतः इस व्यय को समाप्त कर देने में सुविधा हो जायगी। दूसरी बात है कि लोक समृद्धि के कार्यो में बजट का बहुत कम भाग लग रहा है। और उद्योगीकरण पर और भी कम। भारतीय लोकबित्त का एक और पहलू जिस पर हम अलग से विचार करेंगे लोकायोजन है। अब स्वतंत्रता के बाद 'लोकायोजन' पर काफ़ी जोर है। प्रथम पंचवर्षीय आयोजन के ३ वर्ष निकल चुके हैं। परन्तु कोई उन्नति जनसाधारण की अवस्था में, दृष्ट्रिगोचर नहीं होती। ऐसा योजनाओं में खराबी और उनके कार्यान्वित करने की अक्षमता के कारण ही हो सकता है।

एक और बात यह ध्यान देने योग्य है कि भारतीय लोकवित्त का भार तो काफी है परन्तु सफलता बहुत कम। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि जनता में लोकवित्त की समझ अभी धीरे धीरे आयेगी। ज्यों ज्यों यह समझ आती जायगी सरकार को अधिक सक्षम और सजग होना पड़ेगा।

२०

बजट

बजट क्या है—

किसी भी सरकार के आय व्यय के व्यौरे को बजट कहते हैं। केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारें तथा स्थानीय संस्थाएँ भी जैसे नगरपालिकाएँ और जिला-परिषदें, जो अर्ध सरकारी संस्थाएँ हैं अपना अपना आय व्यय का व्यौरा प्रतिवर्ष बनाती हैं और पिछले व्यौरे के आधार पर, नए अनुमान तैयार करके अपनी अपनी लोक सभाओं के सामने पेश करती हैं और उनसे पास कराती हैं तभी वे कोई भी व्यय या आय कर सकती हैं और प्रत्येक आय तथा व्यय उसी बजट के अनुसार होना आवश्यक हो जाता हैं। बजट पास होकर कानून हो जाता है। हम केवल केन्द्रीय बजट का अध्ययन करेंगे। और सभी सरकारों के बजट लगभग उसी तरह बनते और पास होते तथा कार्यान्वित होते हैं।

योंतों यह आवश्यक नहीं है कि बजट एक ही वर्ष का हो। अधिक या कम का भी हो सकता हैं। परंतु एक वर्ष के बजट में आय व्यय के अंदाजों में सुबिधा रहती है और सरकार पर एक नियंत्रण रहता है। भारत में वित्त वर्ष १ अप्रैल से आरम्भ होता है, १ जनवरी से नहीं। बजट को मंत्रिमण्डल बनाता है और संसद के सामने पास करने के लिये पेश करता है। हर मंत्री अपने अपने कार्यों और वैत्तिक मामलों के संबंध में लोक सभा को संतुष्ट करता है। सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल का सम्मिलित उत्तरदायित्व है। यदि लोक सभा बजट पास न करे तो मंत्रिमण्डल को त्याग पत्र देना पड़ता है, अतः यह बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण विषय होता है।

बजट के अंक

प्रत्येक बजट में तीन वर्ष के आयव्यय के अंक रहते हैं। गत वर्ष, वर्तमान तथा आगामी वर्ष। वर्ष प्रारंभ होने से लगभग १ मास पूर्व बजट लोक सभा के समक्ष उपस्थित किया जाता है ताकि उसके पास उस षर विचार करने का पर्याप्त समय रहे। चूंकि आगामी वर्ष का बजट वर्तमान वर्ष समाप्त होने के पहले ही पेश करना होता है. इसलिए आगामी वर्ष के अनुमान, इस वर्ष के वास्तविक अंकों के आधार पर नहीं

बनाये जा सकते । इस वर्ष का पूरा हिसाब होने पर ही , जो कि वर्ष समाप्त होने के कुछ महीने बाद हो सकेगा,यह पता चलेगा कि अमुक मद से क्या आय वास्तव में हुई और अमुक मद में क्या व्यय वास्तव में हुआ, और बजट का अनुमान कहाँ तक ठीक या गलत निकला । इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि आगामी वर्ष के अनुमान पूरे समाप्त हुए वर्ष के आधार पर बनें, अतः गत वर्ष के वास्तविक अंक ले लिये जाते हैं । परंतु अधिकांश भाग इस वर्ष का भी बीत चुकता है अतः उसके भी पिछले ८, १० महीनों के अनुभव के आधार पर दुहराये हुए वार्षिक अनुमान ले लिये जाते हैं तब आगामी वर्ष के अनुमान बनते हैं । इस प्रकार प्रत्येक बजट में गत वर्ष के वास्तविक अंक (अंगरेजी में ऐक्चुऐल्स). वर्तमान वर्ष के देहराए हुए अनुमान (रिवाइज्ड ऐस्टी–मेट्स) के अंक प्रदर्शित किथे जाते हैं। अर्थात् जब फरवरी मार्च सन् १९५५ में अगले वर्ष १९५५–५६ का बजट पेश होगा तो उसमें सन् १९५३–५४ के आयव्यय के वास्तविक अंक , वर्तमान वर्ष १९५४–५५ के दुहराये हुए अनुमान और १८५५–५६ बजट अनुमान के अंक दिये हुए होंगे । वास्तविक आयव्यय को लोक सभा के सामने रखने का मौका तीसरे वर्ष ही आ सकता है । इसलिए भी गत वर्ष के वास्तविक अंक रक्खे जाते हैं ।

बजट में आयव्यय के कुल योग ही नहीं होते बल्कि व्यय के बड़े विभागों के नाम और व्यय, और उनके उपविभाग और उनके भी छोटे विभाग करके प्रत्येक का व्यय दिखलाया जाता है । इसी प्रकार आय की मदें बड़ी बड़ी, और उनके उपविभाग और उपविभागों के भी छोटे छोटे विभाग करके उनकी आय के अंक प्रदर्शित किये जाते हैं । तीनों बर्षो के , बजट में यह तो बतलाया जाता ही है कि सरकार का विचार आगामी वर्ष लोक व्यय कितना और किस प्रकार करने का हैं साथ ही यह भी विस्तार से बतलाना पड़ता है कि उसके लिये आय का क्या प्रबंध सोचा हैं । कौन से नये कर, परोक्ष और प्रत्यक्ष लगाने हैं , कौन कर रद करने, घटाने या बढ़ाने हैं , शुल्कों और कीमतों में क्या फेर फार करने हैं, यदि करों, शुल्क और कीमतों की आय से भी आयव्यय के बराबर होने की सम्भावना नहीं है तो ऋण लेकर पूरा करना है या मुद्रा स्फीर्ति द्वारा अथवा दोनों से और किस परिमाण में । विदेश से ऋण लेना है या देश से, अथवा दोनों से और कितने, किस किस शर्त पर आदि ।

यदि बजट में आय व्यय से अधिक होने का अनुमान हो तो वह बजट बचत का बजट कहलाता हैं और यदि व्यय अधिक होने की संभावना है तो वह घाटे का बजट है । घाटे की अवस्था में उसकी पूर्ति का उपाय भी बजट में बताया जाना आव–श्यक है ।

बजट की तैयारी

वजट बनाना वित्त मंत्रालय का काम है । वित्त मंत्रालय विभिन्न मंत्रालयों

द्वारा भेजे हुए अपने अपने आय व्यय के अनुमानों के आधार पर कुल बजट तैयार करता है। तरीका यह है कि वित्त मंत्रालय सभी मंत्रालयों को अगस्त के आरम्भ में ही एक एक खाली अनुमान पत्रक भेज देता है। उसमें एक पर्ची द्वारा यह भी ध्यान आर्कषित कर दिया जाता है कि मितव्ययता पर दृष्टि रक्खी जाय और बरबादी न की जाय, परन्तु इसे तो साधारणतः लोग रद्दी का टुकड़ा समझते हैं। इन खाली अनुमान पत्रकों पर ही हर मंत्रालय अपने अनुमान तैयार करता है। इनमें मुख्य दो भाग होते हैं। चालू आय व्यय और नयी माँगें। प्रत्येक मंत्रालय से एक नियंत्रण अफसर लगा होता है जो यह नियंत्रण रखता हैं कि मंत्रालय के सभी आय व्यय लोकसभा की आज्ञानुसार हैं या नहीं। उसी की सहायता से ये अनुमान तैयार किए जाते हैं। ये नियंत्रण अफसर लोग सभी अनुमानों को एकत्र करके १ अक्टूबर तक व्यवस्था विभाग में भेज देते हैं। व्यवस्था विभाग इन सब अनुमानों को, अपने अलग अनुमानों के साथ १ नवंबर तक वित्त मन्त्रालय में भेज देते हैं साथ ही उन पर अपनी राय भी लिख देते हैं। नियंत्रण अफसरों का यह भी काम है कि अपने अपने विभाग के वेतन और कार्यालय व्ययों के अनुमान अंक व्यवस्था विभाग के अतिरिक्त भारत के महामुनीम (ऐकाउण्टेण्ट जनरल) के पास भेज दें। महामुनीम उन अनुमानों पर विचार करके यह देखता है कि वे लोक सभा की आज्ञानुसार हैं या नहीं और फिर अपनी राय लिखकर व्यवस्था विभाग में भेज देता है। व्यवस्था विभाग महामुनीम की राय भी अनुमान पत्रों के साथ वित्त मंत्रालय भेज देता है। वित्त मन्त्रालय इन सभी पर खूब गहराई से विचार करता है। साधारण तौर पर चालू व्यय के अनुमानों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। हाँ नयी माँगों की पूरी छानवीन की जाती है। अकसर वित्त की कमी के कारण नई माँगें अस्वीकृत कर दी जाती हैं या धटा दी जाती हैं। इन सब पर विचार करके काट छांट करके वित्त मन्त्रालय कुल भारत सरकार का बजट तैयार करता है। नये कर आदि की भी व्यवस्था उसमें शामिल कर लेता है। और फिर वह बजट मंत्रिमण्डल के सामने रक्खा जाता है। मण्त्रिमण्डल उसमें आवश्यक फेर फार कर लेता है और पास कर देता है तभी वह लोक सभा के सामने वित्त मंत्री द्वारा पेश किया जाता है।

बजट पर मंत्रि मण्डल पहले ही पूरा विचार कर लेता है। क्योंकि इसका देश भर के जीवन के हर पहलू पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। व्यापार, उत्पादन, आदि सभी इससे प्रभावित होते हैं। देश की समृद्धि अथवा, ह्रास इसी पर निर्भर रहते हैं।

अब यह प्रत्यक्ष है कि केवल पिछले ६ महीने के आयव्यय के आधार पर ही चालू वर्ष के ब्यय का अन्दाज लगाकर रखना पड़ता है इसीलिये गत बजट में जो इस वर्ष के लिये अनुमान बनाये थे, उनको पिछले ६. ८ महिनों के वास्तविक अंकों के

आधार पर दुहरा लिया जाता है पर रहते वे अनुमान ही हैं क्योंकि सारा वर्ष तो अभी बीता नहीं। अतः वर्तमान वर्ष के अंक भी दुहराये हुए अनुमान अंक कहलाते हैं। मामूली तौर से यह झुकाव रहता है कि हर विभाग अपने व्यय का अनुमान अधिक लगाता है और आय का कम, इसलिये वित्त मंत्री को काफी सतर्क रहना पड़ता है।

बजट हमेशा वित्त मंत्री पेश करता है और जहाँ धारा सभा के दो भाग हैं वहाँ पहले लोक सभा या निम्न सभा में ही पेश किया जाता है। पहली मार्च या उसके पूर्व तक बजट पेश हो जाना चाहिये। उसी समय वित्त मंत्री एक लम्बा व्याख्यान देता है जिसमें बजट की सभी बातों को समझाता है। अनुमानों और नये कर, ऋण शुल्क, कीमतों, आदि के कारण, प्रकार और सम्भावनाओं तथा प्रभावों पर प्रकाश डालता है।

राज्यों और केन्द्र सभी जगह बजट ऐसे ही बनते हैं। पहले दिन तो बजट पर कोई बहस नहीं होती। लोक सभा का स्पीकर (सभापति) बजट पर बहस के लिये दिन निश्चित कर देता है। कम से कम एक हफ्ते बाद यह दिन रक्खा जाता है ताकि लोकसभा के सदस्यों को बजट पर बिचार करने का अवसर मिल जाय। बहस के लिये अकसर ३,४ दिन रक्खे जाते हैं। इस अवसर पर किसी विशेष मद पर बहस नहीं होती, केवल देश की सामान्य वित्त परिस्थिति पर बजट से सम्बन्ध जोड़कर प्रकाश डाला जाता है। कर-आय के अनुमान, मताधिकार के बाहर के अनुमान, तथा सरकार के स्थिति साधक उपायों पर सामान्य ढ़ंग से विचार प्रगट किये जाते हैं। उससे मंत्रीमण्डल को लोकसभा की विचार धारा का अन्दाज लग जाता है।

मतापेक्षी और मतातिरिक्त

बजट के अनुमानों में दो भाग होते हैं, मतापेक्षी, जिनपर लोक सभा अपना मत देने का अधिकार रखती है, दूसरे 'मतातिरिक्त' जिनपर लोक सभा को मत देने का अधिकार नहीं है। 'मतातिरिक्त' व्यय भारतीय यौगिक निधि (कंसौलीडेटैड फण्ड आफ इंण्डिया) अर्थात् भारतीय सरकार की सम्पूर्ण निधि में से दिये जाते हैं, बिभाग बिशेष पर निर्भर नहीं रहते। निम्नांकित व्यय 'मतातिरिक्त व्यय' हैं—

१– राष्ट्रपति (या प्रान्तों में गवर्नर) के वेतन भत्ते तथा उनके कार्यालय संबन्धी अन्य व्यय।

२– लोक सभा के सभापति और उपसभापति के वेतन तथा भत्ते।

३– लोक ऋण का मूल और व्याज

४– सर्वोच्च न्यायालय के जजों के वेतन, भते, पेन्शन आदि पर व्यय, केन्द्रीय बजट में, प्रान्तीय बजटों में उच्च न्यायालय के जजों के यही व्यय,

५— भारत के महामुनीम और मुख्य हिसाब परीक्षक के वेतन, भत्ते, और पेन्शन आदि।

६— विधान, लोकसभा, अथवा कानून द्वारा इस श्रेणी में रक्खे हुए अन्य व्यय।

बाकी सभी मदें मतापेक्षी हैं और लोकसभा उनपर मत देती है। इन व्ययों की माँगों को घटा सकती है। रोक सकती है। परन्तु आश्चर्य है कि बढ़ा नहीं सकती।

बजट पर सामान्य बहस हो जाने के बाद फिर प्रत्येक मंत्री अपने अपने विभाग की माँग पेश करता है। शब्द सामान्यतः इस प्रकार रहते हैं—

राष्ट्रपति को (या गवर्नर को)——— विभाग के १९— वर्ष के व्ययों के लिये एक रकम जो——— से अधिक न हो मंजूर कर दी जाय ×

साथ ही वह अपने उस विभाग की चालू वर्ष की कार्यवाही से लोक सभा को अवगत कराता है और अगले वर्ष के कार्य क्रम को समझाता है। मामूली तौर से कुल बजट के लिये कुल १०, १२ दिन ही रहते हैं अतः हर विभाग पर पूरी बहस हो सकना असम्भव है। विरोधी पक्ष कुछ खास माँगों को चुनकर इनपर पूरी बहस कर लेता है। कभी कोई राजनीतिक बात पर बहस करनी होती है या कोई जानकारी प्राप्त करती होती है तो नाम मात्र की रकम एक रुपया या १ पैसा काट लेने का प्रस्ताव पेश किया जाता है। इसपर यदि प्रस्तावक को मंत्रि मंण्डल से संतोष प्रद उतर मिल गया तो प्रस्ताव वापिस ले लिया जाता है यदि नहीं तो बहस आगे बढ़ती है। बहस के लिये निश्चित समय में बहस खतम नहीं हो तो, बहस, बन्दी का प्रस्ताव करके बहस रोक दी जाती है और फिर मत ले लिये जाते हैं। यदि बहुमत मंत्रि मंडल की ओर रहा तो प्रस्तावक चुप हो जाता है और बहुमत प्रस्तावक की ओर हो गया तो मंत्रि मण्डल को त्याग पत्र देना पड़ता है।

माँगें मंजूर हो जाने के बाद फिर एक और प्रस्ताव लोक सभा में पेश किया जाता है सम्पूर्ण ब्यय को मंजूर करने के लिये। इसे व्ययाधिकार प्रस्ताव (ऐप्रोप्रियेशन) कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं। माँगें जो लोक सभा पास कर चुकी है और भारतीय यौगिक निधि पर लागू व्यय। इस तरह के प्रस्ताव में कोई संशोधन नहीं पेश किया जाता। इससे एक बड़ा लाभ यह होता है कि इस प्रकार सब मिलाकर जो कुल व्यय लोक सभा ने पास किया इससे अधिक अब कोई नहीं कर सकता। अँगरेजी काल में गवर्नर जनरल ऐसा करता था, लोक समा जो कटौती कर देती थी उसे अपने विशेषाधिकार से फिर पास कर देता था। अब राष्ट्रपति केवल एक शोभन व्यक्ति है। वह पूर्ण बजट पास होने पर और कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता।

× पब्लिक फाइनेंस— मेहता और अग्रवाल— पृष्ट ५२५

पूरक बजट और पूरक स्वीकृति

यदि किसी समय चालू वर्ष का व्यय अधिक हो गया है तो वित्तमंत्री एक पूरक बजट भी आगामी वर्ष के बजट के साथ ही साथ पेश कर देता है। यदि एकाध ही मद में अधिक व्यय हुआ है तो उसी मद के लिए पूरक माँग पेश कर दी जाती है। इससे सिर्फ इतना होता है कि जो चालू वर्ष के लिए बजट पास हुआ था उसमें पास हुई रकम से जो अधिक व्यय हो गया है वह कानूनी करार दे दिया जाता है। ये पूरक बजट और पूरक माँग निम्न सभा में ही पेश होते हैं।

बजट कार्यान्वित कैसे होता है

जब बजट और व्ययाधिकार पास हो जाते हैं तो बजट के अनुसार कर, शुल्क, कीमतें, ऋण आदि वसूल करना और व्यय करना बजट को कार्यान्वित करना है।

कर वसूली—भारत में कर वसूली का काम वित्त मंत्रालय द्वारा किया जाता है। यूनियन बोर्ड आफ रेवेन्यू (केन्द्रीय कर समिति) वित्त मंत्रालय का ही एक भाग होता है। उसी के पूर्ण नियंत्रण में वह काम करता है। प्रान्तों में अन्तर है। वहाँ अलग कर विभाग होता है जो वित्त मंत्रालय के नीचे नहीं होता।

केन्द्रीय कर समिति में २ सदस्य होते हैं। एक मंत्री और दूसरा उपमंत्री। इसके अतिरिक्त अनेक विशेषज्ञ कर्मचारी होते हैं। ये लोग केन्द्र के अधिकार के सभी करों को वसूल कराने का प्रबंध करते हैं। ये स्वयं नहीं वसूल करते बल्कि उनके नीचे वसूल करने के लिए कई संगठन हैं। उदाहरण के लिए आय-कर वसूल करने के लिए सारा भारत कुछ क्षेत्रों में बँटा हुआ है। प्रत्येक क्षेत्र एक आय-कर कमिश्नर के जुम्मे रहता है। उसके हाथ में अनेक आय-कर अफसर इंसपेक्टर, आदि रहते हैं। ये कमिश्नर उसी केन्द्रीय कर समिति के नीचे रहते हैं। इसी प्रकार तटकर वसूली के लिए बम्बई, मद्रास और कलकत्ते में तटकर विभाग हैं। इस विभाग का अध्यक्ष कलक्टर आफ़ कस्टम्स (तटकर अधिकारी) कहलाता है जो सीधा केन्द्रीय कर समिति के अधिकार में है। इस विभाग में भी अनेक विशेषज्ञ और छोटे कर्मचारी होते हैं। उसका नकदी विभाग निश्चित दरों से वसूल करता है। आबकारी करों के लिए केन्द्रीय आबकारी विभाग इसी केन्द्रीय कर विभाग के नीचे है। सारा भारत केन्द्रीय आबकारी के लिए कुछ क्षेत्रों में बँटा है। प्रत्येक क्षेत्र एक अफसर के जिम्मे होता है जिसे आबकारी कलक्टर कहते हैं। इसकी मदद के लिए भी अनेक अफसर रहते हैं।

उसी प्रकार प्रान्तों में भी कर-वसूली का जाल फैला हुआ है। वसूल होते ही सारा रुपया सीधा खजाने में भेज दिया जाता है, रिजर्व बैंक को, जहाँ रिजर्व बैंक नहीं है वहाँ इम्पीरियल बैंक को दिया जाता है, और वे सरकार के खाते में जमा

कर लेते हैं। वसूली में से खर्च चलाने के लिए भी कुछ नहीं रक्खा जा सकता, क्योंकि बजट में जो आय की रकमें दिखाई जाती हैं वे कुल के अनुमान होते हैं खर्च काटकर निकली रकमें नहीं।

व्यय का नियमन—व्यय पर वित्त मंत्रालय का पूरा नियंत्रण रहता है। प्रत्येक विभाग को खर्च मंजूर करते समय देश के महामुनीम और मुख्य हिसाब परीक्षक की मदद से कठोर नियंत्रण रक्खा जाता है। व्ययाधिकार लोक सभा में पास होते ही वित्त मंत्रालय बजट की एक एक प्रति हर विभाग के अध्यक्ष, नियंत्रण अफसर, व्यवस्थापकों और महामुनीम तथा मुख्य हिसाब परीक्षक के पास भेज देता है। ये अफसर विभागीय व्ययों पर पूरी निगाह रखते हैं। नियंत्रण अफसर व्यय को अपने विभाग के छोटे छोटे खातों में बाँट देता है। परन्तु यह उनका आन्तरिक मामला है, वित्त मंत्रालय को इस बँटवारे से कोई मतलब नहीं। वह तो इतना ही देखता है कि विभाग भर में बजट से अधिक व्यय न हो। यदि व्यय किसी कारण से बढ़ गया है तो यह आवश्यक है विभागीय अध्यक्ष वित्तवर्ष समाप्त होने के पूर्व लोक सभा की अनुमति प्राप्त करले अन्यथा हिसाब परीक्षक ऐतराज उठायेगा ही जिसका नतीजा गम्भीर होता है।

आय और व्यय सब रिजर्व बैंक के जरिये होता है। यदि कोई विभाग अपने लिये मंजूर हुआ पूरा रुपया उस वर्ष में व्यय नहीं कर पाता तो बचा हुआ रुपया वापिस सरकारी खजाने में जमा हो जाता है। अगले साल फिर नयी मंजूरी में से ही पिछला व्यय भी करना पड़ेगा। कोई वेतन रह गया या किसी खरीद का दाम देना बाकी रह गया और वह साल के अंत तक न हुआ तो फिर वह आगामी बजट में से ही देना होगा। इस वर्ष की बची रकम अब उस विभाग को नहीं मिल सकती। व्यय पर नियंत्रण रखने के लिये एक नियंत्रण अफसर हर विभाग से लगा रहता है। या तो विभागीय अध्यक्ष को ही यह काम दे दिया जाता है अथवा वित्त मंत्रालय का कोई व्यक्ति नियुक्त कर दिया जाता है। यह अफसर रुपया बाँटने वाला व्यक्ति नियुक्त कर देता है जो हर खाते को पास किया हुआ रुपया हर महीने देता रहता है और महीने की १० तारीख तक खातेवार व्यय का हिसाब भेजता रहता है।

हिसाब परीक्षण- यह एक बड़ी गलती अभी तक चली आरही है कि भारत में महामुनीम जिसका काम हिसाब रखना है और मुख्य हिसाब परीक्षक जिसका काम हिसाब की जाँच करना है एक ही व्यक्ति है और वही दोनों काम करता है। जब वह खुद ही हिसाब बनाता है और खुद ही उसको जाँच लेता है तो वह हिसाब परीक्षण क्या हुआ ? यह खराबी अति शीघ्र दूर होनी चाहिये। प्रान्तों में कोई हिसाब परीक्षक नहीं है। केन्द्र वाला ही उनके हिसाब की परीक्षा करता है। हाँ महामुनीम हर प्रान्त में अपने अपने हैं।

स्वतंत्रता से पहले मुख्य हिसाब परीक्षक भारत मंत्री द्वारा नियुक्त किया जाता था। वह और कोई काम करने का अधिकारी नहीं था। स्वतंत्रता के वाद भी उसको स्वतंत्र व्यक्ति रखने के लिये, उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं और उसको हटाने का वही ढ़ंग है जो सर्वोच्च न्यायालय के जज को हटाने का है। वह और कोई कार्य स्वीकार नहीं कर सकता, लोक सभा जो बताये वे सब काम उसको करने पड़ेंगे। सेना और रेल विभागों को छोड़ कर सब का हिसाब रखना उसका कर्तव्य है। खजानों, विभागों के प्रारम्भिक और पूरक हिसाब, सामान का लेखा और व्यापारीं हिसाब भी उसके जिम्मे नहीं हैं। परन्तु वह उनको देख सकता है। किस प्रकार हिसाब रक्खा जाय यह तरीका निश्चित करता है।

वह हिसाब चाहे रखता या न रखता हो परन्तु उसे परीक्षण सब हिसाबों का करना पड़ता है। परीक्षण के मामले में वह मंत्रि मण्डल से भी ऊपर है। उसके नियंत्रण में नहीं है। ऋण, निधियों, और भेजभाज के हिसाब भी देखता है, रेल के हिसाब भी जांचता है। अपना परीक्षण परिणाम वह राष्ट्रपति के सामने रखता है।

लोकसभा का व्यय पर नियंत्रण—

लोकसभा व्यय पर नियंत्रण रखने के लिथे दो समितियाँ बनाती है।

१— केन्द्र में स्टैंण्डिग फाइनेंस कमेटी (स्थायी वित्त समिति) प्रान्त में यह फाइनेंस कमेटी (वित्त समिति) कहलाती है।

२— पब्लिक ऐकाउण्ट कमेटी (लोक हिसाब समिति)। दोनों जगह यही नाम है।

स्थायी वित्त समिति यें लोक सभा के लगभग १० निर्वाचित सदस्य होते हैं और लोक सभा की इच्छानुसार ही यह समिति काम करती है। इसके काम निम्न प्रकार हैं—

१—व्यय की नई माँगों की छानबीन करना।

२— इकट्ठी धन स्वीक्रित में से छोटे खातों के लिए रकमें मंजूर करना।

३— व्यय में मितव्ययता और कमी के मार्ग बताना।

४— प्रस्तावार्थ बजट की छानबीन करना।

५— वित्तमंत्री यदि अन्य कोई बात पूछे तो अपनी सम्मत्ति प्रगट करना।

वैसे इस कमेटी की स्थिति केवल सलाहकार की है। किन्तु अकसर उसकी रायको वित्त मन्त्री मान लेता है। यदि उनको अपने कार्य के लिये अधिक जानकारी की आवश्यकता होती है तो वित्त मंत्रालय वह जानकारी देता है। इस कमेटी के सभी सदस्य इस विषय के विशेषज्ञ होते हैं ताकि वैतिक मामलों की गहराई में जा सकें।

लोक हिसाब समिति— प्रत्येक सत्र के प्रारंभ में लोक सभा अपने सदस्यों में

से १० व्यक्ति चुन कर यह समिति बनाती है । वित्त मंत्री ही अकसर इसका प्रधान होता है । मुख्य हिसाब परीक्षक इसमें सहायतार्थ बैठता है परंतु सदस्य नहीं होता। प्रांतों में प्रान्तीय महामुनीम यही काम करते हैं । इस समिति का मुख्य काम व्यया-धिकार द्वारा व्यय उठाव पर मुख्य हिसाब परीक्षक की राय की छानबीन करना है। वह इसमें कमेटी को मदद भी करता है। समिति यह देखती है कि कोई ऐसा व्यय तो नहीं किया गया है जिसका अधिकार लोक सभा ने नहीं दिया अथवा व्यय उठाव नियमानुसार हुआ है या नहीं। स्टोर और सामान, सरकारी व्यापार, कार-खानों के हिसाब की जांच करती है । उनके लाभ हानि के हिसाब और उनके संबंध में हिसाब परीक्षक की सूचना पर भी बिचार करती है। इस कमेटी का अधिकार सरकार के कुल 'मतापेक्षी' व्ययों की छानबीन का है परंतु ऐसी मान्यता हो गई है कि समिति 'मतातिरिक्त' व्ययों की भी छानबीन कर लेती है । यह कमेटी विभिन्न विभागों के अफसरों को बुला कर पूछ ताछ कर सकती है और जो अफसर किसी अनि-यमित कार्यवाही के लिये जिम्मेवार हो उसको भी बुला कर उससे सफाई माँग सकती है । ऐसी घाँधली में हिसाब परीक्षक का क्या कहना है वह भी सुनती है और उसके लिये क्या कार्यवाही की गई यह भी जान लेने का उसका अधिकार है। यह समिति कार्यकारक नहीं है अतः कार्यवाही नहीं कर सकती परन्तु उपयुक्त अधिकारियों का ध्यान आकर्षित कर देती है । इस प्रकार यह समिति अनियमितता को रोकने का मुख्य काम करती है। मितव्ययता नहीं। मितव्ययता स्थायी वित्त समिति का काम है ।

लोक ऋण

बजट का एक पहलू यह भी है । यदि बजट में आय व्यय से कम है और कोई नये कर आय के लिये काफ़ी नहीं दिखाई पड़ते तो सरकार को ऋण लेना आव-श्यक हो जाता है । यदि ऋण आवश्यक है तो वित्त मंत्री उसको बजट में दिखाता है। और लोक सभा उसको बजट के साथ ही पास करती है। तभी सरकार ऋण ले सकती है । बजट में प्रस्तावित ऋण के व्याज और मूल के देने की भी व्यवस्था दिखाई जाती है उसे भी लोक सभा द्वारा पास कराना आवश्यक है ।

१९३७ से पहले ऋण लेने के लिये केन्द्रीय लोक ऋण के दफ्तर कलकत्ता, बम्बई, मद्रास में थे, परंतु उस वर्ष से यह काम रिजर्व वैक को दे दिया गया । ऋण सम्बन्धी काम, ऋण लेना व्याज और मूल देना, बदली करना, एकत्र करना विभा-जित करना आदि सभी काम सरकार की ओर से रिजर्व वैंक ही करता है ।

२१

लोकायोजन के सिद्धान्त

लोकायोजन का स्वरूप

लोकायोजन, आर्थिक-विचार धारा में एकान्तत : नई वस्तु है। अब तक आयोजन था, योजनाएं थीं, परन्तु लोक-आयोजन पहले पहल रूस की पंचवर्षीय योजनाओं के रूप में ही प्रारंभ हुआ। कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि आर्थिक-आयोजन ईसा से चार शताब्दी पुराना है * इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर श्री. पी. एस. नाइडू का तो विचार है कि 'हमारे देश में वैज्ञानिक आयोजन का प्रथम प्रयत्न मनु ने किया' ‡ परन्तु जिस रूप में आज आयोजन समझा जाता है, वह रूप उस समय सम्भव ही नहीं था, आर्थिक विकास उस समय बहुत ही कम हो पाया था।

'लोक वित्त' के अध्ययन में आर्थिक आयोजन एक नया ही अध्याय है जो अभी जोड़ा जा रहा है, अब तक निर्देशित अर्थ व्यवस्था (Directed Economy) तो विकसित होती रही है। 'लोकवित्त' सम्बन्धी विभिन्न नीतियों द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डाला जाता ही है। जिस पर हम पिछले अध्यायों में विचार कर चुके हैं। 'लोकवित्त' के विकास के साथ ही साथ अर्थ व्यवस्था में निर्देशन का अंश अधिकाधिक विकसित रूप में आने लगा है और जब से सोवियत रूस में पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारंभ हुआ और लोकवित के स्वरूप में एक गुणात्मक परिवर्तन हो गया तब से आर्थिक आयोजन में भी गुणात्मक तबदीली आ गई। इधर नवीन चीन में एक नए रूप का विकास हुआ है उसे हम 'लोकायोजन के अन्तर्गत निर्देशित अर्थ-व्यवस्था' कह सकते हैं। अर्थात् यहाँ सर्वोपरि तौर पर अर्थव्यवस्था को रूप लोकायोजन है किन्तु वैयक्तिक उद्योगों को काफी स्थान निर्देशन के अन्तर्गत रक्खा गया है।

'आयोजन' स्वयं का ही तात्पर्य है कि एक उद्देश्य विशेष है। उसकी पूर्ति के लिए कुछ साधन जुटाने की आवश्यकता है, वे साधन ऐसे है जो स्वयं चालित आर्थिक

---

* श्री जी. डी. कारवल, अर्थशास्त्र के मूलाधार में 'आर्थिक आयोजन— पृष्ठ ५९३

‡ Utilisation of India's Man-Power by P. S. Naidu p. 41

व्यवहार की अवस्था में स्वयं नही जुट पा रहे हैं। और यदि उनकी उपलब्धि है भी तो उनका उपयोग उद्देश्य विशेष के लिए नहीं हो पा रहा है। बेकार पड़े आर्थिक साधनों की सोद्देश्य संग्रह-क्रिया आयोजन है। दुरुपयुक्त साधनों को उद्देश्यार्थ अनुगामी करना भी उसी प्रयत्न का रूप है। लोकायोजन है सम्पूर्ण जनता की समृद्धि के लिए आयो-जन। हम आगे चलकर बतायेंगे कि आयोजन वैयक्तिक भी होता है, पूंजीवादी भी, तानाशाही आयोजन भी होता है और लोकायोजन भी। और भी अनेक प्रकार आयोजन के हो सकते हैं, उद्देश्य भेद से।

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में आयोजन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि 'साधनों को, निश्चित सामाजिक उद्देश्यों के लिए, अधिकतम लाभ की दृष्टि से, संगठित करना और उपयोग में लाने का तरीका ही मुख्यतः आयोजन है'× आयोजन आयोग के अनुसार आयोजन के दो मुख्य पहलू हैं—

१—उद्देश्य प्रणाली

२—प्राप्त साधन और उनका उपयुक्त वितरण

'अर्थशास्त्र के मूलाधार' के अनुसार 'आर्थिक आयोजन किसी दिये समय में स्पष्ट निश्चित ध्येय प्राप्ति हेतु आर्थिक शक्तियों का युक्तिपूर्ण नियंत्रण है।' इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लेखक का कहना है कि 'इसका अर्थ है आर्थिक साधनों के जो माँग की दृष्टि से अलभ्य हैं, वैकल्पिक उपयोगों की इस प्रकार व्यवस्था करना कि उनके द्वारा प्राप्त संतुष्टि अधिकतम बनी रहे। *

प्रोफेसर ऐम. ऐच. वास्वानी, बम्बई, का मत है कि "आयोजन का अर्थ है उत्पादन और वितरण एक सामाजिक उद्देश्य के अनुसार करना" † प्रोफेसर अमर-नारायण अग्रवाल तो इसे 'युद्ध शिशु समझते हैं, और कहते हैं कि आयोजन का विचार सोद्देश्य आर्थिक तर्क का फल नहीं है। ‡ इसका अर्थ यह है कि यह सिर्फ आप-द्धर्म की भाँति काम चलाऊ तरीका है, आर्थिक सिद्धान्तों के विकास में आवश्यक कड़ी नहीं हैं। प्रोफेसर अमरनारायण शायद समाजवाद के पूरे ही सिद्धान्त के उदय और विकास को दृष्टि से ओझल किये बैठे हैं। देखिये एक समाजवादी विचारक श्री अशोक मेहता कहते हैं कि यह केन्द्रीय आयोजित अर्थ व्यवस्था का विचार जिसमें एक आयो-जन आयोग बाजार का कार्य अपने हाथ में ले लेता है, एक प्रत्यक्ष देन है जिसे समा-

× First Five Year Plan, A Draft Outline. p. 7.

* 'अर्थशास्त्र के मूलाधार' जे.के. मेहता आदि द्वारा लिखित— पृष्ठ ५९२

† Industrial Policy of India, with Particular Reference to planning. p. 34.

‡ Pesimism in Planning by A. N. Agarwal

जवादी विचारकों ने अर्थ विज्ञान को प्रदान किया है । अर्थशास्त्रीय विचारधारा में यह एक लगभग कोपर निकस के स्तर की क्रांति है ।" *

लोकायोजन इस प्रकार आर्थिक विचार के विकास में एक कड़ी है, और उसका आवश्यक होना तो और भी प्रत्यक्ष है, कि पूंजीवादी व्यवस्था का अन्तिम परिणाम जब उत्पादन घटने की ओर होने लगता है तो लोकायोजन उसको अबाधगति और अबाधकाल के लिये बढ़ाता चला जाता है । और देखिये श्री स्वीज़ी भी यही कहते हैं।

'समाजवादी समाज के अर्थशास्त्र में आयोजन के सिद्धान्त का वही आधार-भूत स्थान होना चाहिये जो कि पूंजीवादी समाज में मूल्य के सिद्धान्त का" ×

कांग्रेस की राष्ट्रीय आयोजन समिति ने,जिसे श्रीजवाहरलाल नेहरू की अध्य-क्षता में,कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस द्वारा सन् १९३८ में नियुक्त किया गया था , आयोजन की परिभाषा निम्न प्रकार की है —

जनवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आयोजन की परिभाषा इस प्रकार होनी चाहिए। नि:स्वार्थ विशेषज्ञ राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा निश्चित सामाजिक उद्देश्यों के अनुसार, उपभोग, उत्पादन, विनियोग, व्यापार और आय वितरण का विशेषज्ञतापूर्ण (technical) सायुज्य करें । इस प्रकार नियोजन का विचार केवल अर्थशास्त्र तथा जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने के दृष्टिकोण से ही नहीं किया जाना चाहिये बल्कि उसके अंतर्गत सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों तथा जीवन के मानवीय पक्ष को भी लेना चाहिये । ||

श्री ए. कुर्स्की का मत है कि "एकाकी राष्ट्रीय योजना द्वारा देश के सम्पूर्ण आर्थिक कृतत्व (activity) का अधिकतम एकीकरण करना' सरकार का आधार-भूत कार्य है " ¶

आर्थिक आयोजन सम्पूर्ण राष्ट्र के अर्थ साधनों के नियंत्रण से तो होता ही है किन्तु राष्ट्र के कतिपय भाग के संपूर्ण अर्थ साधनों को प्रभावित करके भी किया जा सकता है और सभी अर्थ साधनों को नियंत्रण करने के बजाय कुछ को ही नियंत्रित करके भी होता है। तात्पर्य यह है कि उद्देश्य विशेष की प्राप्ति के लिये देश के आर्थिक जीवन को प्रत्यक्ष नियंत्रण द्वारा अथवा लोकवित्तीय परोक्ष प्रभावों द्वारा संचालित किया जाय तो आर्थिक आयोजन का एक रूप बन जाता है । परन्तु

---

* Democratic Socialism by Ashok Mehta P. 118

× The Theory of Capitalist development by Paul M. Sweezy P. 54

||(National Planning, Principles and Administration by K. T. Shah, p. 13.)

¶ The Planning of The National Economy of the U. S. S. R.— P. 9

लोकायोजन आंशिक हो ही नहीं सकता।

आर्थिक आयोजन के प्रकार--

आर्थिक आयोजन के साधारणतः तीन प्रकार गिनाये जाते हैं—

१–पूंजीवादी आर्थिक आयोजन

२– तानाशाही अथवा फासिस्ट आर्थिक आयोजन

३– सामाजवादी आर्थिक आयोजन

हमारे देश में एक और प्रकार के आर्थिक आयोजन की चर्चा हो चुकी है और उसे हम फिल हाल

४– गाँधी वादी आर्थिक आयोजन, कह सकते हैं।

पूंजी वादी आर्थिक आयोजन हमेशा अधूरा ही होता है। उसका ध्येय भी जन साधारण की समृद्धि नहीं हो सकता। सरकार के हाथ में चूंकि नियंत्रण भी पूरे आर्थिक साधनों का नहीं होता। अधिकांश पूंजीपतियों के हाथ में होता है अतः सरकार सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को नियोजित नहीं कर सकती, और अधिकांश ध्यान बैयक्तिक क्षेत्र का रखना पड़ता है। सार्वजनिक क्षेत्र को पूंजीपतियों के व्यक्तिगत स्वार्थों के सामने पीछे छोड़ना आवश्यक रहता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का न्यू-डील (New Deal) और ब्रिटेन का गत युद्ध काल में आयोजन, उदाहरण हैं।

तानाशाही आर्थिक आयोजन में तानाशाह और उसके गुट के स्वार्थों के हितार्थ ही देश के सम्पूर्ण आर्थिक साधन लगा दिये जाते हैं। तानाशाह सैनिक बल पर राज करता है अतः सेना का हित भी उसी का हित है।

समाजवादी आर्थिक आयोजन वह है जिसमें देश के सम्पूर्ण आर्थिक साधन वैयक्तिक हाथों में न होकर सम्पूर्ण जनता द्वारा निर्वाचित सरकार के हाथ में हों और वह सम्पूर्ण जनता की अधिक तम समृद्धि को ध्यान में रखकर देश के सम्पूर्ण अर्थ साधनों को उत्पादन के कार्यार्थ आयोजित करे। इसी अवस्था में लोकायोजन सम्भव है।

गाँधीवादी आर्थिक आयोजन का विचार ही नया है। महात्मा गान्धी के विचारों के अनुसार श्री श्री मन्नारायण ने एक गाँधीवादी योजना प्रकाशित की जिसका उद्देश्य बड़ी मशीनों के स्थान पर छोटे छोटे ग्रामोद्योग आकार और प्रकार के उत्पादन पर ही सम्पुर्ण देश का आर्थिक ढाँचा खड़ा करना था। यह योजना अवश्य ही पूंजीवादी नहीं है और न तानाशाही है। समाजवादी भी नहीं है। परन्तु इसमें सम्पूर्ण जनता के हितों का ध्यान अवश्य रक्खा गया है। आज के वैज्ञानिक विकास को दृष्टि में रखकर इसे कार्यान्वित करने में अनेक अप्रतिम कठिनाइयाँ होंगी और सार्वजनिक आर्थिक जीवन स्तर ऊपर तो नहीं उठेगा बल्कि और बहुत निम्नतर

अवस्था में जा गिरेगा। आज की दृष्टि से यह योजना पूर्णतः अव्यवहारिक है।

बम्बई के प्राध्यापक व्यय श्री वाडिया तथा मर्चेंट और भी दो प्रकार से आयोजन के रूप प्रस्तुत करते हैं।

१—गठनात्मक (Structural)

२—कार्यात्मक (Functional)

गठनात्मक योजना में तो तत्कालीन प्रस्तुत अर्थ व्यवस्था को छिन्न भिन्न करके एकान्त नवीन व्यवस्था की जाती है और कार्यात्मक का उद्देश्य होता है, प्रस्तुत अर्थव्यवस्था के गतिरोध को किसी प्रकार पैवन्द लगाकर चालू कर देना। हमने अगले अध्याय में उनके आधार लेखक श्री ज्विग का पूरा उद्धरण दिया है। (देखिये पृष्ठ——)

यह स्वयंसिद्ध है कि पैवन्द लगाने से देश की आर्थिक स्थिति जहाँ की तहाँ ही रहती है, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु गठनात्मक परिवर्तन का बहुत भारी प्रभाव पड़ेगा ही। यदि वैयक्तिक अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में लोकायोजन व्यवस्था लानी है तो गठनात्मक परिवर्तन करने होंगे।

और दो नाम भी आयोजन के प्रकारों के लिए जाते हैं। (१) बहुसूत्रीय (२) एक सूत्रीय। भारतीय आयोजकों ने तो इन नामों को दूसरे जामे पहनाये हैं। जनवादी (Democratic) और तानाशाही (Totalitarian) परन्तु इनसे ध्वनि अवास्तविक निकलती है। अतः हम हिन्दी में इन्हें दूसरे नाम देना ठीक समझते हैं। बहुसूत्रीय और एक सूत्रीय। उक्त प्रोफेसर द्वय का मन्तव्य है कि 'आयोजन एक सूत्रीय ही होता है। और उसे एक सूत्रीय ही होना होगा।×

लोकायोजन की आवश्यकता

जिस प्रकार 'लोकवित्त' जनता की संगठित शक्ति संवर्धन के साथ साथ विकसित हुआ है उसी प्रकार लोक आयोजन भी धीरे धीरे विकास को प्राप्त हो रहा है। आर्थिक आयोजन की आवश्यकता ही सामाजिक निःसूत्रता के कारण होती है। आर्थिक उत्पादन में पूँजीवादी गठन और वैयक्तिक स्वतंत्रताजनित अव्यवस्था के फलस्वरूप जब देश के जन साधारण की आर्थिक स्थिति में भारी असंतोष उत्पन्न हुआ और उत्पादन में रुकावटें पड़ने लगीं तब आयोजन आवश्यक हो गया। समाजवादी विचारधारा ही आर्थिक आयोजन के आधार पर विकसित हुई। मार्क्स का समाजवाद उसी आधार को लेकर चला। रूस में सन् १९१८ में पहली लोक योजना का सूत्रपात हुआ जिसे लेनिन ने 'गोइलरो' योजना का नाम दिया।

× (A Criticism, The Five Years Plan, by P. A. Wadia & K. T. Merchant p. 15.)

वास्तव में पहली पंचवर्षीय योजना वहाँ सन् १९२८ में प्रारंभ की गई। उसकी सफलता इतनी जबर्दस्त हुई कि सन् १९३१ के आस पास के समय में आर्थिक संकट सभी राष्ट्रों में आया केवल रूस ही उससे अछूता बच सका। तभी से आर्थिक आयोजन की ओर सभी देशों में आकर्षण बढ़ गया। अमेरिका में प्रेसीडेण्ट रूजवैल्ट ने न्यूडील (नयी व्यवस्था) के नाम से पूँजीवादी आर्थिक गठन के अन्तर्गत आंशिक आयोजन किया। ब्रिटेन में भी गत महायुद्ध में ऐसाही नियंत्रित आयोजन हुआ। भारत में राशन व्यवस्था और अनेक नियंत्रणों के रूप में हमने आयोजन के आंशिक दर्शन किए। उस समय उद्देश्य था देश की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति को युद्ध में लगा देना। प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों ने अपने 'अर्थशास्त्र के मूलाधार' में इस स्थिति के तीन मुख्य कारण बताये हैं —

१—पूँजीवादी प्रणाली से निराशा।

क्योंकि (क) इससे आर्थिक विषमता बहुत ही बढ़ती जाती है। (ख) केवल व्यक्तिगत मुनाफा ही ध्यान में रखकर उत्पादन किया जाता है। मुनाफा न होने की अवस्था में उत्पादन साधन बेकार पड़े रहते हैं, और बरबाद होते हैं। (ग) केवल धनी की आवश्यकता पूर्ति ही होती है, जनता की नहीं। (घ) आर्थिक संकटों से बार बार इसकी गाड़ी अटक जाती है। भयंकर बेकारी बढ़ती है।

२—आर्थिक आयोजन से ही पूँजीवाद की अबाध्य आर्थिक प्रणाली के दोषों से छुटकारा मिलने की आशा हो गई। रूस में आर्थिक आयोजन न हुआ होता तो वह द्वितीय महायुद्ध में कभी विजयी न होता। फासिस्ट जर्मनी और इटली में भी आयोजन द्वारा अधिक उत्पादन हुआ।

३—युद्धकाल में पश्चिमी यूरुप के देशों और संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने आंशिक आयोजन द्वारा ही जनता की और युद्ध की, दोनों आवश्यकताओं को पूरा किया। इससे लोगों की आस्था आयोजन पर गहरी हो गई। ●

परन्तु उपरोक्त बातों के अतिरिक्त, जिनके कारण आर्थिक आयोजन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा, एक और भी गम्भीर कारण है, और जिसके कारण हमें लोकायोजन तक पहुँचने और उसका गहरा अध्ययन करने के अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं रह गया। वह है बेकार पड़े आर्थिक साधनों का प्रश्न। यों तो बेकार पड़े आर्थिक साधनों की समझ मनुष्य की उत्पादन शक्ति के विकास के साथ साथ पहले ही से बढ़ती रही है, और पूंजीवादी व्यवस्था ने अपने पूर्व के बेकार साधनों का बहुतांश में उपयोग किया। परन्तु पूंजीवादी आयोजन उपयुक्त हुए साधनों और उसके द्वारा उत्पादित आर्थिकत: उपयोगी वस्तुओं का बिध्वंस करने लगा। खेत में

● अर्थशास्त्र के मूलाधार पृष्ट ५९३

खड़ी फसलें जला दी गईं। फलों के भरे जहाज समुद्र में उलटवा दिये गये। नई आविष्कृत मशीनें जो उत्पादन क्षमता बढ़ातीं, नष्ट करदी गईं। फलत: बेकार उत्पादन साधनों की मात्रा बढ़ती गई। किन्तु साथ ही विज्ञान के विकास से मनुष्य की उत्पादन क्षमता भी बढ़ी। विज्ञान ने मनुष्य को नये आविष्कार देकर उत्पादन साधनों के अनुपयुक्त पड़े रहने की चेतना को और बढ़ाया और जो वस्तु कल तक पूर्णत: उपयोग लग्न समझी जाती थी आज यह समझ में आने लगा कि उसका पूरा उपयोग नहीं हो रहा है। कल तक यदि यह ज्ञान था कि एक मिल मजदूर दो करघों की देखभाल कर सकता है तो आज अधिक सामूहिकी करण तथा नये आविष्कार के कारण समझ में आया कि वह आठ करघों की देखभाल कर सकता है। इसलिये सम्पूर्ण जनता का गहरे से गहरा, गठित से गठित सहयोगी उत्पादन ही, उत्पादन साधनों की बेकारी अथवा अर्धबेकारी को मिटा सकेगा और उनसे अधिक से अधिक तर उत्पादन ले सकेगा, और इसी के फल स्वरूप हर मनुष्य को अधिक से अधिक राष्ट्र का आर्थिक विभाज्य प्राप्त हो सकेगा।

आर्थिक आयोजन के उद्देश्य

आर्थिक आयोजन का उद्देश्य भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार यों है— जनता के आदर्शों और निर्माणकारी उत्सुकताओं को कार्यशीलता के नये पथ पर ला आरूढ करना ही आर्थिक तथा सामाजिक आयोजन का उद्देश्य है।×

भारतीय राष्ट्रीय योजना समिति की राय में श्री स्वर्गीय के. टी. शाह के अनुसार राष्ट्रीय आयोजन के दो उद्देश्य हैं—

क– देश भर के लिये राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता। ऐसे प्रयत्नों के कारण आर्थिक साम्राज्यवाद की भँवर से दूर रहना।

ख– भारतीय जनता के वर्तमान जीवन-स्तर को एक निश्चित अवधि के अंगर्गत, कहिये दस वर्ष में, दूना कर देना। *

इंगलैण्ड की सरकार ने सन् १९४७ के अपने आर्थिक नाप जोख में आर्थिक आयोजन का उद्देश्य इस प्रकार लिखा है।

आर्थिक आँयोजन का उद्देश्य देश के आर्थिक साधनों को सम्पूर्ण राष्ट्र के सर्वोत्कृष्ट हितों के लिये उपयोग में लाना है। ऐसा कैसे हो सकता है यह बात, देश की आर्थिक परिस्थिति, राजनैतिक विकासका स्तर, सामाजिक गठन, और सरकार

× First Five Year Plan— P. 8

* National Planning, Principles and Administration by K.T. Shah **P. 13–14**

के तौर तरीकों पर निर्भर होता है। ×

प्रोफेसर ऐम. ऐच. वास्वानी कहते हैं कि हमारे देश में सभी प्रकार के आयोजन का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिये दरिद्रता को मिटाना और देश की जनता के जीवन स्तर में एक अच्छा उठाव लाना। ¶

श्री डी. ऐस. नाग का कथन है कि हमारा उद्देश्य होना चाहिए आर्थिक तंगी से स्वतंत्रता, सम्पूर्ण जनता के लिये, केवल एक वर्ग या जाति विशेष के लिए नहीं। आप इस पर बिस्तार में विचार करके तीन बातों में उद्देश्य को विभक्त करते हैं।

१– एक कम से कम राष्ट्रीय आय का स्तर तै हो, सुविधा और सुपास के साधन फिर उससे ऊपर बढ़ते ही रहें।

२– राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता

२– संगठित सुरक्षा,

परन्तु आप चेतावनी साथ ही देते हैं कि आयोजन का तत्व उद्देश्य बनाने में नहीं है बल्कि उनकी पूर्ति के लिए मार्ग और साधन खोज निकालने में है।* श्री विश्वेश्वरैया के अनुसार आयोजित अर्थ व्यवस्था 'उत्पादन तथा आय को तेजी से बढ़ाने तथा अन्य दिशाओं में प्रगति की गति बढ़ाने' के लिए होती है। † 'अर्थशास्त्र के मूलाधार' के लेखकों ने आर्थिक आयोजन के ध्येय ६ प्रकार के बताए हैं,—

(१) सुरक्षा तथा राजनैतिक सत्ता

(२) पिछड़े क्षेत्रों का विकास और आत्मनिर्भरता,

(३) पूर्णावृत्ति

(४) आर्थिक सुरक्षा

(५) सामाजिक समानता

(६) युद्धोपरान्त पुनर्संगठन तथा शांति के लिए पुनर्निर्माण

(१) यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आर्थिक आयोजन किसी भी उद्देश्य से किया जा सकता है। यह केवल साधनमात्र है। जो देश शांतिप्रिय हैं और दूसरे पर हमला करके उसे लूटना नहीं चाहते वे अपनी सुरक्षा के लिए आयोजन कर सकते हैं परंतु आक्रमणकारी सरकारें इस उद्देश्य से ही आर्थिक आयोजन करती हैं। हिटलर, मुसोलिनी की सरकारों का उद्देश्य ही आक्रमण था।

(२) पिछड़े हुए देशों की यही नीति आवश्यक है ही। सोवियत रूस की योज-

× Economic Survey for 1947, London cmd 7046, P. 4

¶ Industrial Policy of India P. 43

* A study of Economic Plans for India by D. S. Nag 1949, p. 142

† Planned Economy for India by sir M. Visveswaraya p. 178

नाएँ तो प्रसिद्ध ही हैं अब चीन भी आर्थिक योजनाओं द्वारा अपनी अवस्था बहुत तेजी से सुधार रहा है। भारतीय सरकार प्रथम पंचवर्षीय योजना लगभग कार्यान्वित कर चुकी है। लोकायोजन के सहारे बहुत ही पिछड़ा हुआ रूस सबसे बढ़े चढ़े अमेरिका के बराबरी में आ धमका।

(३) पूर्णवृत्ति वाला ध्येय अँगरेज अर्थशास्त्रियों की सूझ है। सारे समाज के लिए काम और अवकाश का उपयुक्त संतुलन प्राप्त करना और प्रत्येक व्यक्ति को काम और अवकाश संतुलित मात्रा में देना। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जनसाधारण का अधिक से अधिक समाधान करना ही इस का तात्पर्य है। कीन्स इसी का पक्षपाती था।

'सभी आर्थिक आयोजन का ध्येय पूर्णवृत्ति रहा है' मूलाधार' के लेखकों के इस मत का हम समर्थन नहीं करते। पूंजीवादी व्यवस्था में पूर्णवृति का ध्येय केवल जनसाधारण को ज्यों त्यों करके असंतुष्टि से दूर, भुलावे में रखना है। कैसा भी काम देकर उनके आंसू पोंछना है। इन सबसे ऊपर पूर्णवृत्ति का उद्देश्य है पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न होने से बचाये रहना, क्योंकि जनसाधारण को कुछ हद तक कार्यरत रखने से उनके हाथ में कुछ क्रयशक्ति आती रहेगी और पूंजीवादी संकट की अवस्था उस क्रयशक्ति के फलस्वरूप टल जायगी, वैसे पूर्णवृत्ति का विशेष अर्थ पेचीदा है। स्थानाभाब के कारण यहाँ स्पस्ट नहीं किया जा सकता। उनको आर्थिक समृद्धि उसके द्वारा नहीं हो सकती। समाजवादी लोकायोजनों में ही वैसा सम्भब है। श्री विमल घोष और डाक्टर के. बी. कृष्णा का तो मत है कि 'न तो कोई विशेष अब तक किया है और न आगे कोई सरकार कर सकेगी जब तक कि वह समाजवादी सरकार नहीं होगी। श्री सी. के. शाह उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक कमेटियों की मालिकियत और प्रबन्ध में देना ही उचित समझते हैं *

(४) आर्थिक सुरक्षा—के उद्देश्य का पूंजीवादी आयोजन में केवल यह अर्थ है कि व्यक्ति का वर्तमान स्तर पर पेट भरने के लायक काम देना या दिलाना आवश्यक हो। उसका काम छूट जाय तो उसे सरकार से बेकारी भत्ता मिले। ऐसा अनेक पश्चिमीय देशों में है पर यह श्रमिक स्तर को नीचे ही डाले रखना है। इससे जनसाधारण की अवस्था हरगिज नहीं सुधर सकती। बेकारी भत्ते भिखारी की तरह ले लेकर जीना कोई मनुष्यता नहीं है। लेखकों ने स्वयं माना है कि 'यदि आयोजित

---

* श्री वास्वानी द्वारा उद्धृत,
Plan for Economic development of India by Dr. K. B. Krishna
Planning for India by Bimal C. Ghosh.
India Tomorrow–A new appraoch to planning

अर्थ व्यवस्था पूंजीवादी है या फासिस्टवादी है तो आर्थिक सुरक्षा तीन बातों से समझी जायगी—

१– पूर्णवृत्ति —अर्थात् काम जरूर मिले
२– उचित मजूरी
३– उचित लाभ

उचित का अर्थ पूंजीवादी शासकों की मर्ज़ी पर निर्भर है।

(५) सामाजिक समानता—का उद्देश्य अनार्थिक नहीं है जैसा कि मूलाधार के लेखकों का मत है। अनार्थिक समानता की कुछ भावना के यदि पूरी होने में कोई रोड़ा भी है तो वह आर्थिक समानता की कमी ही हैं। आर्थिक समानता का अर्थ बावन तोला पाव रत्ती की समानता कोई नहीं करता है। उचित व्यवहार और न्याय की कमी आर्थिक समानता हुए बिना दूर नहीं हो सकती और राष्ट्रीय साधनों की अमीरों की अनावश्यक बातों के लिए बर्बादी भी आर्थिक समानता की कमी का परिणाम है। फिर भी आर्थिक समानता ही किसी योजना का उद्देश्य बनाना एक भारी कमी का शिकार बनने का मौका पैदा करना है। यदि आज हम गांधी योजना के अनुसार 'विकेन्द्रित ग्राम साम्यवाद' की अवस्था में आ जाँय तो आर्थिक समानता तो अवश्य प्राप्त हो जायगी पर क्या हम इसमें सुखी और संतुष्ट होंगे ? यह केवल स्वप्न में भले ही अच्छा लगता हो परन्तु प्रत्यक्ष में तो हम उस अवस्था में जाना पसन्द नहीं करेंगे। अतः लोकायोजन का उद्देश्य लोक समृद्धि ही हो सकता है, जिसका अर्थ है कि देश भर में आर्थिक समानता तो हो परन्तु अधिकतम सहयोग और उच्चतम वैज्ञानिक साधनों द्वारा उत्पादन के कार्यानुसार वितरण के आधार पर। तभी जनसाधारण का जीवन स्तर उच्च से उच्चतर हो सकेगा और होता जा सकेगा।

(६) युद्धोपरांत पुनर्संगठन तथा शान्ति के लिए पुनः निर्माण, तो दोनों ही व्यवस्थाओं में उद्देश्य बनाया ही जा सकता है।

इस प्रकार 'आर्थिक आयोजन' के अनेक प्रकार के उद्देश्य हो सकते हैं परंतु

लोकायोजन का उद्देश्य

केवल एकही हो सकता है। वह यह है कि देश की सम्पूर्ण जनता के हर व्यक्ति की आय अधिकतम हो। तात्कालिक विज्ञान के उच्चतम ज्ञान के सहारे से बनी अधिकतम उत्पादन शक्ति का सम्पूर्ण जनता द्वारा सहयोगी तरीके से पूरा उपयोग हो। कोई आर्थिक साधन पूरा या अधूरा बेकार न रहे। और उसके फलस्वरूप जो उत्पादन हो उसका वितरण सार्वजनिक सम्मिलित कार्यों के लिए जनता द्वारा निर्वाचित सरकार के हाथ में रहकर बाकी प्रत्येक के काम के आधार

पर सभी व्यक्तियों में किया जाय ।

रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना के आधारभूत उद्देश्य स्टेलिन द्वारा निम्न प्रकार बताए गये थे *

१—देश की पिछड़ी हुई और अंशतः मध्यकालीन कार्य-विधि (Technology) को आधुनिक कार्य विधि के रूप में बदल देना ।

२—सोवियट रूस को खेतिहर तथा निर्बल देश से बदलकर एक औद्योगिक तथा शक्तिशाली देश बना देना, जो कि विश्वव्याप्त पूँजीवाद के चक्कर से स्वतंत्र रहे ।

३—पूँजीवादी अंशों (Elements) को कतई निकाल देना, समाजबादी अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र को विस्तृत करना, और देश में से वर्गवाद को नष्ट करने के लिए भूमि तैयार करना ताकि समाजवादी समाज का निर्माण हो सके ।

४—ऐसे उद्योग स्थापित करना जिनसे कारखाने तथा यातायात ही समाजवाद के आधार पर पुनः संगठित और शक्तिशाली न हो जाँय बल्कि कृषि भी ।

५—छोटी और छिटपुट खेती को बृहत् और सहयोगी कृषि के मार्ग पर ले आना ताकि देहाती क्षेत्रों में समाजवाद का आधार निश्चित और मजबूत बन जाय और ताकि सोवियत रूस में पूँजीवाद के फिर उठ खड़े होने की सम्भावना न रह जाय ।

६—देश की रक्षक शक्ति को अधिकतम बढ़ा देने के लिए जो भी आर्थिक और कार्यविधि सम्बन्धी आवश्यकताएँ हों सब उत्पन्न करना ।

आयोजित और अनायोजित अर्थ व्यवस्थाओं में अन्तर

अव तक केवल समाजबादी देशों को छोड़कर बाकी देशों में आर्थिक आयोजन नही के बराबर रहा । केवल सरकारी हस्तक्षेप मात्र अथवा बजट द्वारा कतिपय प्रभाव डालने का नाम आर्थिक आयोजन नहीं हो सकता । सरकार के प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ प्रभाव राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर पड़ता ही है और बहुत बार अब सरकारें आर्थिक व्यवहार के हर पहलू पर जैसे उत्पादन, वितरण, उपभोग, व्यवसाय, विनियोग आदि सभी पर, जानबूझकर एक विशेष उद्देश्य से भी लोकवित्त नीति द्वारा काफी प्रभाव डालती हैं परन्तु वह भी आयोजन नहीं है ।

---

* The Planning of the National Economy of the U. S. S. R. by A. Kursky. P. 65

आयोजित प्रणाली में सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये एक उद्देश्य होता है और वह उद्देश्य इतना वृहत् और विस्तृत होता है, कि बिना सम्पूर्ण देश की अर्थ व्यवस्था को नियंत्रित किये वह पूर्ण नहीं हो सकता। इसके लिये आर्थिक व्यवहारों पर पूरे नियंत्रण लगाने पड़ते हैं। ये सभी नियंत्रण प्रत्यक्ष होते हैं। अनायोजित प्रणाली में नियंत्रण जो थोड़ा बहुत होता है बहुधा परोक्ष ही होता है।

प्रतिबन्ध

आयोजित प्राणाली में आयोजन के अनुसार प्रतिबन्ध होते हैं। साधारणतः प्रतिबन्धों के निम्न प्रकार हैं

१— उत्पादन पर
२— विदेशी आयात निर्यात पर
३— उपभोग पर
४— व्यापार पर
५— बचत तथा विनियोग पर
६— पेशे चुनने और वेकारी पर

१— उत्पादन पर प्रतिबन्ध कई दृष्टियों से लगाये जा सकते हैं। कभी उत्पादन को कम करने के लिये प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। यह उस समय होता है जब पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के सामने आर्थिक संकट आ उपस्थित होता है। माल अधिक बन जाता है पर जनता के पास क्रय-शक्ति होती नहीं, अतः मूल्यों को गिरने से रोकने के लिये उत्पादन को रोक दिया जाता है। कभी कभी उत्पादन को ऐसा नियँत्रित किया जाता है कि कुछ गिनी चुनी वस्तुओं के उत्पादन की ओर ही अधिकांश शक्ति लगा दी जाय। ऐसा अकसर युद्धकाल में अथवा युद्ध को दृष्टि में रख कर किया जाता है। युद्ध सामग्री के उत्पादन में ही अधिकाँश शक्ति लगा दी जाती है। और अन्य प्रकार के उत्पादन रोक दिये या कम कर दिये जाते हैं। किन्तु युद्धोपरान्त के पुनः निर्माण अथवा लोकायोजन की अवस्था में उत्पादन पर प्रतिबन्ध दूसरे प्रकार का होता है। उसमें अह ध्यान रक्खा जाता है कि जो चाहे सो मन माना उत्पादन न करने लग जाय। जनता की आवश्यकताओं का हिसाब लगा कर, देश की उत्पादन शक्ति और साधनों को तौल कर एक योजना बनाई जाती है। और इसी द्रृष्टि से उतनी ही मात्रा में, उसी उसी प्रकार का माल निर्माण करने का आयोजन किया जाता है। रूसी और चीनी लोकायोजनों में अधिक शक्ति उत्पादन के साधनों के निर्माण में लगाई जाती है ताकि उपभोग के सामान के उत्पादन की क्षमता बढ़ती चली जाय। मशीन बनाने और मशीन बनाने के साधन बनाने की ओर अधिक शक्ति लगाई जाती है। उत्पादन पर प्रतिबन्ध इस दृष्टि से भी लगाया जाता है कि उत्पा-

दन के साधन बेकार या अर्धबेकार कर के गँवाये न जायें। जहाँ सहयोगी, वैज्ञानिक तथा मशीनों से काम कर के बहुत अधिक उत्पादन हो सकता है वहाँ कोई अकेला हाथ में फावड़ा लेकर ही कुआँ न खोदता रहे। एक और एक ग्यारह हो सकते हैं, इस बात का पूरा ध्यान रक्खा जाता है।

२– विदेशी आयात मिर्यात पर प्रतिबन्ध किसी भी आयोजित अर्थ व्यवस्था में लगाना आवश्यक है। देश की आवश्यकतानुसार मात्रा और प्रकार निश्चित किये जाते हैं। लोकायोजन में तो देश को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाना, और विदेशी पूंजी वादी व्यापारियों की ठगी से आयोजित व्यवस्था की रक्षा करना आबश्यक हो जाता है। विदेशी विनिमय की दरों पर भी नियंत्रण किया जाता है।

३–उपभोग पर नियंत्रण लगाने की आवश्यकता इसलिये होती है कि उत्पादन नियंतित्र रहे। वही माल और उतना ही, जितना उत्पादन में आयोजित है उपभोग में लिया जाय। गत महायुद्ध में राशन– व्यवस्था उपभोग के नियंत्रण का ही रूप थी। कई बार देश में आवश्यकता से अधिक उत्पादन की वस्तु जैसे गेहूँ, आदि के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाकर उसे विदेशी माल खरीदने के लिये बचा लिया जाता है। स्वास्थ्य के लिये हानिकर वस्तुओं के उपभोग पर भी नियंत्रण लगाया जा सकता है, जैसे शराब आदि नशीले पदार्थों पर। इस प्रतिवन्ध का उद्देश्य एक ओर तो स्वास्थ्य रक्षा होता है दूसरी ओर बचत अथवा अन्य वस्तुओं का उपभोग बढ़ाना होता है।

४–व्यापार पर नियंत्रण लोकायोजन का आवश्यक मार्ग है। व्यापारी केवल मुनाफे के लिये माल का लेन देन करता है। लोकायोजन में व्यापार पर नियंत्रण दो प्रकार का होता है। एक तो कीमतें निर्धारित कर दी जाती हैं, उनसे इधर उधर माल नहीं बिक सकता। उपभोग की सामग्री के ही दर निश्चित नहीं किये जाते बल्कि उत्पादन साधनों के भी विनिमय मूल्य तै कर दिये जाते हैं, अन्यथा उत्पादन और उपभोग नियंत्रण दोनों विगड़ सकते हैं। मूल्य के साथ ही साथ तादाद भी निश्चित कर दी जाती है। कितना माल कहाँ किसे दिया जायगा। इसी से सट्टे की समाप्ति हो जाती है। दूसरे, व्यापार के साधन, द्रव्य, का नियंत्रण भी किया जाता है। बैंकों पर भी नियंत्रण, होता है कि किस व्याज दर पर रुपया देंगे लेंगे। लोकायोजन में व्यक्तिगत या गैर सरकारी बैंकों के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। इनसे सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। कीमतें निश्चित करने और द्रव्य के पूर्ण नियंत्रण होने का स्वाभाविक प्रभाव यह हो जाता है कि एक ही मुहल्ले में एक ही वस्तु के बाजार के बाजार न लग जाँय और जिसके मन में आये दूकान लेकर बैठ जाये और उत्पादन कुछ न करे, ऐसा न हो पाये।

बचत तथा विनियोग पर नियंत्रण उत्पादन और उपभोग के नियंत्रण मे मदद करता है। आर्थिक आयोजन में उत्पादन उपभोग की आवश्यकता के बराबर ही होता है। बचत पर नियंत्रण न हो तो उपभोग बढ़ सकता है और उत्पादन के साथ उसका सन्तुलन विगड़ कर आयोजन को बिगाड़ देगा। यदि अनियंत्रित बचत उपभोग की ओर न लग कर उत्पादन में लगी तो उत्पादन अधिक होगा, मनमाना होगा और नियोजन विगड़ जायगा। अतः बचत और विनियोग दोनों पर नियंत्रण आवश्यक है।

पेशे चुनने और बेकारी पर नियंत्रण लोकायोजन की अवस्था में कुछ हद तक आवश्यक है। मामूली तौर से बेकार कोई रहना पसन्द नहीं करता, जब तक कि उसे मुफ्त का माल उपभोग के लिये कहीं से न मिलता रहे। लोकायोजन में मुफ्त का माल मिलने की गुंजाइश नहीं छोड़ी जाती। हाँ बच्चों और अपाहिजों के लिये बिना काम किये ही उपभोग का पूरा प्रबन्ध लोकायोजन में होता है। लोकायोजन की व्यवस्था में हर स्वस्थ और वयस्क व्यक्ति की उत्पादन शक्ति का हिसाब लगाकर उसके लिये कार्य का प्रबन्ध कर दिया जाता है। फिर भी जो उत्पादन काम न करे उसे कुछ उपभोग के लिये मिल नहीं सकता क्योंकि आय तो केवल उत्पादन के आधार पर ही होगी। परन्तु बेकारी एक और प्रकार की भी होती है कि धनी लोग कोई काम नहीं करते। परन्तु लोकायोजन की व्यवस्था में धनिकों का धन तो उत्पादन में ले लिया जाता है। उन्हें भी काम करना आवश्यक हो जाता है। पेशा निश्चित करने पर भी कुछ नियंत्रण आवश्यक हो सकता है। आयोजन के अनुसार जितने इंजिनियरों, डाक्टरों, अध्यापकों, खेतिहरों आदि की आवश्यकता हो यदि उसी तादाद में लोगों के पेशे पसन्द करने से संख्याएँ पूरी हो गई तो कोई नियंत्रण आवश्यक नहीं है परन्तु इसमें अन्तर पड़ा, जो स्वाभाविक है, तो प्रोत्साहन और रोक थाम द्वारा नियंत्रण करना ही पड़ता है।

अनायोजित अर्थ व्यवस्था में इनमें से कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होते या नहीं के बराबर होते हैं।

आयोजन कैसे होता है

साधारण तौर पर राष्ट्र भर का आर्थिक आयोजन तानाशाही के अतिरिक्त और किसी व्यवस्था में अकेला कोई व्यक्ति नहीं करता और न कर सकता है, और न आयोजन एक ही दिन में और अचानक हो जाता है। कई व्यक्ति मिलकर योजना बनाते हैं और कई मंजिलों को पार करके आयोजन पूरा होता है।

पहली मंजिल तो है कि योजना का उद्देश्य तथा कार्य नियम निर्धारित किए जाते हैं। देशकी लोक सभा ही इस कार्य को कर सकती है।

दूसरी मंजिल में सरकार या स्वयं लोकसभा योजना बनाने के लिए आयोग

(समिति, कमीशन) नियुक्त करती है। इस आयोगमें आयोजन से सम्बन्ध रखने वाले विशेषज्ञ ही रक्खे जाते हैं जो प्रत्येक बात की गहराई तक जा सकें। यह आयोग पहले पहली मंजिल के आधार पर मोटी रूप रेखा तैयार करता है और योजना सम्बन्धी उत्पादन इकाइयों और साधनों की पूरी जानकारी के लिए विभिन्न प्रश्नावलियाँ तैयार करता है। इन प्रश्नावलियों के आधार पर उत्पादन के साधनों और इकाइयों तथा क्षेत्रों की पूरी जानकारी प्राप्त कर ली जाती है। अर्थात् कौन कारखाना, कौन सामान, कितना कितने समय में कितना श्रम प्रयोग करके बना सकता है। कितना कच्चा माल, कितनी विद्युतशक्ति आदि चाहिए यह मालूम कर लेता है। सरकार के अनुसन्धान, आंकिक तथा विशेषज्ञ विभागों की पूरी सहायता लेकर प्रत्येक प्रकार की आवश्यकता का देश भर के उत्पादन केन्द्रों और क्षेत्रों के लिए विस्तृत हिसाब लगा लिया जाता है, और इस प्रकार योजना का विस्तृत रूप तैयार कर लिया जाता है। यह निश्चित हो जाता है कि इतनी इतनी बिजली का प्रबन्ध करना है। इतना कोयला, इतनी खाद, इतना लोहा आदि, इतना मनुष्य श्रम, इंजीनियर, शिक्षक श्रमिक आदि के रूप में प्रबन्ध करना है और इन सबका प्रबन्ध किस प्रकार से होगा, कहाँ से कौन वस्तु भेजी जायगी आदि, और यह सब प्रबन्ध कर देने पर इतना माल उत्पादित हो जाना चाहिए, इतने समय में हो जाना चाहिए, आदि का पूरा हिसाब लगा लिया जाता है।

इतना सब हिसाब लगने पर पूरी योजना की तीसरी मंजिल पर अर्थात् लोक सभा द्वारा स्वीकृत होने के लिए पेश कर दिया जाता है। लोकसभा उसमें आवश्यक परिवर्तन, परिवर्धन करके जब पास कर देती है तो वह योजना कानून बन जाती है, जिसे कार्यान्वित करना प्रत्येक जिम्मेदार उत्पादक का कर्तव्य हो जाता है।

चौथी और पाँचवीं मंजिल एक ही साथ तै होती हैं। योजना बन तो गई परन्तु उसे कार्यान्वित कराना सरकार का काम है। इसके लिए सरकार एक कमेटी बना देती है। एक विभाग का निर्माण कर देती है। यह विभाग फिर आवश्यक नियंत्रणों की रचना करता है। आवश्यक आज्ञापत्र निकालता है और योजना को कार्यान्वित कराता है। इसके लिए प्रादेशिक क्षेत्रीय, अधिकारी नियुक्त करता है।

पाँचवीं मंजिल निरीक्षण की है जिसमें योजना के कार्यान्वित होने में काम आयोजित ढंग और गति से चल रहा है या नहीं यह देख रेख रक्खी जाती है। कार्य में कहीं अड़चन आ रही हो तो उसे दूर किया जाता है। नई समस्या आ जाय तो उसे हल किया जाता है। यह कार्य साथ ही साथ चलता रहना आवश्यक है। इसके लिए कार्यान्विय अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य उच्च अधिकारी भी नियुक्त किए जाने

चाहिएँ और कड़ी जाँच पड़ताल करते रहना आवश्यक है अन्यथा ढिलाई स्वाभाविक है, और उत्पादित सामग्री का स्तर गिर सकता है।

आयोजन के आधारभूत प्रश्न

आयोजन के आधार उद्देश्य के अनुसार ही होते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आयोजन होगा तो अधिकांशतः नियंत्रणात्मक आधार होंगे। आयोजित उत्पादन वितरण आदि का केन्द्रीकरण नहीं होगा। परन्तु लोकायोजन के लिए सभी आधार केन्द्रीय कोटि के होंगे। 'मूलाधार' के लेखकों ने ये आधार आयोजन के नाम से पाँच प्रकार के प्रश्नों के रूप में बताये हैं। ×

१—ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का जिनका उत्पादन हो चुका है किस प्रकार उपभोक्ताओं के बीच परिसीमन (Ration) किया जाय ?

२—कौन सी वस्तुएँ कितनी मात्रा में उत्पादित की जायँ ?

३—विविध औद्योगिक इकाइयों (फर्मों) में उत्पादन के साधनों को किस प्रकार बाँटा जाय कि उत्पादित की जाने वाली वस्तुएँ आवश्यक अनुपात में उत्पादित की जा सकें ?

४—वस्तुओं या आय के रूप में उत्पादन के कौन से अंग उत्पादन में योग देने वालों को दिये जाँय ?

५—तात्कालिक उत्पादन का कितना हिस्सा भविष्य के लिए अर्थात् विनियोग के लिए बचा लिया जाय ?

हम आयोजन के आधारों को एक दूसरे ढंग से रखना पसन्द करेंगे।

१—आज के जीवन स्तर पर देश के सम्पूर्ण समाज की भोजन सामग्री, कपड़ा, मकान, सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि के लिए किन वस्तुओं की, कितनी तादाद में आवश्यकता है ?

२—उपभोग की कितनी सामग्री अपने पास आज है और कितनी की कमी है ?

३—उत्पादन के कितने और क्या साधन अपने पास हैं ? अर्थात् उपभोग की सामग्री के उत्पादन के साधन कितने और उत्पादन साधनों के उत्पादक साधन कितने हैं।

४—हमारे साधनों में कितने ऐसे हैं जिनका आज की कार्यपद्धति (Technique), व्यवस्था, और प्राप्त मशीन आदि को दृष्टि में रखकर पूरा उपयोग नहीं हो रहा है ?

५—हमारे कितने साधन ऐसे हैं जो बेकार पड़े हैं क्योंकि उनके उप-

× अर्थशास्त्र के मूलाधार पृष्ठ ६०३

योग के लिए विशिष्ठ कार्य पद्धति विशिष्ठ व्यवस्था और विशिष्ठ निर्माण सामग्री की आवश्यकता होगी ?

६—प्रस्तुत उपभोग के साधनों को किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के उपभोक्ताओं के बीच परिसीमन (Ration) किया जाय कि जब तक नई उपभोग सामग्री आये वह चल जाय ?

७—प्रस्तुत उत्पादक साधनों को विभिन्न उत्पादन इकाइयों और उत्पादन प्रकारों में किस अनुपात में बाँटा जाय कि आवश्यक वस्तुएँ आवश्यक अनुपात में निश्चित तादाद में, दिये समय के अन्दर उत्पादित हो जाँय ?

८—तात्कालिक उत्पादन का कितना भाग, उपभोग से रोककर पुनः उत्पादन में लगा दिया जाय ?

९—उत्पादित सामग्री उत्पादक व्यक्तियों में किस आधार पर बाँटी जाय ?

पूंजी व्यवस्था में उत्तर

अनायोजित अथवा प्रतिस्पर्धी व्यवस्था में इन प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं खोजता, और जो खोजता भी है वह केवल अनुमान मात्रों से काम लेकर सन्तुष्ट हो जाता है। केवल भविष्य में मूल्यों के घटने बढ़ने का अनुमान लगाने के लिये ही ऐसी खोज की आवश्यकता होती है। सट्टेवाले रोज ही ऐसे हिसाब लगाते रहते हैं। प्रतिस्पर्धी अर्थ व्यवस्था 'आवश्यकता' का अर्थ क्रयशक्ति के आधार पर लगाती है। यदि किसी के पास इतने पैसे हैं कि वह किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता न होते हुए भी उसे खरीद लेता हैं तो वह उसकी आवश्यकता समझ ली जाती है परंतु यदि कोई गरीब किसान मजदूर भूखा और नंगा होते हुए भी पैसे के अभाव में है तो उसे रोटी और कपड़े की आवश्यकता है ऐसा नहीं समझा जाता। मांग और पूर्ति के सिद्धान्त से ही हर बात निश्चय होती है। माँग और पूर्ति की खिलवाड़ के फलस्वरूप कीमतें तय होती हैं और कीमतों के ही आधार पर प्रत्येक वस्तु का उत्पादन और वितरण होता है।

यदि हमें पहले प्रश्न का उत्तर खोजना हो कि देश में कितने रोटी, कपड़ा, मकान आदि की आवश्यकता है तो केबल विक्रय की तालिका ही इसका उत्तर देगी। उत्पादन के साधन कितने उपयोग में आ रहे हैं और कितने बेकार पड़े हैं इसका समाधान भी माँग और कीमतें ही करेंगी। उत्पादन कितना करना है, किस वस्तु का करना है यह भी माँग के आधार पर ही निश्चय होता है। यदि किसी वस्तु की माँग बहुत काफी है और कीमतें उत्पादन की लागत से काफ़ी ऊँची हैं और मुनाफे की काफ़ी गुंजाइश है तो वह वस्तु फौरन बड़ी भारी मात्रा में बनने लगेगी। उत्पादित

सामग्री उत्पादकों में वस्तुओं के मूल्य के ही आधार पर वितरित हो जाती है । पूंजी अपना व्याज ले लेती है, मजदूर को मजदूरी, जमीन को किराया अथवा भाटक, और प्रबन्धक को उसकी फ़ीस इसी मूल्य के आधार पर मुनाफे में से मिल जाते हैं।

इस प्रकार अनायोजित अर्थ व्यवस्था में किसी भी प्रश्न का उत्तर आयोजना के काम का नहीं मिलता। और इसी लिये जो आयोजन प्रतिस्पर्धी अर्थ व्यवस्था के अंतर्गत किए जाते हैं वे जनता की समृद्धि कभी नहीं कर सकते। प्रतिस्पर्धी अर्थ-व्यवस्था में कोई भी आयोजन, जो सब जनता को आर्थिक उन्नति की ओर लेता चला जाय, हो ही नहीं सकता। भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं के सामने यही बड़ा भारी प्रश्न चिन्ह है।

लोकायोजन व्यवस्था में उत्तर

परन्तु पूर्णायोजित अर्थव्यवस्था में इन सभी प्रश्नों का उत्तर अधिकारी लोग बाकायदे खोज करके प्राप्त कर सकते हैं। हम प्रत्येक पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं।

हमारे ९ प्रश्नों में से पहले तीन प्रश्न तो केवल जानकारी एकत्र करके क्षेत्रीय अधिकारियों द्वारा हल हो सकते हैं।

चौथा और पाँचवाँ प्रश्न बेकार साधनों के संबन्ध में हैं। कई बार ऐसा होता है कि एक मशीन दिन में पूरी गति से काम करे तो जितना काम कर सकती है उतना उससे नहीं लिया जा रहा है। या तो उसे कच्चा माल नहीं मिल रहा है। या उसमें खराबी है। या माल की खपत कम है। ऐसी मशीन उत्पादन तो करती है फिर भी आधी बेकार है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति जो आठ घंटे काम कर सकता है ४ या ५ ही घंटे काम करता है। बीमारी के कारण अथवा काम न मिलने के कारण अथवा औजार या मशीन की कमी से, या कच्चे माल की कमी से, और या बनाये माल की माँग न होने के कारण, तो वह भी आधा बेकार है। यदि हमारे पास ऐसी मशीन तो है जो एक घंटे में २ मन आटा पीसती है परंतु विज्ञान ने ऐसी मशीन का आविष्कार कर दिया है या ऐसी कार्य पद्धति निकाल दी है जिससे घन्टे में २० मन आटा पीसा जा सकता है तो हम उस हद तक बेकार हैं। इस बेकारी के इन दोनों प्रश्नों को हल करने के लिए आँकड़ों का एकत्रीकरण तो एक साधन है ही परंतु आज की कार्यपद्धति (technique) के विकास का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे उत्पादन साधन होते हैं जिनको छुआ ही नहीं गया है। हिमालय के असंख्य झरने एक भारी तादाद में विद्युत दे सकते हैं। उनको हमने छुआ ही नहीं है। हिमालय के खनिज, राजपूताने का रेगिस्तान, अनेक नदियों की यातायाती क्षमता आदि वस्तुएँ अभी छुई भी नहीं गयी हैं। भारत का अधिकांश कच्चा माल, खनिज, लाख, तमाखू,

अफीम. चमड़ा, खोपरा, आदि विदेशों में ज्यों का त्यों भेज दिया जाता है । यह बेकार है । डा. राम मनोहर लोहिया ने भी अपनी एक पुस्तक में इन साधनों की बेकारी पर विचार किया है । वे कहते हैं कि संसार की "आर्थिक स्थिति के लिए सबसे बड़े खतरे की बात है मानव जाति के दो तिहाई भाग के उत्पादन औजार तथा मशीनें । उनको विज्ञान और उन्नतिशील कार्यपद्धति की सहूलियत नहीं लेने दी जा रही है । ये औजार और मशीनें विदेशी साम्राज्यवाद के बोझ से दबे जा रहे हैं और उनके सहारे लगाया गया श्रम अधिकाधिक अनुत्पादक होता जा रहा है ।" आपने एक बड़े मार्के की बात की हैं कुछ इंगितात्मक आँकड़े देकर आप कहते हैं "इन औजार मशीनों द्वारा लगाये हुए ५००० करोड़ श्रम घंटे बराबर हैं २५० करोड़ श्रम घन्टों के, स्वतंत्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में" ×

एक विचारक ने बेकारी की और विवेचना की है । और बेकारी के ये रूप बताये हैं —*

१– मूल्य रहित (Value less) साधनों की बेकारी
२– बनावटी (Pseudo) बेकारी
३– सोद्देश्य (Preferred) बेकारी
४– कार्यरत (Participating) बेकारी
५– मजबूरी (enforced) बेकारी
६– रोकी हुई क्षमता द्वारा बेकारी
७– हड़ताल द्वारा बेकारी
८– हमलावर (aggressive) बेकारी
९– साधनों के सरकाव से (Diverted) बेकारी ।

छठवाँ प्रश्न केवल परिसीमन का है । बहुत अधिक महत्व का प्रश्न सातवाँ है । उत्पादन के साधनों का वितरण बिभिन्न प्रकार के उत्पादनों और विभिन्न इकाइयों में कैसे किया जाय । मनुष्य की आवश्यकताएँ और जन संख्या दोनों ही लगातार बढ़ती जा रही हैं । अतः आवश्यकता की सामग्री का उत्पादन लगातार बढ़ता ही जाना आवश्यक है । यह तभी सम्भव है जब मनुष्य की उत्पादन क्षमता बढ़ती चली जाय । और इसके लिये उत्पादन के औजारों का अर्थात् मशीनों का लगातार बनते रहना और अधिकाधिक समक्ष मशीनें बनते रहना, अधिकाथिक सक्षम कार्य पद्धति का विकास होते रहना, आवश्यक है । इसी दृष्टि से उत्पादन के साधनों में से

× Fragments of A world Mind by Dr. Ram Manohar Lohia p. 211–2

* The Theory of Idle Resources, –W. H.Hutt. P. 28

कुछ को केवल उत्पादन के साधन अर्थात् मशीनें बनाने में ही लगाना आवश्यक है ।

इसको दृष्टि में रखकर ही सातवें प्रश्न का हाल होगा। अत्यावश्यक उपभोग सामग्री तैयार होने लायक उत्पादन साधनों को छोड़कर बाकी सब मशीन बनाने में लगाने आवश्यक हैं । इसी प्रकार आठवें और नवें प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होगा।

वितरण की समस्या

आयोजित अर्थव्यवस्था में उत्पादन का आयोजन तो होता ही है परन्तु उत्पादित सामग्री के उपभोगार्थ पदार्थों के वितरण का भी बड़ा भारी प्रश्न होता है। अनायोजित अथवा अर्धायोजित पूंजी वादी या तानाशाही व्यवस्था में तो मूल्य और मजदूरी, व्याज, भाटक, तथा शुल्क आदि माँग और पूर्ति के प्रभाव स्वरूप अपने आप निश्चित हो जाते हैं और फल अनायोजित अर्थ व्यवस्था का जैसा ही रहता है। लोकायोजन में वितरण का भी पूरा आयोजन किया जाता है।

कुल राष्ट्रीय आय के मुख्य रूपों द्वारा जो आय होती है वही वितरित होती है। राष्ट्रीय आय के, लोकायोजन की अवस्था में, निम्न लिखित दो भाग होते हैं–

१– सरकारी अथवा सार्वजनिक कृषि तथा उद्योग धन्धे,

२– सहयोगी कृषि तथा उद्योग धन्धे

केवल व्यक्तिगत उत्पादन के लिये लोकायोजन में बहुत कम स्थान होता है। जब तक व्यक्तिगत उत्पादन सहयोगी या सरकारी न बन जाँय उनकी तीसरी श्रेणी मान सकते हैं। इस राष्ट्रीय आय के विभागों से राष्ट्रीय कोष में अर्थात् केन्द्रीय तथा प्रान्तीय बजट में आनेवाली आय तो उन बजटों के अनुसार बटती है जिसका जिक्र हम अभी करेंगे और बाकी आय उत्पादन इकाइयों द्वारा वहीं बट जाती है।

बजटों मे आय निम्न प्रकार से आती है—

१– सरकारी भूमि तथा अन्य साधनों के प्रतिदान से

२– पूंजी के व्याज के रूप में, जो सरकारी बैंकों द्वारा सरकारी, सहयोगी अथवा व्यकिगत उत्पादन इकाइयों को अन्य समाग्री प्राप्त करने और अन्य द्राव्यिक कार्य अर्थात् मजदूरी आदि चुकाने के लिये दी जाती है।

३– अननुमेय (जिनका मूल्य न लगाया जा सके) तत्वों, अर्थात् जनोपयोगी सेवाओं के लिये लिया गया भुगतान।

४– राजकीय उद्योगों द्वारा प्राप्त मुनाफ़ा

५– विभिन्न कर

६– श्रमिक सेवाओं का मूल्य

वितरण के रूप

अब वितरण पर भी विचार किया जा सकता है। वितरण के निम्नांकित रूप हैं:—

१— श्रमिकों की मजदूरी और वेतन

२- वर्तमान उत्पादन साधनों की मरम्मत, पुनर्स्थापन, नवीनी करण, क्षय घिसावट इत्यादि।

३— सरकारी व्यय, सुरक्षा, विभाग संचालन; खोज आदि

४— विनियोग— भावी उत्पादन वृद्धि के लिये नये कारखाने, खानें, यातायात के साधन, वैज्ञानिक अनुसन्धान, कार्य पद्धति शिक्षा आदि का नया प्रबन्ध।

५— जनोपयोगी सेवाऐं तथा सामाजिक उपयोगके लिये व्यय।

इस प्रकार के वितरण के रूप सरकारी उत्पादन और सहयोगी उत्पादन इकाई, दोनों ही में होता है, केवल निजी में सार्वजनिक सेवाओं आ भाग सरकारी कर के रूप में ही शामिल हो कर जायगा। सहयोगी उत्पादन इकाइयों में, जहाँ सार्वजनिक उपभोग की वस्तुएँ आयोजित करने की व्यवस्था उस इकाई के लिये सम्भव नहीं है वहाँ सरकारी कर में ही सम्मिलित होगी। बड़े बड़े सहयोगी कृषि उद्योग तो अपने फार्मों खेतों पर ऐसे प्रबन्ध कर सकते हैं। उदाहरणार्थ वे फार्म पर सार्वजनिक उपयोग के लिए बगीचा लगा सकते हैं। मनोरंजन के साधन, शिक्षालय, अस्पताल, आदि बना सकते हैं। राजकीय व्यय के लिए भुगतान सभी को कर के रूप में करना पड़ता है। बाकी मद सब में एक सी हैं ही।

श्रम का मूल्य

इसमें सबसे बड़ी समस्या है श्रम का मूल्य निश्चित करने की। लोकायोजन इस उद्देश्य से किया जाता है कि देश की सम्पूर्ण जनता की अधिक से अधिक आर्थिक समृद्धि होती चली जाय। अतः स्वाभाविकतः मजदूरी का एक मोटा सिद्धान्त यह बना कि जो कुछ लोकायोजन के फलस्वरूप उत्पादित होता है वह सम्पूर्ण उत्पादन करने वाली जनता की मजदूरी है। जनता के काम दो प्रकार के हैं एक तो सम्मिलित अर्थात् सबके लिए ही, जिनका प्रबन्ध अलग अलग एक एक के लिए नहीं हो सकता,, एक साथही हो सकता है। जैसे बाहरी आक्रमणकारियों से रक्षा। इसके लिए सेना और सैनिक आदि साधन आवश्यक हैं। अतः कुल उत्पादन में से उतना आवश्यक भाग निकाल दिया जाता है। ऐसे ही अन्य अनेक काम, जैसे आन्तरिक व्यवस्था के अनेक सरकारी विभाग। अतः सरकारी व्ययों के लिए उनका भाग अलग कर दिया गया। तत्पश्चात् सार्वजनिक मनोरंजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, वृद्ध सुश्रूषा, आदि

का व्यक्तिगत प्रबन्ध ठीक से नहीं हो सकता। यह भी सरकारी विभाग ही कर सकते हैं। इनका भी व्यय अलगकर दिया गया। अब जो उत्पादित सामग्री बची उसमें से कुछ को भावी उत्पादन के लिए विनियोग करना आवश्यक है वरना भविष्य में उप-भोग का सामान नहीं मिल सकेगा। उतना और निकाल दिया जाता है। अब जो बाकी बचा वह सभी उत्पादक व्यक्तियों को वितरण कर दिया जाना चाहिये। यह दूसरे प्रकार के अर्थात् व्यक्तिगत प्रकार के कामों के लिए है। परन्तु व्यक्ति की सामाजिक चेतना का विकास अभी धीरे धीरे हो ही रहा है। पूर्ण जिम्मेवारी की भावना अभी पूर्ण रूपेण हर व्यक्ति में नहीं बन पाई है अतः कृतत्व (Activity) के प्रोत्साहन के लिए व्यक्तिगत वितरण करते समय व्यक्तिगत कार्यक्षमता, कार्य काल, उत्पादित सामग्री आदि का हिसाब लगाकर व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुरूप ही वेतन का भुगतान किया जाना चाहिए।

लोकायोजन की सफलता की शर्तें—

कोई भी आयोजन और खासतौर से लोकायोजन उस समय तक सफल नहीं हो सकता जबतक निम्नांकित बातें पूरी तरह कार्यान्वित न हों—

१—सरकार इतनी शक्तिशाली और लोकप्रिय हो कि जिस आयोजन को कार्यान्वित करना चाहे उसमें कोई अड़चन न डाल सके। बेईमान, शत्रुओं के एजेण्ट, ध्वंसकारी कार्यवाहियाँ न कर सकें। आयोजित व्यवस्था सभी के परम हित की है। विज्ञान के आधार पर बनी है। स्वाभाविक है और युक्तियुक्त है इन बातों का पूरा विश्वास हर समय जनता के हृदय में जमा रह सके। सरकारी अधिकारी इतने निर्भीक भी हों कि यदि कहीं त्रुटि वास्तव में निकल भी आवे तो मूढ़ग्राह न सिद्ध हों बल्कि उसे बहुत नम्रता से सुधार लें।

२—योजना इतनी त्रुटिहीन, युक्तियुक्त, और स्वाभाबिक हो कि जनता के पूरी तरह गले उतर जाय। जनता को वास्तव में अपना कल्याण उसी में दिखाई पड़े। देश के सम्पूर्ण प्राकृतिक धन, बेकार और अर्ध-बेकार सभी साधनों का वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर हिसाब लगाया जा चुका हो। जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति की पूरी झलक उसमें हो। हिसाब सब सही सही लगाये गये हों। जो कार्य पहले करने आवश्यक हैं उन्हें प्राथमिकता (Priority) दी गई हो।

३—योजना का सम्पादन बहुत ही योग्य, ईमानदार उत्तरदायित्व समझने वाले व्यक्तियों के हाथों में होना परमावश्यक है। उनका स्वयं का योजना की सफ-लता और तज्जनित लोक-समृद्धि में पूर्ण विश्वास हो।

४—योजना का उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित हो। उद्देश्य में केवल यह न कहा गया हो कि इतने करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे। बल्कि इसपर स्पष्ट और

निश्चित जोर हो कि इतना कार्य होगा। इतनी, अमुक अमुक मशीन बनेंगी। इतने और अमुक स्थानों पर ऐसे बाँध बनेंगे। इतना अमुक सामान बनेगा, इत्यादि। अधिकारियों के तबदील हो जाने पर योजना में परिवर्तन न हों। कहीं कहीं दलबन्दी भी योजनाओं का मटियामेट कर देती हैं। लोकायोजन चूँकि एक सर्वनिष्ठ और देश भर की अर्थ व्यवस्था में सटी और बुनी हुई पद्धति के आधार पर ही हो सकता है अतः उसमें पार्टी बन्दी सिद्धान्तों के अन्तर के आधार पर हो ही नहीं सकती, केवल वैयक्तिक पार्टीबन्दी भले ही हो। अतः योजना में हस्तक्षेप होने की गुंजाइश कम रह जाती है।

५— सार्वजनिक सहयोग बहुत ही अधिक आवश्यक है। उसके वगैर कोई भी लोकायोजन असम्भव है। परन्तु यदि पहली अन्य बातें मौजूद हैं तो ऐसा असम्भव है कि जनता का सहयोग न मिले। फिर भो है यह ध्यान में रखने लायक आवश्यक बात। कुछ पूँजीवादी व्यवस्था के योजनाधिकारी वाहरी आक्रमण की धमकी देकर अथवा युद्ध की स्थिति उत्पन्न करके जनता का सहयोग जबर्दस्ती प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, किन्तु वह सहयोग नहीं मजबूरी होती है। स्वतन्त्र और स्वेच्छा का सहयोग नहीं, वह गुलामी होती है।

६— जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं में एकरूपता भी आवश्यक बात है। उसमें भारी वैभिन्य आयोजन के लिए भारी कठिनाई उपस्थित करेगा। परन्तु वह साधारण बात है कि पिछड़ी आर्थिक अवस्था में सुधार के लिए जो प्रथम लोकायोजन होगा उसमें तो अवश्य ही इस बात का ख्याल रखना आवश्यक है। भारत के कुछ आदमी चावलभोजी और कुछ अन्य अन्न भोजी हैं तो इस प्रकार की साधारण भिन्नता की व्यवस्था तो बहुत आसानी से हो सकती है परन्तु कपड़ों में हजारों भिन्न रुचियों की संतुष्टि पहली योजना में संभव नहीं है। किन्तु फिर भी एक के बाद एक आयोजनों की सफलता के फलस्वरूप जब आर्थिक विकास काफी हो चुकेगा तो रुचि वैचित्र्य को उतनी ही सीमा तक संतुष्ट करने का प्रबन्ध उत्तरोत्तर किया जा सकेगा।

लोकायोजन की सफलता के लिए श्री मन्नहिम एक और बात आवश्यक बतलाते हैं। आपका कथन है कि "केवल काफी सम-स्तरीय समाज ही में आयोजन के साधन और उद्देश्यों पर एकमत हो सकता है" अतः समाज समस्तरीय (Homogeneous) होना चाहिए। *

रूस के भूतपूर्व सूत्राधार श्री जोसेफ स्टेलिन ने लोकायोजन की सफलता के लिए एक और नियम आवश्यक बताया है जो अन्य प्रकार पहली बातों में भी सन्निहित हो गया है परन्तु यहाँ उसे स्पष्टता के लिए उद्धृत करते हैं—

---

* Mannheim,- Freedom, Power and Democratic Planning (1951) p. 118 quoted by Wadia & Merchant.

"उत्पादन के सम्बन्धों को अनिवार्य तौर पर उत्पादक शक्तियों के लक्षण से मेल खाना चाहिए।" अर्थात् जब उत्पादन के ढंग में बहुत व्यक्तियों को एक साथ मिलकर काम करना पड़े जैसे कारखानों में, रेल, तार, जहाजों के संगठनों में, तो उनका स्वामित्व भी एकनिष्ठ नहीं सर्वनिष्ठ होना आवश्यक है। उत्पादन साधनों का समाजीकरण होना चाहिए। ×

लोकायोजन के विरुद्ध आपत्तियाँ

आज लगभग आधी दुनिया में लोकायोजन की व्यवस्था चल पड़ी है। रूस और चीन दोनों ही में मिलकर संसार की एक तिहाई से अधिक जनता रहती है और फिर पूर्वी यूरोप के कई देश भी इस व्यवस्था के हिमायती बन चुके हैं अतः यह तो बहुलता से माना जाने लगा है कि व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था में जितनी खामियाँ होती हैं उनका यह सर्वश्रेष्ठ उत्तर है। आय की असमानताएँ, उपभोग में अपव्यय, उत्पादन साधनों की बरबादी, बहुत नीचे जीवन स्तर, आर्थिक संकट आदि, से लोकायोजन व्यवस्था में छुटकारा मिल जाता है। इस व्यवस्था में बेकारी तो होती ही नहीं, इस आर्थिक आयोजन में उत्पादन के लगातार भारी गति से बढ़ते जाने की भारी से भारी सम्भावना हो सकती है परन्तु कुछ लोग जो व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था के पुजारी हैं लोकायोजन में कई दोष बतलाते हैं—

१— व्यक्तियों की आर्थिक स्वतन्त्रता का अपहरण हो जाता है। उत्पादन, व्यवसाय, बचत, विनियोग और उपभोग सम्बन्धी वैयक्तिक विकल्पों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं। इन सबका निर्णय सरकारी योजनाधिकारी ही करते हैं।

इन आपत्तियों को बहुधा वे लोग ही उठाते हैं जिनका जीवन स्तर बहुत ऊँचा है। अमेरिका में औद्योगिक विकास के फलस्वरूप वहाँ की कुछ जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठ गया है। परन्तु वहाँ आधी से अधिक जनता, वहाँ की दृष्टि से निम्न जीवन स्तर पर है। उनमें से कोई यह आपत्ति नहीं उठाता। भारत, चीन, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका जैसे दरिद्र क्षेत्रों में लोकायोजन से जो भारी लाभ होंगे उनके सामने यह अपहरण नगण्य है। सचमुच में तो यह अपहरण है ही नहीं यह तो कार्यशक्ति को इकट्ठी करके काम में लगाना है। वास्तव में तो इन स्वतंत्रताओं के फलस्वरूप ही कुछ लोग बाकी जनता का कल्याण होने नहीं देतें। उत्पादन के सब साधनों पर कब्जा किये बैठे हैं। बाकी जनता को भूखों मरने पर मजबूर करते हैं।

२-लोकायोजन में साधनों का अनुकूलतम (Optimum) वितरण हो ही नहीं सकता। क्योंकि योजनाधिकारियों को केन्द्रीय शक्ति के निर्णयों पर निर्भर रहना

× Economic Problems of Socialism in the U. S. S. R. by J. Stalin p. 10.

पड़ता है। वे जनता की आवश्यकताओं का पूरा अनुमान लगा ही नहीं सकते। और न उत्पादन के साधनों को सर्वश्रेष्ठ आर्थिक संगठन के रूप में संयोजित कर सकते हैं। अन्यायपूर्ण और आकस्मिक निर्णयों से असफलता होगी, हानि होगी। व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था में असफलताएँ और हानियाँ अपना सुधार आप कर लेती हैं। माँग और पूर्ति के खेल अपने आप हर बात तय कर देते हैं।

इस प्रकार की आलोचना तो स्वयं पंगु है। जिस प्रकार व्यक्तिगत अर्थ-व्यवस्था में गलत निर्णयों के कारण अनेक उत्पादक, व्यापारिक इकाइयों में अलग अलग भारी हानि हो सकती है, उसी प्रकार सम्भव है कि योजनाधिकारी कहीं गलती कर जाँय परंतु सार्वदेशिक योजनाओं के निर्णय व्यक्तिगत निर्णयों की भाँति अकेला व्यक्ति नहीं करता। वहां देश के योग्य से योग्य व्यक्ति होते हैं और योजना अनेक इकाइयों की योजनाओं की योग स्वरूप बनाई जाती हैं जिनकी जाँच और विशेष जाँच कई दृष्टिकोणों से कई स्तरों पर हर दृष्टिकोण के विशेषज्ञों द्वारा होती है। व्यक्तिगत व्यवस्था में तो इतनी भारी और अधिक बुद्धियों और विशेषज्ञों और स्तरों का सहयोग मिल ही नहीं सकता।

३– आर्थिक आयोजन में ऐसी कोई तरकीब नहीं है कि आर्थिक क्रियाएँ अपने आप चलती रहें। वैयक्तिक व्यवस्था में मुनाफे की भावना इन क्रियाओं में चाबी का काम करती रहती है।

परंतु यह भारी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अनुभव हीनता का परिचायक है। दस हजार मजदूरों वाले कारखाने का मालिक अपने भारी मुनाफे के लालच में उन मजदूरों को निरीक्षकों द्वारा अधिकाधिक काम करने के लिए मजबूर करता रहेगा, अवश्य। पर क्या मजदूर दिल से काम कर सकेंगे? अब आप इनको यह गारंटी कर दीजिए कि जो कुछ उत्पादन होगा वह उन्हीं को मिलेगा और उन्हें इसका विश्वास हो जाय। फिर देखिये उनमें अधिक से अधिक उत्पादन की होड़ लग जायगी। लोकायोजन श्रमिक को यही गारंटी देता है। अतः व्यक्तिवादी व्यबस्था में मुनाफा केवल कारखाने के मालिक को उत्साहित करता है। लोकायोजन में प्रत्येक मजदूर को, प्रत्येक उत्पादक को प्रेरित करेगा और फिर काम के अनुसार पूरे उत्पादन का वितरण होता है बीच में कोई खाता नहीं तो और भी प्रोत्साहन मिलता है। अतः यह आलोचना भी कारगर नहीं है।

४– सबसे शक्तिशाली आलोचना यह अवश्य है कि चूंकि लोकायोजन में संपूर्ण आर्थिक जीवन की लगाम केन्द्रीभूत रहती है और यदि केन्द्र में बेईमान और स्वार्थी लोग घुस बैठे तो सारी व्यवस्था का बुरे से बुरा परिणाम हो सकता है।

इसका उत्तर यही है कि जनता आगे या पीछे जागरूक अवश्य हो उठेगी और ऐसे लोगों को निकाल बाहर करेगी। ऐसे लोग थोड़े समय ही हानि कर सकते हैं।

२२

भारतीय आर्थिक आयोजन

आयोजन का प्रारम्भ

स्वतंत्रता के पहले ही से भारतीय नेताओं और विचारकों ने आर्थिक आयोजन पर विचार करना आरम्भ कर दिया था। और राष्ट्रीय आर्थिक आयोजन के उद्देश्य और रूप रेखा तैयार करने के लिये कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस ने श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में १९३८ में ही एक समिति बना दी थी, 'राष्ट्रीय योजना समिति'। सन् १९४० में उस समिति ने अपना काम आरम्भ कर दिया था। और काफी सामग्री इस दिशा में कार्यार्थ एकत्र कर ली थी।

अंग्रेज सरकार ने भी योजना बनाकर देश की स्थिति सुधारने का बहाना किया था। सन् १९४५ के अप्रेल में भारत सरकार ने आर्थिक आयोजन की दिशा में एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार आधार भूत उद्योग जैसे लोहा, फौलाद, यातायात, पोत और विमान भी, तथा भारी रसायनिक सभी नियंत्रित हों ताकि अधिक से अधिक लाभ देश के साधनों का उठाया जा सके। युद्धोपरान्त सरकार के पास उसकी अनेक कमेटियों और विशेषज्ञों की रिपोर्टें आ गईं। खारेघाट योजना कृषि के बारे में, डाक्टर बर्न्स की रिपोर्ट कृषि क्रिया विधि की सम्भावनाओं पर, गाढ़गिल कमेटी की रिपोर्ट कृषि साख पर, सिंचाई योजनाएँ, आडरकर कमेटी रिपोर्ट औद्योगिक मजदूरों के बीमारी बीमा पर, कृष्णमचारी की रिपोर्ट कृषि मूल्यों को सरकारी मदद देने पर आदि। अंगरेज सरकार का योजना बोर्ड सर आर्देशर दलाल के हट जाने से टूट गया। स्वतंत्रता के बाद श्री जवाहर लाल नेहरू के प्रधान मंत्रित्व में एक सुझावी योजना समिति (Advisory Planning Board) श्री के.सी. नियोगी की अध्यक्षता में बनाई गई। १९४६ के अन्त में उस समिति की रिपोर्ट निकली उसने सिफारिश की कि एक केन्द्रीय आयोजन आयोग नियुक्त किया जाय। केन्द्रीय अंक कार्यालय हो, एक स्थायी तटकर समिति (Permanent Tariff Board) और एक पूर्वता (Priorities) समिति हो। देश के विभाजन के पूर्व ही केन्द्रीय सरकार कुछ योजनाएँ बना चुकी थी। जिनमें अधिक महत्व पूर्ण थीं, दामोदर घाटी

योजना, तुंगभद्रा योजना, और भखरा बाँध योजना। इन पर तुरन्त काम चालू कर दिया गया। १९४८ में भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति के संबन्ध में एक प्रस्ताव पास किया, जिसका जिक्र हम आगे करेंगे। मार्च १९५० में भारत सरकार ने एक नया आयोजन आयोग नियुक्त किया, जिसके अध्यक्ष प्रधान मंत्री स्वयं थे। आयोग का उद्देश्य था कि देश के प्राकृतिक धन, पूंजी और मानव साधनों का अनुमान लगाये और इन साधनों के अधिक से अधिक उपयोग में लाने के लिये योजना बनाये। इसी ने सरकारी प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई है।

अब उसे वह कार्यान्वित कर रही है। लगभग ४ वर्ष बीत चुके हैं अब दूसरी पंचवर्षीय योजना तैयार हो रही है।

विभिन्न योजनाएँ

इस काल में कई योजनाएँ भारत के लिये सामने आईं। उनमें मुख्य निम्न लिखित हैं—

१–बम्बई योजना (Bombay Plan)
२– विश्वेश्वरैया की योजना
३– जन योजना (People's Plan)
४ गांधी योजना (Gandhian Plan)
५– सरकारी प्रथम पंचवर्षीय योजना

हम प्रत्येक पर थोड़ा विचार करेंगे।

बम्बई योजना– इसको बम्बई के बड़े उद्योगपतियों ने बनाया था। सर्व श्री सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास, सर अर्देशर दलाल, जे. आर. डी. टाटा, घनश्याम दास बिड़ाला, सर श्री राम, कस्तूर भाई लाल भाई, ए. डी. श्राफ और जौन मठाई के उस पर हस्ताक्षर थे। और दो भागों में यह प्रकाशित हुई थी। इस योजना का उद्देश्य था वर्तमान राष्ट्रीय आय को १५ वर्षों में तिगुनी कर देना। परन्तु चूंकि इस बीच में जन संख्या बढ़ जायगी अतः वह तिगुना स्तर दुगुना ही रह जायगा। योजना में यह आवश्यक समझा गया है कि सरकार कम से कम उत्पादन कार्यों पर कब्जा रक्खे। अधिकांश का वैयक्तिक हाथों में ही रखना आवश्वक है। योजना में कुल विनियोग १०००० करोड़ रुपये का होगा जिसमें से कुछ विदेश से ऋण रूप में लिया जायगा, कुछ आन्तरिक ऋण द्वारा और बाकी मुद्रास्फीति के जरिये प्राप्त किया जायगा।

बंबई योजना का उद्देश्य ही प्रथम तो बड़ा अनिश्चित है। जब यह योजना बनी थी तो भारत की राष्ट्रीय आय का कोई अध्ययन प्राप्त नहीं था केवल अनुमान

मात्र था। दूसरे राष्ट्रीय आय को तिगुना कर देने का अर्थ यह स्पष्ट नहीं किया गया कि जनसाधारण को उस वृद्धि में से क्या प्राप्त होगा। फिर मूल्यों की कोई गारंटी योजना में नहीं है। यदि उस समय तक मूल्य भी तिगुने हो गये तो साधारण व्यक्ति की आय तो वहाँ की वहीं रह जायगी। बल्कि जनसंख्या बढ़ने के फलस्वरूप और घट जायगी। उत्पादन का आयोजन , केन्द्रीय हिसाब और फैलावट के आधार पर, जनता की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होगा। बल्कि विभिन्न उद्योगपतियों तथा बड़े ज़मीं- दारों द्वारा मुनाफे और माँग-पूर्ति के आधार पर यह निर्णय होगा। मुद्रास्फीति विदेशी ऋण, दोनों ही, आयोजन को, जनहित की ओर, वैयक्तिक व्यवस्था में नहीं ले जा सकते।

श्री विश्वेश्वरैया की योजना भी बंबई योजना ही की तरह की है। उनका यह मानना तो है कि 'उत्पादन बढ़ाने तथा आय द्रुत गति से बढ़ाने तथा अन्य दिशाओं में प्रगति को आगे बढ़ाने के लिए, आयोजित अर्थव्यवस्था सन्सार के कई भागों में अपनाई जा रही है।'× किन्तु उनकी राय में भारतीय आर्थिक आयो- जन संयुक्तराष्ट्र अमेरिका,जापान या जर्मनी के आदर्शों पर होना चाहिए। लोकायोजन नहीं। यह योजना बंबई योजना की ही भांति हमारे गुलामी के दिनों में बनाई गई थी और आज की भारत की अवस्था का उस समय अनुमान लगाना कठिन था। अतः प्रत्यक्ष ही है कि यह योजना व्यवहारिकता की दृष्टि से नहीं बन सकती थी।

जन योजना (पीपल्स प्लान) इंडियन फेडरेशन आफ लेबर के अध्यक्ष श्री मानवेन्द्रनाथ राय द्वारा तैयार की गई थी और 'राय योजना' कहलाती है। इस योजना का उद्देश्य देश से गरीबी दूर करना था। इस योजना में मुख्य जोर वितरण पर दिया गया है। यदि वितरण ठीक नही होगा तो कितना भी उत्पादन कर लिया जाय गरीबी दूर नहीं हो सकेगी। इस योजना में लोकायोजन का बहुत बड़ा स्वरूप है। इस के अनुसार उत्पादन के साधन जिन वैयक्तिक हाथों में हैं उनसे , मुआवजा देकर सरकार खरीद लें और फिर उनका राष्ट्रीयकरण करके लोकायोजन करे। योजना की कुल विनियोग आवश्यकता १५००० करोड़ रुपये होगी। और वास्तव में तो केवल १६००करोड ही लगेंगे जो कि प्रथम तीन वर्षों में व्यय होंगे। बाद में योजना अपनी लागत आप निकालती चली जायगी। योजना में दस वर्ष का समय लेकर आयोजन किया गया है। मुख्य पहलू योजना का है उत्पादन सम्बन्धों की पुनः व्यवस्था। अर्थात् जो वास्तव में अपना श्रम लगाकर उत्पादन करे वही उसके फलों का भागी हो। योजना केवल ढाँचा मात्र है परंतु उसके आधार पर वास्तविक लोका- योजन की नींव पड़ सकती है। गठनात्मक आयोजन पर उसमें काफी जोर है।

× Planned Economy for India by Sir. M. Visvesvaraya P. 178

गांधी योजना की केवल भूमिका ही महात्मा गान्धी ने लिखी थी बाकी सम्पूर्ण योजना श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल द्वारा तैयार की गई थी । योजना का उद्देश्य है दस वर्ष के अंदर भारतीय जनता के भौतिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊपर उठाना । इस कार्य के लिये बड़े उद्योग धन्धों का इस योजना में कोई स्थान नहीं है । सभी उत्पादन कृषि या ग्रामोद्योगों द्वारा होगा । उनका कहना है कि संसार में अब तक तीन प्रकार की योजनाएँ कार्यान्वित हुई हैं— राष्ट्रवाद की दृष्टि से नाज़ियों (जर्मनी) की योजना, लोकतंत्र के उद्देश्य से अमेरिका की योजना और रोजी दिलाने के लिए रूस की योजनाएँ । इनमें से कोई भी भारत के लिए उपयुक्त नहीं है । रूसी योजना रोजी की समस्या को बहुत कुछ हल करती है । परंतु भारत के लिए तो देश के सांस्कृतिक तथा समाजशास्त्रीय आधारों पर बनी योजना ही उपयुक्त हो सकती है ।

यह योजना गांधी जी के आदर्शों पर स्थित है और वे हैं सादगी, अहिंसा, श्रम की पवित्रता, और मानवीय मूल्य । गान्धीं योजना की आलोचना सबसे बड़ी यह है कि यह आर्थिक योजना है ही नहीं । * इससे जीवन का स्तर ऊँचा नहीं होगा बल्कि और गिरेगा । देश अब औद्योगिक क्रान्ति से भी पहली अवस्था में नहीं जा सकता ।

भारत सरकार की प्रथम पंचवर्षीय योजना— इस योजना का उद्देश्य भारतीय संविधान में जन साधारण को जो अधिकार दिये गये हैं उनकी उपलब्धि के लिए व्यवस्था तैयार करना है । वे अधिकार हैं—‡

(क) सभी नागरिकों, स्त्री, पुरुष को रोजी पाने का समान अधिकार है ।

(ख) देश के भौतिक साधनों का स्वामित्व इस प्रकार वितरित होगा कि जन साधारण का सर्वाधिक हित हो ।

(ग) आर्थिक व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ऐसा न हो कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधन ऐसे केन्द्रित हो जाँय कि जनसाधारण को हानि हो ।

इनकी पूर्ति ही इस पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य है । योजना में खुले शब्दों में यह कहा गया है कि 'भारत में आयोजन की यहाँ के संविधान द्वारा निर्मित राजनैतिक ढाँचे के अन्तर्गत ही कल्पना की जा सकती है ।×

यह कामचलाऊ है

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि इस योजना में राजनैतिक ढाँचे में कोई परि-

* Skandar Chaudhary -- Planning for plenty

‡ The First Five Year Plan A Draft P. 1

× वही पृष्ठ ९

वर्तन नहीं किया गया है। बल्कि उसी में जहाँ-तहाँ पैबन्द लगाकर काम चलाया गया है। प्रोफेसर बाडिया तथा मर्चेन्ट की राय तो यह है कि यह केवल कार्यात्मक, कामचलाऊ (Functional) योजना है गठनात्मक (Structural) नहीं।† इन दोनों की परिभाषा इन्हीं प्रोफेसरों ने उसी पृष्ठ पर श्री एफ, ज्विग की पुस्तक से निम्न प्रकार उद्धृत की है।

गठनात्मक योजना समाज विशेष के सामाजिक-आर्थिक गठन को परिवर्तित करती है और सामाजिक तथा आर्थिक गठन में कुछ मौलिक नवीनता उत्पन्न करती है। ऐसी योजना न्यूनाधिक क्रान्तिकारी हो सकती है। इसका उद्देश्य फटे को सीना नहीं होता बल्कि एक नये गठन का निर्माण करना होता है। इसके विरुद्ध कार्यात्मक योजना प्रस्तुत गठन के ढाँचे में ही सट जायेगी। जिन परिवर्तनों का उसमें विचार किया जाता है वह उसी गठन को चालू रखने की दृष्टि से किया जाता है। कार्यात्मक योजना केवल थेगड़ी लगाती है। नया कुछ नहीं बनाती। वह प्रस्तुत गठन के काम में सुधार कर देगी किन्तु उसे रद नहीं करेगी। यह प्रतिक्रियावादी होती है, या यों कहिए कि विकासवादी होती है जो प्रस्तुत ढाँचे को उलट नहीं देगी, वह उसी की सीमित परिधि में घूमती रहेगी।×

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि योजना वैयक्तिक अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत ही चलने के लिए बनाई गई है। इसमें व्यक्तिगत इकाइयों को उत्पादन वितरण आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी। कुछ ही उत्पादन कार्यों का राष्ट्रीयकरण रहेगा जो पहले ही से है। बहुत थोड़े नये कार्य सरकार हाथ में लेगी।

योजना-विनियोग

इस योजना का पूरा विनियोग १७९३ करोड़ रुपये होने की धारणा थी। जिसमें से १४९३ करोड़ तो युद्धपूर्व की स्थिति प्राप्त करने के लिए, जो देश के आन्तरिक कर, मुद्रास्फीति आदि द्वारा पूरे किये जायेंगे। बाकी ३००करोड़ रुपये को जो विदेश से ऋण के रूप में लिये जाँय, देश को युद्धपूर्व की स्थिति से आगे बढ़ाने के लिए व्यय किये जाने की व्यवस्था है। बाद में विनियोग की रकम और बढ़ा दी गई थी। "इस विनियोग के फलस्वरूप योजना आयोग का अनुमान है कि राष्ट्रीय आय ९००० करोड़ रुपये से बढ़कर १०००० करोड़ रुपये पाँच वर्ष में हो जायेगी। आयोग का यह भी अनुमान है कि यदि १९५६–५७ से अतिरिक्त उत्पादन का ५० प्रतिशत प्रतिवर्ष

† The Five Year Plan, a Criticism by prof. P. A. Wadia & K. T. Merchant P. 11

× The Plannfng of Free Societies (1942) by F. Zweig P. 78

विनियोग होता रहे तो २७ वर्ष में प्रतिव्यक्ति आय दुगुनी हो जायेगी ।"‡

कमजोरियाँ

इस योजना में लोकायोजन का तौर तरीका नहीं है । बेकार या अर्द्धबेकार साधनों का हिसाब बहुत अधूरा लगाया गया है । भारत की सम्पूर्ण जनता के प्रत्येक नागरिक के लिए काम और रोजी की व्यवस्था कहीं नहीं सोची गई और न व्यवस्था में उसका कोई नतीजा निकाला गया है ।

यदि हम इस योजना को कुछ और गहराई से देखें तो इसकी कमजोरियाँ स्पष्ट हो जाती हैं । सन् १९४८ में भारत सरकार ने औद्योगिक नीति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया था । उसमें भारत में आर्थिक आयोजन करने के तीनों पहलुओं, सार्वजनिक क्षेत्र, व्यक्तिगत क्षेत्र, और विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में नीति स्पष्ट की गई है ।

"आगे कुछ समय तक तो राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में सरकार अपने वर्तमान कार्यक्रम को, जहाँ कहीं वह अब पहले ही से चालू है, विस्तृत करके ही अधिक योग दे सकती है, और दूसरे क्षेत्रों में उत्पादन की नई इकाइयों पर शक्ति लगाये। वर्तमान चालू इकाइयों को हाथ में लेना अधिक उपयुक्त नहीं रहेगा । इस बीच में वैयक्तिक उद्योग, उचित ढंग से निर्देशित तथा नियमित रहकर बहुत ही मूल्यवान कार्य कर सकते हैं ।*

इसके अनुसार सरकार अपने हाथ में तो कोई उत्पादन कार्य लेना ठीक नहीं समझती । रेलवे आदि जो दो चार काम हाथ में हैं उन्हीं में कुछ करती रहे । हाल ही में कुछ और काम हाथ में लिए हैं खाद उत्पादन आदि । परन्तु अधिकांश देश का उत्पादन वैयक्तिक हाथों में हीं छोड़ा गया है । फिर आयोजन क्या हुआ ? वैयक्तिक उद्योगों के ऊपर कोई उत्पादन की जिम्मेदारी नहीं डाली गई और कुछ निर्देशन भी किया जाय तो वह केवल निर्देशन रहेगा, आयोजन नहीं । निर्देशन को, निजी उद्योगपति अपनी मुनाफा आकाँक्षा में जरा भी वल डालते देखकर कैसे मान लेंगे ? निर्देशन में कानूनी ताकत होगी या नहीं ? यों तो निर्देशित अर्थव्यवस्था आज इंगलैंड और अमेरिका में भी है, परन्तु वह क्या हमारी समस्या हल कर सकेगी ? ये बहुत गम्भीर प्रश्न हैं ।

---

‡ Public Finance Its Theory and Working in India by R. N. Bhargava P. 207

* The First Five Year Plan, A Draft Outline, P. 24

विदेशी पूँजी को छूट

विदेशी पूँजी को तो और भी छूट दी गई है। इस सम्बन्ध में उक्त १९४८ वाले प्रस्ताव में निम्न तीन बातें प्रगट की गई हैं—

१– भारतीय तथा बिदेशी उद्योग धंधों में कोई अन्तर नहीं बरतना।

२– मुनाफों को बाहर भेजने तथा पूंजी को वापस ले जाने के लिए उचित सहूलियतें देना।

३– राष्ट्रीयकरण की अवस्था में उपयुक्त मुआवजा देना।¶

इस प्रकार विदेशी पूंजीपतियों को भारत के आर्थिक जीवन पर कब्जा करने की पूरी छूट दे दी गई है। देशी और विदेशी पूंजीपतियों के गुट को जब इतना खुला मैदान मिल गया तो फिर कोई भी योजना जो जन साधारण की आर्थिक दरिद्रता दूर करने के उद्देश्य से बनाई जाय, इस अवस्था में कैसे कोई नया परिवर्तन भलाई की ओर कर सकेगी? इस बात को ध्यान में रखना ही पड़ेगा कि मारशल योजना के जोर पर अमेरिका ने अन्य देशों के आर्थिकेतर क्षेत्रों में भी भारी हस्तक्षेप किया। तुर्की तो एक प्रकार से उसका गुलाम ही हो गया।

वैयक्तिक अर्थ व्यवस्था में गठनात्मक योजना के लिए तो स्थान हो ही नहीं सकता, कार्यात्मक योजना भी तब जरूरी समझी जाती है जब पूंजीवादी व्यवस्था में अड़चन पैदा हो जाय। उस समय संकट स्थिति के निवारण के लिए अमेरिका की न्यू-डील की भाँति एकाधिकारियों के महागुटों (Cartels) को तोड़ कर स्पर्धा की स्थिति लानी होती है। कुछ अनुपभोगी उत्पादन या पूँजी उत्पादन करके जनता के हाथ में क्रय–शक्ति दी जाती है और उपभोग्य उत्पादन बन्द करके या कम करके पूर्व उत्पादित घट्ट को उपभोग के लिए मार्गरत किया जाता है। ब्रिटेन में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने ऐसी ही व्यवस्था का निर्देश किया था। पर भारत में आज पूंजीवाद को बचाने की समस्या नहीं है। यहाँ जनसाधारण की दरिद्रता मिटाने का काम मुख्य है। यदि हमारी स्वतंत्रता का यह परिणाम नहीं होता तो वह निरर्थक है।

जन उत्साह कसौटी है

किसी भी आर्थिक योजना की सफलता के लिए, यदि उसका उद्देश्य जनसाधारण की बहबूदी है तो, यह आवश्यक है कि देश के हर व्यक्ति के दिल में योजना में सहयोग देने का उत्साह हो। जो योजना ऐसा उत्साह साधारण आदमी के दिल में

¶ P. A. Wadia & K. T. Merchant, A Criticisn of The Five Year Plan P. 65

नहीं उत्पन्न कर सकती वह स्पष्ट ही उसके हित की नहीं है। उसको यह एहसास और अनुभव होना चाहिए कि इसके कार्यान्वित होने से मेरी अवस्था वास्तव में सुधरेगी। लोकायोजन की पहचान ही यह है। श्रीनाग के अनुसार भी "कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती जब तक कि जिनके हित के लिए योजना है उनका वुद्धिमत्ता तथा उत्साहपूर्ण सहयोग प्राप्त न हो" और जनसाधारण की ओर से कैसा भी सहयोग उस समय तक नही मिलेगा जब तक कि उनको इस बात का विश्वास न हो जाय कि उस योजना से उन्हें लाभ होगा, इसलिए आयोजन को सफल बनाने के लिये यह अनिवार्य है कि उन्हीं मार्गों और तरीकों को अपनाया जाय जिनसे आयोजन के लाभ अनिवार्यतः जनसाधारण को मिलेंगे ही ×

भारतीय साम्यवादी नेता श्री रणदिवे इस योजना की आलोचना में लिखते हैं। कि "यह योजना हमारे आर्थिक जीवन पर साम्राज्यवादियों के फन्दे को और मजबूत करती है और भारतीय एकाधिकारियों की, जो इन साम्राज्यवादियों के साझेदार हैं, शक्ति को बढ़ाती है।" *

भारतीय प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के एक विचारक श्री अशोक मेहता का कथन है कि इस भारतीय योजना में सबसे अधिक बात हैं उसको कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त संस्थाओं का निर्माण। आवश्यक संस्थात्मक परिवर्तनों के बिना योजना पूरी नहीं हो सकती। वे कहते हैं 'अनिवार्य सहयोगी संस्थाएँ, जो देहाती अर्थ व्यवस्था के संपूर्ण क्षेत्रों में कार्य करें, विकास की संस्थात्मक आवश्यकता को पूरा कर देंगी।" †

रूस और चीन

सोवियतरूस के आर्थिक आयोजकों को कहीं विदेश से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी, उन्होंने आंतरिक साधनों से ही लोकायोजन किया। || रूस तो लोकायोजन के ही सहारे आजसुखी और शक्शािली है। चीन का अनुभव भी वैसा ही है। चीन में आर्थिक आयोजन के लिए तीन बातें की गईं।

१– चीन के उद्योग धन्धों और अर्थ व्यवस्था को साम्राज्यवादियों के पंजे से छुड़ा दिया गया। चीन की तटकर नीति और विदेशी व्यापार नीति ऐसे हथियार बन गये हैं कि उनसे सरकार चीन के उद्योगों की रक्षा कर सकती है।

२– जमींदारी को नष्ट करके कृषि सुधार कर दिया।

३– भारी पूंजीपतियों के बड़े उद्योग धंधे राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दिए गये।

× A study of Economic Plans for India by D. S, Nag. p. 143

* B. T, Ranadive, India's Five year plan, what it Offers p. 225

† Janta, 9th January, 1955, p. 6

|| बी. टी. रन्दिवे वही. पृष्ठ २३६.,

और इनके आधार पर वहाँ के नेताओं ने योजना का प्रथम उद्देश्य उद्योगी-करण घोषित कर दिया । ¶

भारत में लोकायोजन का प्रश्न

विरोध पक्ष

कुछ लोगों का विचार है कि भारत में लोकायोजन सम्भव नहीं है और यदि जबर्दस्ती करने का प्रयत्न भी किया जायगा तो हितकर नहीं होगा । वे लोग कई आपत्तियाँ उठाते हैं । एक तो यह कि भारत का व्यक्ति चीन या रूस के बजाय अधिक स्वतंत्र प्रकृति वाला है और वह किसी साँट, गूँथ की व्यवस्था में नहीं काम कर सकता ।

दूसरे—यदि यहाँ उद्योगीकरण लोकायोजन के फलस्वरूप हो जायगा तो बहुत बड़ी जनसंख्या बेकार हो जायगी ।

तीसरे—लोकायोजन के लिए आवश्यक इतनी भारी रकम पूंजी की कहाँ से आयेगी ।

चौथे—देश में विशेषज्ञों की भारी कमी है वह कैसे पूरी होगी ।

पाँचवें—हमारे देश में बेईमानी और घूसखोरी और आलस दैनिक जीवन के अंग हो गये हैं ये कैसे दूर होंगे ।

छठे—आवश्यक मशीनें आदि कहाँ से आवेंगी ।

विरोध का उत्तर

इन सबका संक्षेप में इस प्रकार उत्तर दिया जाता है ।

पहली आपत्ति उसी समय तक कोई उठा सकता है जब तक कि उसने चीन के लोकायोजन का भारतीय आँखों से अध्ययन न किया हो । यों लोकायोजन के सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के बाद भी चाहे रूस चीन की बातें हम मानें या न माने यह आपत्ति समाप्त हो जायगी । लोकायोजन में तो संगठन अवश्य होता है परन्तु दिली सहयोग के आधार पर । श्री अशोक मेहता अपने 'जनवादी समाजवाद' में बताते हैं कि "एक तीसरा तरीका है, जनता से सहयोग माँगना । उससे कहो कि आर्थिक विकास के लिए रक्त, पसीना और आँसुओं की आवश्यकता है किन्तु वह त्याग समझदारी और स्वतंत्रता से आयेगा ।" ×

दूसरी आपत्ति का उत्तर यहाँ स्थानाभाव के कारण उतनी अच्छी तरह नहीं दिया जा सकता । केवल यह कहा जा सकता है कि उद्योगीकरण के फलस्वरूप जो बेकारी और बढ़ेगी उसका सबसे सरल और बड़ा इलाज तो पहले ही मौजूद है । वह

¶ वही पृष्ठ, २४.

× Ashok Mehta—Democratic Socialism p. 125

यह कि मनुष्य की आवश्यकताएँ अनगिनत हैं और बढ़ती ही रहेंगी। बेकार हुए मनुष्य उनको पूरी करने में लगते हुए चले जायँगे।

पूंजी का प्रश्न

तीसरी आपत्ति है पूँजी के सम्बन्ध में। पूँजी किसलिए? बाहर से या अन्दर से उत्पादन के साधन खरीदने के लिए। उत्पादन के साधन हैं—श्रम, कच्चा माल, तथा औजार मशीनें। भारत में श्रम की कमी नहीं। जनसंख्या भरी पड़ी है। यदि ३६ करोड़ की आधी भी हम वयस्क और कार्य योग्य मानें तो १८ करोड़ श्रम करने वाले व्यक्ति देश में हैं। यदि औसत मजदूरी तीन रुपये रोज प्रति व्यक्ति भी गिनें और २) प्रति व्यक्ति खर्च का गिनें तो साल भर में १८ × ३०० करोड़ =५४०० करोड़ रुपये की पूँजी कम से कम तैयार हो जाती है। प्राकृतिक साधनों में कृषि भूमि अटूट है। झरने अटूट हैं। लोहा आदि खनिज बहुत हैं। पेड़ों पर लाख, अफीम अन्य रसायन के साधन बहुत हैं। लकड़ी बहुत है। चमड़ा बहुत काफी होता है। नदियाँ भरपूर हैं। इत्यादि। अब रही बात औजारों और मशीनों की। भारत की आज की औद्योगिक अवस्था में मशीन बनाने के साधनों की कमी नहीं है। केवल विशेषज्ञ कुछ कम हैं। बाहर से विशेषज्ञ बुला कर देशी विशेषज्ञ तैयार किये जा सकते हैं। अथवा न आवें तो अपने आप गलती कर कर के विशेषज्ञ बन सकते हैं। फिर पूँजी का प्रश्न ही कैसा। परन्तु यह विस्तृत उत्तर नहीं है। इसके लिये अलग ही लिखना आवश्यक है।

चौथे और छठवे प्रश्नों का उत्त र ऊपर सूक्ष्म में आगया है।

पाँचवे प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि बेईमानी और घूसखोरी लोकायोजन की अवस्था में नहीं रहते या नहीं के बराबर रह जाते हैं। उन दोनों की जड़ है उत्पादन साधनों पर वैयक्तिक कब्जा। इसके दूर होते ही इन खराबियों की जड़ कट जाती है।

पक्ष समर्थन

इस प्रकार लोकायोजन भारत में सम्भव है और वही व्यवहारिक और लाभप्रद होगा।

श्री रणदिवे का विश्वास है कि "भारत आसानी से पुनरुत्थान और पुर्ननिर्माण के लिये एक वृहद आयोजन कर सकता है। उसके पास अथाह प्राकृतिक धन है जिसके जन हित के लिये उपयोग को पुरानी और समाज विरोधी व्यवस्थाओं ने रोक रक्खा है। यह एक आगे बढ़ा हुआ उपनिवेश है, इसके उद्योग दूसरे उपनिवेशों तथा अर्धउपनिवेशों से अधिक विकसित हैं। भारत अपने झण्डे पर बेकारी और गति-

रोध का विनास काढ़ सकता है और कृषि तथा उद्योगों में तेजी से उन्नति निश्चित तौर पर ला सकता है, यदि वह सामाजिक प्रगति के मार्ग में से सब रोड़ों को हटा दे तथा जो धन और साधन इसके पास हैं उनको उचित उपयोग में लगा दे।" ‡

इस सम्बन्ध में प्लानिंग ऐडवाइजरी बोर्ड के मंत्री के. टी. शाह ने सन् १९४६ में उस बोर्ड की रिपोर्ट में अपनी असहमति प्रगट करते हुए भारत की वर्तमान स्थिति में लोकायोजन के पक्ष को संक्षेप में निम्न प्रकार प्रगट किया था।

१– स्वामित्व तथा व्यवस्था के राष्ट्रीयकरण की अवस्था में उद्योगों के चलाने में अधिक अच्छा संयोजन होगा, और अधिक मितव्ययता होगी।

२– सम्पूर्ण उद्योग धन्धों को देश भर में इस प्रकार बाँट देने और फैला देने का काम कि स्थानीय श्रम का पूर्णातिपूर्ण उपयोग हो जाय और प्रत्येक क्षेत्र के भौतिक साधनों का पूर्णातिपूर्ण लाभ हो सके, बहुत अधिक आसान और बहुत अधिक वास्तविक होगा।

३– इस प्रकार राष्ट्रीय कृत कारखानों और उद्योगों से प्राप्त मुनाफा अथवा अतिरिक्त आय,लोक कोष को प्राप्त हो सकेगी, और उससे उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वित्तीय साधन मिल सकेंगे, जो कि केवल करों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकते।

४– राष्ट्रीय कृत उद्योगों, सेवाओं, अथवा उपयोगिताओं का संचालन मुख्यत: सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में सहायक होने की दृष्टि से होगा, न कि मालिक के लिये मुनाफा कमाने के लियें जैसा कि निजी उद्योगों में होता है।

५– केवल समाजीकृत उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत ही सभी वयस्क श्रमिकों को, प्रत्येक की शिक्षा और सम्मान के अनुसार काम मिल सकेगा। *

भारत में लोकायोजन

भारत में लगभग ४० करोड़ मनुष्य हैं। उन सब को, हर एक को, जीवन की सभी आवश्यक सामग्रियाँ, स्वस्थ तथा सुखी जीवन के लिये, प्राप्त होती रहनी चाहियें और जीवन का आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तर उँचा होता जाना चाहिये। यदि हम आज के द्रव्य मूल्यों के आधार पर इसका अन्दाज लगावें तो कम से कम ५००) पाँच सौ रुपये प्रति कुटुम्ब की मासिक आय होनी चाहिये जिसमें ३ बच्चे और माँ बाप हों। परन्तु इस समय भारत की राष्ट्रीय आय लगभग १०००० करोड़ रुपये समझी जाती है। इस प्रकार प्रतिव्यक्ति प्रतिमास लगभग २१) इक्कीस रुपये भाग में आते हैं। ५ के कुटुम्ब की आय हुई केवल १०५) प्रतिमास। यदि राष्ट्रीय आय का

‡ India's Five Year Plan, What it Offers by B. T. Randive p. 249

* श्री नाग द्वारा संक्षिप्त, पृष्ठ १४७

बराबर वितरण हो जाय तो उसे केवल इस आधार भूत स्तर के लिये भी पाँच गुनी और बढ़ाना होगा। देश की उत्पादन क्षमता लगातार बढ़ाते जाने से ही यह समस्या हल हो सकेगी।

हम अन्यत्र कह चुके हैं कि लोकायोजन ही एक ऐसा तरीका है जो देश की प्राकृतिक सामग्री का अधिकतम उपयोग करने के साधन दे सकता है। सम्पूर्ण जनता की उत्पादन क्षमता को बढ़ाता जा सकता है और इस प्रकार सम्पूर्ण जनता की बढ़ती हुई आवश्यकताओं, समृद्धि उन्मुख सांस्कृतिक वृत्तियों के लिये सामग्री और साधन एक के बाद एक नया देता चला जा सकता है। हमें अन्त में इसीलिये, गम्भीर विचार के बाद, लोकायोजन पर आना ही पड़ेगा।

२३

लोकवित्त के चिन्तन का इतिहास

लोकवित्त की विशेषता एक यह है कि वह पहले जनता के हाथों से निकल कर एक जगह एकत्र होता है और इसके बाद व्यय होता है। एकत्रीकरण और व्यय के काम कौन करता है ? यह एकत्रीकरण बल प्रयोग के आधार पर होता है अथवा जनता स्वयम् सानन्द धन देती है ? इसका व्यय एक जालिम अथवा भले एक व्यक्ति द्वारा अपने निजी स्वार्थ के लिये होता है अथवा उसमें जनता के भी कुछ स्वार्थ सम्मिलित कर लिये जाते हैं ? ये प्रश्न लोकवित्त के विकास की कड़ियाँ जोड़ने में सहायक होते हैं।

जनता के सम्मिलित आय व्यय का प्रश्न ही इस बात को पूर्वापेक्षित करता है कि एक कुटुम्ब से अधिक एक जगह रहते हों और उनकी सम्मिलित समस्याएँ उत्पन्न हो चुकी हों। मनुष्य जाति का कोई भी साहित्य प्रादुर्भूत हुआ उसके पहले ही वह ऐसी अवस्था में आ चुकी थी जब कि वह छिट फुट एकाकी रहने के बजाय समाज बनाकर रहना अधिक आवश्यक और उपयुक्त समझती थी, सम्मिलित उत्पादन और सम्मिलित उपभोग उसका सर्व प्रथम सामाजिक स्तर था, समाज का विकास इतना नहीं हुआ था कि वैयक्तिक उत्पादन सामाजिक उत्पादन से भिन्न हो गया हो। व्यक्ति अलग अलग रहकर कुछ भी उत्पादन करने की अवस्था में नहीं थे, औजार इतने कारगर न थे, कृषि विकसित हुई नहीं थी। समाज भर की सम्पूर्ण आर्थिक उत्पादन व्यवस्था एक ही थी। अतः लोकवित्त का रूप सरकारी वित्त नहीं हो सकता था। समाज भर की वित्त व्यवस्था एक ही थी, सरकार का, शासक का, विकास अभी होने ही लगा था।

परन्तु प्राचीन से प्राचीन साहित्य के उदय तक आते आते राजा का विकास हो चुका मिलता है।

प्राचीन भारत में राजस्व

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने 'राजा' नाम की संस्था की छान बीन की है। उन्होंने बताया है कि ऋग्वेद में यह जिक्र है। अभिषेक के द्वारा राजा पर एक जवाब-

देही डाली जाती थी। उस जवाबदेही को निभाने के लिए उसे प्रजा से 'बलि' या भाग (कर) लेने का अधिकार होगा, (ऋग्वेद १०, १७३, ६) ●। वह क्या जवाब-देही थी जिसके निबाहने के लिए राजा को 'बलि' प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता था, और अधिकार देने वाला कौन था, ये बातें राज्याभिषेक की रस्म के अध्ययन से कुछ अंश में स्पष्ट होंगी। हम जयचंद्रजी की 'रूपरेखा' से ही एक अंश उद्धृत करते हैं —

राज्य के मुख्य अधिकारी—पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी, आदि— **राजानों राजकृतः** (राजा बनाने वाले राजा) कहलाते थे। वे सभी 'राजा' थे, और राजा उनमें से एक और मुख्य था। वे **राजकृतः**—राजा के कर्त्ता धर्ता— तथा **सूत, ग्रामणी, रथकार, कर्मार** आदि अभिषेक के समय इकट्ठे होते, और राजा को पलाश वृक्ष की एक डाल, जो **पर्ण** और **मणि** कहलाती, देते थे। (अथर्व ३,५) वह 'मणि' ही राज्य की थाती का सांकेतिक चिन्ह थी।

बाद के काल में इसी 'मणि' या रत्न को देने वाले **राजकृतः रत्नी** कहलाते। राजसूय यज्ञ रच कर प्रस्तावित राजा, पहले प्रजा के प्रतिनिधि रूप इन रत्नियों की पूजा करता। तब वह पृथ्वी माता से अनुमति माँगता। उसके बाद पवित्र जलों का संग्रह किया जाता; गंगा, सरस्वती आदि निर्दिष्ट नदियों के जलों के अतिरिक्त जहाँ का वह राजा हो उस भूमि के एक क्षुद्र जलाशय का पानी लेने से वह संग्रह पूरा होता। उन मिश्रित जलों से राजा का अभिषेचन किया जाता। उसके बाद उसे किरीट आदि पहनाया जाता, और तब उसका अभिषेक होने की **आवित्** या घोषणा की जाती। तब वह प्रतिज्ञा करता कि यदि मैं प्रजा का द्रोह करूँ, तो मैं अपने जीवन, अपने सुकृत (पुण्य कर्म के फल) अपनी सन्तान, सबसे बंचित किया जाऊँ। यह शपथ लेने के बाद वह लकड़ी की आसन्दी (चौकी) पर, जिस पर बाघ की खाल बिछी रहती, चढ़ता, और चढ़ते समय पुरोहित उस पर फिर पानी का अभिषेचन करते (छिड़कते) हुए कहता— हे देवताओ, इसे, अमुक माँ बाप के बेटे, और अमुक विशः के राजा को बड़े क्षत्र (राजशक्ति) के लिए **ज्यैष्ठ्य** (बड़प्पन) के लिए **जन राज्य** के लिए—— शत्रुहीन करो (यजु. ९, ४०)।

वह चौकी पर चढ़ जाता तो पुरोहित उसे कहता—यह राज्य तुम्हें कृषि के लिए, क्षेम के लिए, समृद्धि के लिए, पुष्टि के लिए दिया गया; तुम इसके संचालक (यन्ता) नियामक (यमन) और ध्रुव धारण कर्त्ता हो (यजु. ९, २२)। इन वाक्यों से राज्य की थाती सौंपी जाती। बाद कुछ फुटकर रस्में होतीं जिनमें से एक यह थी कि राजा की पीठ पर दण्ड से हलकी हलकी चोट की जाती, यह बतलाने को कि

● भारतीय इतिहास की रूपरेखा— जिल्द १ पृष्ठ २३८,

वह दण्ड से ऊपर नहीं है। वह पृथ्वी माता को नमस्कार करता। और सब उसे नमस्कार करते। उसे तलवार दी जाती और वह राजकृतों और ग्रामणियों के हाथ उसे बारी बारी देकर उनका सहयोग माँगता। *

ऊपर के उद्धरण से लोकवित्त के सम्बन्ध में दो बातों की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। एक तो जबाबदेही जिसे पूरी करने के लिए 'कर' वसूल करने का अधिकार राजा को दिया गया, इस जबाबदेही के रूप ऊपर निम्न आये हैं--

१– प्रजा का द्रोह न करना

२– कृषि

३– क्षेम

४– समृद्धि

५– पुष्टि

इस प्रकार जो 'कर' प्रजा से वसूल हो वह उक्त जबाबदेहियों की पूर्ति में व्यय किया जाय। आज के लोकवित्त को दृष्टि में रखकर देखें तो इसका अर्थ हुआ कि व्यय की मदें बताई गई उत्पादन, प्रतिरक्षा, और कल्याण। पुष्टि का अर्थ राज्य विस्तार भी लिया जा सकता है। 'शत्रुहीन करो' भी प्रतिरक्षा की ओर अर्थात् सैनिक व्यय की ओर इंगित करता है। क्षेम का इंगित पुलिस की ओर भी मालूम पड़ता है।

दूसरी बात जिसकी ओर ध्यान आकृष्ट होता है वह है कि राजा को राज्य शक्ति देने वाले, गद्दीनशीन करने वाले उसके बड़े अधिकारी ही हैं। प्रजा की ओर से निर्वाचन, 'प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष' जैसी कोई बात नहीं है। अतः राजा इन राजकृतः के प्रति ही उत्तरदायी है। उन्हीं की समृद्धि, उन्हीं की रक्षा, आदि उसके लिए मुख्य है। इसलिए अधिकांश व्यय उन्हीं के वेतनों, आनन्द साधनों में होगा।

तीसरी बात जो और भी सामने आती है वह है राजा का एकछत्रपन। 'संचालक, नियामक ध्रुव धारण कर्ता' सब कुछ वह एक ही व्यक्ति राजा ही है। अतः जो कर वसूल होता है वह राजा का 'स्व' है। 'राजस्व' है।

वैदिक काल तक अभी 'कर' के संबंध में कोई निश्चित नियम विकसित नहीं हो पाये हैं। बाद में मनुस्मृति के निर्माण के समय 'राजा' और 'राजस्व' खूब जम चुके थे। राजस्व का अधिकार भी निश्चित हो रहा था। मनु ने कृषि की उपज का 'षष्ठ' भाग तक लेने का अधिकार राजा का बताया है। "सोना, चाँदी पशु एवं रत्न के व्यवसाइयों से लाभ का पचासवाँ भाग और भूमि की उपज तथा जोतने, बोने का व्यय देखकर उत्पत्ति का षष्ठांश, अष्टभांश, द्वादशांश तक राजा ले सकता है। वृक्ष,

* 'रूपरेखा'—पृष्ठ २३६

मांस, घृत, मधु, ओषधि, गन्ध, द्रव्य, गोंद, फल, मूल और पुष्प इन द्रव्यों के क्रय-विक्रय से लाभ का पष्ठांश राजा को लेना चाहिए' †

'बतख के पर भी अधिक से अधिक नोंच लिए जाँय और वह चिल्लाये भी कम से कम' कर लगाने के इस सिद्धान्त की तरह का उपदेश मनु ने भी दिया है। 'जैसे जोंक रुधिर पीती है, जैसे बछड़ा माता का दूध पीता है और जैसे भौंरा पुष्प से मधु-पान करता है उसी प्रकार प्रजावर्ग से थोड़ा, थोड़ा कर वसूले (मनु ७।१२९)।

कर लेने की मनाई भी है। 'अर्थाभाव के कारण राजा पर संकट आ जाय फिर भी वह वैदिक ब्राह्मण से कर न ले, बल्कि उस श्रोत्रिय के लिये ऐसा प्रबंध रक्खे जिससे उसे कभी अन्न कष्ट न हो' (मनु. ७।१३३)। कर के रूप में श्रमदान (बेगार) लेने का अधिकार भी मनु देते हैं। "कारीगर, शिल्पी, दास दासी अथवा एक मात्र शारीरिक कर्म करके जीवन यापन करने वालों से राजा महीने में एक दिन बेगार ले सकता है" (मनु. ७।१३८)। राजस्व के लिए 'कर' के अतिरिक्त लूट और रण विजय प्राप्ति भी साधन गिनाये गये हैं। लूट और विजय द्वारा प्राप्त धन योद्धाओं में बाँटने का उल्लेख है।

मनुस्मृति कर्ता के समय जो 'राजस्व' व्यवस्था थी उसमें धीरे धीरे विकास होता रहा। मौर्य कालीन राजस्व का अध्ययन उसके बाद की स्थिति पर प्रकाश डालता है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में कर-वसूली संबंधी उपदेश दिया है कि 'राज्य कर पके हुए फल की तरह समय पर ग्रहण किया जाय, कच्चे फल की तरह असन्तोष बढ़ाने वाले राज्य कर को प्राप्त करने की कोशिश न की जाय" × यह उस समय की कर कसौटी है। कसौटियाँ भी विकसित हो रहीं थीं।

राजस्व की आय मद की विचारधारा में भी विकास अच्छा हुआ। कौटिल्य ने 'आय' का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया है। पहला वर्गीकरण इस प्रकार है।

१– दुर्ग

इसमें निम्न प्रकार को आयें सम्मिलित थीं—

शुल्क (व्यक्तिकर, चुंगी, और तटकर) दण्ड, पौताव (नाप-तौल), नागरिका (कोतवाल) टकसालाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष (प्रवेश अनुमति शुल्क), सुरा शुल्क (आबकारी) सून (पशुबध शुल्क) सूत्र (सूत) तैल, घृत, क्षार, सुवर्णक (सुनार), पण्य संस्था (मालगोदाम), वेश्या, वास्तुक (गृह, स्थानकर), कारु शिल्पिगण, देवताध्यक्ष, (बाहिरका) विदेशी व्यक्ति।

---

† मनुस्मृति, अध्याय सप्तम, श्लोक १३०,१३१

× कौटिल्य का अर्थशास्त्र–अधिकरण ५, प्रकरण ९०, कोश संग्रह

२—राष्ट्र

इस वर्ग में हैं— सीता (राजाकी निजी भूमि की आय), भाग (मालगुजारी) बलि (एक धार्मिक कर), कर, वणिक, नदीपाल, नावक (नाव. पोत, उतराई आदि) पत्तन (नगर). विवित (चरागाह), वर्तनी (सड़क कर) रज्जु, चोर रज्जु।

३—खनि

सुवर्ण, रजत, हीरा, मणि, मुक्ता, प्र वाल, शंख, लौह, लवण, भूमि प्रस्तर, रसायन

४—सेतु

पुष्पवाटिका, फलोद्यान, तरकारी के बगीचे, सिंची हुई भूमि, बीज के स्थान में मूल बोनें से उत्पन्न होनेवाली कृषि की भूमि, (गन्ना)

५—वन

शिकार के जंगल, लकड़ी के जंगल, हाथी जंगल

६—व्रज

गाय, भैंस, बकरी भेड़, गधे, ऊँट, घोड़े, खच्चर

७—वणिक पथ

स्थल पथ, वारि पथ

दूसरा वर्गीकरण निम्नांकित है—

क— मूल

ख— भाग

ग— व्याजि

घ— परिघा (?)

ङ— क्लृप्त (निश्चित कर)

च— रुपिका

छ— अत्याय

तीसरा वर्गीकरण इस प्रकार है—

१— वर्तमान (दैनिक आय)

२— पर्युषित (पिछला)

क— परम सम्वत्सरिका (गत वर्ष का बाकी)

ख— पर प्रचार (दूसरों के हाथ में)

ग— संक्रान्ता (विनिमय के मार्ग में)

३— अन्यजात (अनिश्चित)

क— नष्ट प्रस्मृतम् (अन्य द्वारा खोई हुई वस्तु)

ख— अयुक्त दण्ड (सरकारी नौकरों पर दण्ड)
ग— पार्श्वम् (अतिरिक्त लाभ कर)
घ— परिहीणिकम् (क्षतिपूर्ति)
ङ— औपायनिकम् (भेंट)
च— दामार्गतस्वम्
छ— निधि

इन वर्गीकरणों को यदि हम आज के वर्गीकरण की तुलना में रक्खें तो मौर्य-कालीन राजस्व और अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगा।

आधुनिक राजस्व	मौर्यकालीन राजस्व
क— कर–आय	क— कर–आय
(१) प्रत्यक्ष	(१) प्रत्यक्ष
मालगुजारी	मालगुज़ारी
आयकर	विभिन्नकर, जैसे आयकर
प्रान्तीय गृहकर	पिंडकर आदि
देशी राज्यों के नजराने	
(२) परोक्ष	(२) परोक्ष
अफीम	नमक
नमक	उत्पादन कर
उत्पादन कर	तटकर, पिण्डकर, चुंगी
स्टाम्प	
रजिस्ट्री	
तटकर	
ख— अ-कर आय	ख— अ-कर आय
(३) सरकारी व्यापार	(३) सरकारी व्यापार
रेल	व्यापारी जलपोत
सिंचाई	सिंचाई
अन्य लोककार्य	खानें
ड़ाक-तार	कारखाने
टकसाल	व्यापार
जंगलात	टकसाल
छपाई आदि	जंगलात
वैज्ञानिक और विविध	राज की निजी भूमि

(४) अन्य जरिये
व्याज
आय
विनिमय
उच्च वार्षिकी
विविध

(४) अन्य आय
छिपे खजाने
क्षति पूर्ति
बेमालिक सम्पत्ति
विविध *

उपरोक्त तुलना आज की अनेक बातों के साथ मौर्यकालीन राजस्व का मेल बैठा देती है। इसी प्रकार व्यय की मदों की भी तुलना की जा सकती है। परन्तु स्थानाभाव के कारण हम उसे यहाँ छोड़ रहे हैं।

आज के लोकवित्त की तुलना में, अनेक बातों में वैदिक कालीन राजस्व से आगे बढ़ा हुआ होने पर भी मौर्य कालीन राजस्व बहुत ही अविकसित अवस्था में प्रतीत होता है। उस समय राजस्व बहुत कुछ वैयक्तिक वित्त की अवस्था में था। आज पहले सरकारें व्यय की आवश्यकता देखती हैं फिर आय के उपाय करती हैं। परन्तु उन दिनों बचत खजाने में हमेशा ही रहनी चाहिए, यही नियम था। यही व्यय की और आय की कसौटी थी। आय के बाद, उसी के आधार पर व्यय का नियंत्रण किया जाता था। अथवा छलछिद्र द्वारा आय की जाती थी ● बजट की मदों के उलट पुलट से जनता की स्थिति सुधारी या बिगाड़ी जा सकती है इस ओर अधिक विकास सम्भव भी नहीं था, क्योंकि उत्पादन और उपभोग के स्तर बहुत निम्न और संकुचित थे। फिर भी कर जिन्स में ले लिया जाता था। करदेय जब दाता के घर में तैयार होकर आ गया हो तब ले लिया जाता था। परोक्षकर बहुत कम थे। अधिकांश प्रत्यक्ष ही थे। विक्रय कर तो था ही नहीं! लोकऋण जैसी कोई वस्तु विचार में नहीं आई थी। हाँ राजा चुपचाप साहूकारों से ऋण ले लेते थे। पर वह जनता का उत्तरदायित्व नहीं था। आयोजन का तो प्रश्न ही नहीं था क्योंकि लोक समृद्धि सामन्ती अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत जितनी सम्भव थी उसी को आदर्श माना जाता था। वह भी केवल आदर्श मात्र था। राजस्व का व्यय जनता की समृद्धि की ओर करने की कोई मद नहीं के बराबर थी।

इसके बाद शुक्राचार्य ने भी जिनका समय डा. श्यामलाल पांडेय द्वारा गुप्त काल निर्धारित किया गया है, ✱ राजस्व सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अपना मत प्रगट

---

* Maurayan Public Finance— M. H. Gopal

● कौटिल्य अर्थशास्त्र–प्राणनाथ विद्यालंकार पृष्ठ २२५

✱ शुक्र की राजनीति–डा. श्यामलाल पाण्डेय

किया है। आपने कोष संग्रह के तीन उद्देश्य बतलाये हैं।

१—सेना रखना

२—प्रजा संरक्षण

३—यज्ञ

सेना रखना और प्रजा संरक्षण दो अलग उद्देश्य बताये गये हैं इसलिए सेना रखने का उद्देश्य केवल प्रतिरक्षा ही नहीं राज्यविस्तार और पुष्टि भी होना चाहिए।

शुक्राचार्य कोष संग्रह के निम्न साधन मानते हैं—

१—भाग (भूमिकर तथा अन्य अंशात्मक कर)

२—दण्ड (जुर्माने)

३— आकर-कर (खनिजों पर कर)

४— शुल्क (क्रय—विक्रय लाभ कर)

५— उपायन (भेंट)

६— भाटक (भाड़ा कर) सार्थवाहों आदि से।

अन्य साधनों में शुक्राचार्य पाँच और तरीके बतलाते हैं— इसमें वृहस्पति आचार्य भी इनका समर्थन करते हैं।

क— विजय द्वारा प्राप्त धन

ख— अपात्र के धन हरण द्वारा

ग— धनियों से ऋण प्राप्ति द्वारा

घ— व्यापारियों का आधा धन सुरक्षित करके

ङ— आपत्कालीन कर वृद्धि। तीर्थकर, देवकर,

शुक्राचार्य के अन्य पाँच साधनों में चौथा सबसे अनोखा मालूम होता है। राजा व्यापारियों से कहता तुम्हारे व्यापार में यदि हानि हुई तो तुम्हारा सारा धन नष्ट हो सकता है। इसलिए तुम आधा धन राजकोष में जमा कर दो। कोष में वह सुरक्षित रहेगा आवश्यकता हो तब ले लेना। धन संग्रह का शुक्राचार्य ने यह भला तरीका निकाला। ये प्रमाण नहीं मिले कि यह तरीका वास्तव में किस हद तक चला।

कर लगाने के कुछ सिद्धान्त भी उन्होंने प्रतिपादित किए हैं।

१— मूलधन पर कर नहीं लगाना चाहिए, केवल लाभ पर ही कर लगाना चाहिये। इससे व्यापार में वृद्धि होती है। भविष्य में राजकोष को भी लाभ होगा,

२— उतना ही कर लगाना चाहिये जिससे प्रजा को लेशमात्र भी क्लेश न होने पाये।

इस संबंध में शुक्रनीति में एक उदाहरण दिया गया है। राजा को माली की भांति अपने भाग (राज्यकर) को ग्रहण करना चाहिये, कोयला बनाने वाले की तरह

नहीं। माली वृक्ष को यत्नपूर्वक परिपुष्ट करके जिस प्रकार उसके फूलों और फलों को यत्नपूर्वक चुनता है इसी प्रकार कर–ग्राहक(भागहार) को होना चाहिए।

३–तीसरा सिद्धान्त भी शुक्राचार्य ने बताया है कि राजा प्रजा के रक्षण के अधिकार से कर ग्रहण करने का भागी होता है।

दुःख है कि शुक्राचार्य की अर्थनीति का यह अध्ययन अधूरा है और उनके काल निर्धारण में भी संदेह है।

हर्षवर्धन के समय की राजस्व व्यवस्था का कुछ वर्णन भूमि के दान पत्रों के के सहारे मिलता है।

आय के साधारण साधनों में थे—

१– उद्रंग (एक भूमिकर)
२– उपरिकर (अतिरिक्त कर)
३– वात (?)
४– भूत (?)
५– धान्य
६– हिरण्य (सोना)
७– आदेय

इनके अतिरिक्त दूध, फल, चरागाह तथा खनिजों पर कर था। अनाज की मण्डियों में नाप तौल के आधार पर बिकी वस्तुओं पर निर्धारित 'कर' लिया जाता था। घाटों पर शौल्किक नाम के अफसर शुल्क लेते थे। अपराधों पर जुर्माने लिए जाते थे। विष्ट (बेगार) भी कर का एक रूप था जो श्रमिकों से लिया जाता था।

व्यय का कुछ जिक्र चीनी यात्री ह्वेन सांग के लेखों में मिलता है—

"राजकीय भूमि के चार भाग थे। एक भाग राज्य की ओर से की जाने वाली पूजा-उपासना तथा सरकारी कामों में खर्च होता था। दूसरे भाग से बड़े-बड़े सार्व-जनिक कर्मचारियों की धन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी। तीसरा हिस्सा प्रकाण्ड विद्वानों को पुरस्कार देने के निमित्त था। चौथा भाग विभिन्न सम्प्र-दायों को दान देकर पुण्यार्जन के लिए था। ×

व्यय के उपरोक्त चारों विभागों में कहीं भी जन समृद्धि से संबंधित कोई मद नहीं है।

इस प्रकार प्राचीन भारत में 'लोकवित्त' विकास की अवस्था में

× हर्ष वर्द्धन–गौरीशंकर चटर्जी–पृष्ठ १७८–९

था। राजस्व ही अभी उसका रूप था। जनता की आवाज अभी उसमें थी ही नहीं। अतः उसकी समृद्धि के लिए व्यय का प्रश्न भी नहीं के बराबर था। बजट जैसी कोई वस्तु न थी, जब लोक सभा जैसी कोई संस्था ही नहीं थी तो बजट वार्षिक अथवा अधिक काल के लिए पास कराने का प्रश्न ही नहीं था। हाँ सामन्ती व्यवस्था थी, राजा सामन्तों की राय पर चलता था वही उसके मंत्री सेनापति, कोषाध्यक्ष, आदि सब थे।

मुस्लिम राजस्व

अब हम मुसलमानी राजस्व की ओर दृष्टि डालेंगे। मुसलिम सिद्धान्तों के अनुसार सरकारी आय के दो वर्ग किए जाते हैं—

१— धार्मिक, यह कर मुसलमान प्रजा से लिया जाता है और इनको 'ज़क़ात' कर कहते हैं।

२—जागतिक, इस वर्ग के कर गैर मुसलिमों से लिए जाते हैं। इनके तीन मुख्य वर्ग हैं।

क— जजिया

ख— ख़राज

ग— पंचमांश—(युद्ध की लूट, खानों और छिपे खजानों पर)

मुसलिम विचारकों में तीन विचार धाराएँ इस सम्बन्ध में हैं। हनीफी, शफीकी, और मलिकी। इन तीनों धाराओं में कुछ बातों में थोड़ा थोड़ा अन्तर है। वह भी धार्मिक करों, 'जकात' आदि के व्यय के विषय में, इमाम के अधिकारों के संबंध में, अन्यथा वे सभी लगभग एकही मत के हैं।

ज़कात कर में निम्न सम्मिलित हैं—

क— सवाइम (पशु कर)

ख— चाँदी, सोना और व्यापारी माल पर कर

ग़— उत्पादन कर

सिद्धान्ततः तो जकात उसी जायदाद पर लग सकती है जो उत्पादक हो। परन्तु इसमें ढ़िलाई बहुत है। जानवर चरागाहों में चरने के कारण ही उत्पादक मान लिये जाते हैं। सोना, चाँदी तो हमेशा ही उत्पादक समझे जाते हैं। कृषि पर हमेशा जकात लगती है।

ज़कात के सम्बन्ध में एक और बात गुण्य है कि वह हमेशा वस्तु के भौतिक अस्तित्व (आईन) पर लगती है न कि उसके व्यापारी मूल्य पर। इसके विरुद्ध जिन वस्तुओं (उरूद) पर जकात भौतिक अस्तित्व के कारण नहीं लग सकती उनपर उनके

व्यापारी मूल्य पर लगा दी जाती है। इस प्रकार जकात एक सामान्य जायदाद कर हो जाता है। उपभोग की कुछ वस्तुएँ और निसाब (एक निम्नतम स्तर की जायदाद) इस कर से बरी कर दिये जाते हैं।

जकात की वसूली में एक और कठिनाई होती है। प्रत्यक्ष जायदाद, जैसे जानवर और कृषि उत्पादन, पर जकात सरकार वसूल करती है। परन्तु परोक्ष जायदाद जैसे सोना, चाँदी, तथा व्यापारी वस्तुओं की जकात को सरकार नहीं ले सकती, उसे मालिक स्वयं, स्वेच्छा से गरीबों और मुश्तहकों को दे देता है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि भौतिक जायदाद वालों पर ही जकात का अधिकांश भार पड़ता था। परोक्ष ज़कात पर चुंगी जरूर सरकार लेती थी।

जागतिक कर का पंचमांश कर जो खानों, और छिपे खजानों से लिया जाता था, वह इस सिद्धान्त पर है कि उनके मालिक तो उनके बताने वाले हैं। अतः वे युद्ध लूट के समान ही हैं। क्योंकि बताने के पूर्व वे गैर मुसलिमों के ही थे।

ज़ज़िया गैर-मुसलियों से ही लिया जाता था। उनको नीचा दिखाने, उनकी हिफाजत के लिये और सैनिक सेवा के बदले में। केवल पुरुषों पर ही यह कर था। उसकी दर भी करदाता की हैसियत के हिसाब से लगा दी जाती थी।

'खराज' तो भूमि कर था, यह मुसलिमों पर भी लगता था। इस कर की दर खलीफा उमर द्वारा निश्चित दर से बढ़ाई नहीं जाती। जहाँ उमर साहब द्वारा मार्ग दर्शन नहीं हुआ वहां कर-योग्यता के आधार पर दर तय कर दी जाती थी। परन्तु अधिक से अधिक, उपज का आधा भाग लिया जा सकता था। हनीफी विचारक यह अकसर कहा करते थे कि 'आधा ऊध विल्कुल न्याय का निचोड़ है"

व्यय की मद के दो भाग कर सकते हैं।

१— ज़कात का जो भाग परोक्ष पदार्थो के मालिक स्वयं मुश्तहकों को देते हैं।

२— इमाम के जरिये आय का व्यय

क— ज़कात जो सरकार वसूल करे।

ख— पंचमांश।

ग— खराज, और ज़ज़िया।

यह सब आय 'फाए' आय कहलाती है और इमाम उसे सरकार के सभी कामों के लिये व्यय करता है जैसे अफसरों, और सैनिकों के वेतन, सड़कें बनाना और मरम्मत आदि, गरीब मुसलिमों की मदद।×

मुसलिम शासकों की राजस्व व्यवस्था सभी देशों में लगभग इन्हीं आधारों पर

× Mohammedan Theories of Finance 1916.
by Nicolas P. Aghnides. (Columbia Uni.)

चलती थी । हाँ जब नई समस्याएँ सरकारों को आयव्यय में उत्पन्न होती थीं तो उनको नया विचार करना पड़ता था, उदाहरणार्थ भारत में अलाउद्दीन खिलजी के राजस्वा प्रबन्ध । उसने मुसलिम सिद्धान्तों में दो मुख्य कार्य किये । एक तो इमाम के राजस्व धिकार कम किये । अर्थात् राजकीय आय को बहुत हद तक जागतिक (Secular) रूप दिया । दूसरे उसने अपनी सेना को महान विजयी बनाने के लिये आवश्यक सामग्री प्राप्त करने का राजस्वीय तरीका निकाला । उसने सेना की हर आवश्यक वस्तु के भाव सस्ते में सस्ते निश्चित कर दिये । यह एक प्रकार का परोक्ष कर था । और आज के करों से भी भारी । इस परोक्ष कर की सूझ के लिये अलाउद्दीन खिलजी की दाद देनी पड़ेगी ।

भारत में राजस्व संबंधी एक और महत्वपूर्ण विचारक थे राजा टोडर मल । उन्होंने सामन्त शाही की कर प्रणाली में एक नया कदम उठाया । सामन्त शाही में मालगुजारी बहुधा सामन्तों के जरिये खिराज के रूप में शाही खजाने में आती थी । हाँ बादशाह के निजी क्षेत्र की सीधी आती थी । परन्तु मालगुजारी का रूप एक साधारण और सामान्य था । टोडरमल ने जमीन को लगभग आठ श्रेणियों में विभाजित किया, उपज, सिंचाई, आदि की दृष्टि से । और प्रत्येक श्रेणी पर उसी दृष्टि से मालगुजारी निश्चित की । अर्थात् कर योग्यता की कसोटी और न्याय्य होने की कसौटी का उस मध्यकालीन दृष्टि से काफी अच्छा उपयोग किया । मुगलों के समय में लगातार वही तरीका साधारण हेर फेर के साथ चलता रहा, टोडरमल का वर्गी करण तो अब तक लगभग जैसा का तैसा चलरहा है ।

शिवाजी के समय में कर वसूली आदि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए । हाँ धीरे धीरे मराठा क्षेत्र में और बाद में ब्रिटिश शासन में कर-वसूली ठेके पर दी जाने लगी । यद्यपि इसके साधारण प्रारम्भ पहले भी हो चुके थे ।

अब हम यूरोपीय लोकवित्त विचारकों की ओर दृष्टिपात करेंगे ।

आधुनिक विचारधारा का प्रारंभ

आधुनिक विचारधारा राजस्व के सम्बन्ध में तब प्रारंभ हुई जब मध्यकाल यूरुप में समाप्त हो गया और छिटफुट छोटे छोटे शासकों का समय समाप्त हो गया । तोप के आविष्कार , संसार के विभिन्न भागों की खोज, अध्ययन के पुनरुत्थान आदि के फलस्वरूप चारों ओर राष्ट्र निर्माण की भावना का उदय होने लगा । सामन्तशाही बिखरने लगी । व्यापारी वर्ग शक्तिशाली होने लगा और उसके व्यापार की आन्तरिक तथा बाहरी मार्गों में खुले समुद्रों पर सुरक्षा की आवश्यकता होने लगी । अधिकाधिक यह महसूस होने लगा कि शासन शक्तिशाली होना चाहिए और अधिक से अधिक एक–

छत्रता होनी चाहिए। फ्रान्स में लुई चौदहवें के शासन का आविर्भाव, इंगलैण्ड में ट्यूडर कालीन राजकीय एक छत्रता, जर्मनी में होहेनजोलर्न वंश का क्षेत्र विस्तार, आदि इस ओर इंगित करते है।

शक्तिशाली सरकार होने के लिये उसकी आय बहुत अच्छी होनी आवश्यक हैं यह अनुभव किया गया। मर्कैण्टिलिस्ट (व्यापारवादी) लोगों ने राजा की शक्ति बढ़ाने पर बहुत जोर दिया। उसी समय सन् १५४०–१६०० के काल में अमेरिका से चाँदी बहुत अधिक आई। इंगलैंड का बंक स्थापित हो गया, हर वस्तु के दाम बहुत बढ़ गये। मुद्रा के प्रचलन से व्यापार में भारी वृद्धि हुई और फलस्वरूप कर वृद्धि हुई। राजकीय आय असाधारण गति से बढ़ी।

व्यापारवादियों का 'कर चिन्तन' कुछ इस प्रकार था। व्यक्ति पर 'कर' उसी अनुपात में लगाया जाना चाहिये जिसमें कि उसे शासन व्यवस्था से लाभ प्राप्त होता है। "सामाजिक ठेके' के आधार पर इन्होंने यह सिद्धान्त बनाया, हौब्स इस सम्बन्ध में विचार करके लिखते हैं कि 'लाभ' का हिसाब व्यय के आधार पर लगाया जाना चाहिए। आदमी जिन वस्तुओं का उपभोग करता है उन पर ही 'कर' लगा देना चाहिये ताकि कर खर्च करने वाले पर पड़ जायगा और बचत करने वाला इस बोझ से बच जायगा * परन्तु ग्रोटियस और पफ़ेण्डौर्फ की राय है कि लाभ की नाप इस आधार पर होनी चाहिए कि सरकार से कर दाता को कितनी रक्षा मिलती है।

अगरेजों में सर विलियम पैटी को पहला लेखक समझा जाता है जिसने 'कर' पर वैज्ञानिक ढंग से लिखा है। उसका कहना है कि "यह तो सभी मानते हैं कि लोगों को सरकारी खजाने में अपना भाग देना चाहिये, परंतु आधार होना चाहिये उसकी जायदाद और संपत्ति" × पैटी भी यह मानता है कि इसका अंदाज करदाता के व्यय से ही लगाना ठीक है।

अन्य कई व्यापारवादियों का विचार था कि तटकर कम होना चाहिये। उत्पादन कर का प्रयोग अधिक करना चाहिए। कर सब पर बराबर हों। व्याज पर लगे रुपये पर भी कर लगाना चाहिए। इन्होंने भी समझ लिया था कि जो संपत्ति आसानी के छिपाई जा सकती है उस पर कर लगाना अव्यवहारिक है।

कैमरेलिस्ट (राजकोषवादी) लोगों का ध्यान राजस्व की ओर और भी अधिक आकृष्ट हुआ था। उन दिनों जर्मनी की अवस्था बहुत ही खराब थी। चार्ल्स पंचम के समय से लेकर तीस वर्षीय युद्ध के अंत तक वहाँ आर्थिक अस्थिरता बहुत भयंकर थी। १५२२–२३ में तटकर की दीवार ऊँची कर दी गई, कोपरनिकस ने

* Leviathan P. 271 quoted by Haney

× A Treatise on Taxes and Contributions

सभी राज्यों में एक सी मुद्रा चलाने का प्रस्ताव रक्खा, १५३० में मुद्रा चलन के सम्बन्ध में काफी हल चल हुई। पर दोनों प्रयत्न बेकार रहे।

राजकोषवादियों में जुस्ती इस संबंध में सर्वोपरि है। १७५५ में उसकी पुस्तक "पौलिटिकल इकौनौमी" प्रकाशित हुई। उसकी मान्यता है कि समृद्ध राज्य के लिए ३ बातें आवश्यक हैं। स्वतंत्रता, साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा, समृद्ध उद्योगधन्धे। और राजकोष की वृद्धि के लिये आवश्यक हैं— बढ़ती हुई आबादी, विदेशी व्यापार और खदानें।

जुस्ती की सबसे महत्वपूर्ण बात है उसके 'कर' सम्बन्धी नियम। वे निम्नांकित हैं।

१– कर इस प्रकार लगाने चाहियें कि आसानी से दिये जा सकें।

२– उनसे उद्योग और व्यापार में बाधा नहीं पड़नी चाहिये।

३– कर समानुपातिक बराबरी के होने चाहियें।

४– 'कर निश्चित और सच्चे हों और ऐसी वस्तुओं पर पड़ें कि उनकी वसूली निश्चित और ईमानदारी पूर्ण हो जाय।

५– ऐसी वस्तुओं पर कर लगाना चाहिये कि वसूली में कम से कम अफसर लगाने पड़ें।

६– कर देने का समय और परिमाण दाताओं के लिये सहूलियत के हों।

राजाओं की आवश्यकताएँ जब और बढ़ीं तो आय के और साधन निकाले गये। रोशर ने राजा के चार प्रकार के विशेषाधिकार बता कर लगभग ४०० प्रकार के 'कर' निकाल दिये। ये चार अधिकार श्रेणियां निम्न प्रकार है—

१– सामन्ती कर्तव्य जैसे नाइट लोगों के कर्तव्य। रुपया दे कर इस कर्तव्य से छुटकारा मिल सकता था। जमीन के बेचने पर भारी दाम माँगा जाता था। यात्रा के समय राजा प्रजा के खर्च पर रहता।

(२) क्षेत्रीय अधिकार– किसी की मृत्यु पर उसका धन राजा का हो जाता। गढ़ा धन, भी राजा का था, इत्यादि।

(३) राजकार्याधिकार– युद्ध लूट का हिस्सा, उहदों का बेचना. जुर्माना और जब्त जायदाद

(४) राजकीय व्यापार कार्य।

इन अधिकारों को जुस्ती अन्य प्रकार से चार श्रेणियों में रखता है– १– राजमार्गों सम्बन्धी २– जल सम्बन्धी ३– जंगलात सम्बन्धी ४– खनिज विषयक। अभी तक जनता अथवा श्रेणी द्वारा अधिकृत 'कर' का समय नहीं आया था।

फिजियो क्रेट (प्रकृति वादी) विचारकों ने राजस्व सम्बन्धी विचारों को और

आगे बढ़ाया। उनके सिद्धान्तों का प्रभाव उनके राजस्व सम्बन्धी विचारों पर भी पड़ा।

एकाकी कर

प्रकृति ही सबसे बड़ी दाता है। कृषि ही उत्पादन है और इसीलिए उनका सिद्धांत था कि राज्य में एक ही कर लगना उचित है और वह है कृषि उत्पादन पर 'कर'। कृषि से जो शुद्ध आय हो अर्थात् कुल उत्पादन में से उसपर किया गया आवश्यक व्यय काटकर जो बचे, उसी पर कर लगाना चाहिए। हेनरी जार्ज आदि आधुनिकों के एकाकी कर से इनका 'एकाकी कर' का भाव भिन्न है। क्वैसने इस एकाकी कर का मुख्य प्रतिपादक था। उसी के अनुसार तरगो (त) भी जमीन के ही एकाकी कर को सर्वश्रेष्ठ समझता था।

क्वैसने के बाद सबसे महत्वपूर्ण राजस्व विचारक है आडमस्मिथ। आडमस्मिथ ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रों की सम्पति' के अन्तिम अध्याय में राजस्व पर गम्भीर विचार किया है। कर की कसौटियों का प्रतिपादन जो स्मिथ ने किया उनका प्रभाव अब के लेखकों पर पूरा है। स्मिथ ने कर की कसौटियाँ निम्न बतलाई हैं—

१—कर दाता की कर योग्यता को देखकर कर लगाना चाहिए।

२—करों का परिमाण निश्चित हो और कर दाता को मालूम हो।

३—कर इस प्रकार लगाना चाहिए कि करदाता को अधिक से अधिक सहूलियत मिल सके।

४—कर उस ढंग से व्यवस्थित करने चाहिएँ कि उनकी वसूली में कम से कम व्यय हो।

आडमस्मिथि राजस्व के दो मुख्य जरिए मानता है—

१— राजा का धन, सरकारी जमीन, और सरकारी पूंजी।

२— 'कर'

परन्तु स्मिथ 'कर' को ही राजस्व का जरिया बनाना अधिक उचित समझता है।

'सीमान्त उपयोगिता' विचारधारा के प्रतिपादकों का भी प्रभाव 'राजस्व' चिन्तन पर पड़ा। साक्स (Sax) का 'कर'के सम्बन्ध में विचार है कि 'नागरिक जिस अनुपात में सरकार द्वारा की जानेवाली सेवाओं का मूल्य समझें उसी अनुपात में कर लगाये जाने चाहिए। दूसरा विचार उसका यह है कि व्यक्ति के हाथ में रहकर यदि सामान शुद्ध आय अधिक दे सकते हैं तो वे उसके हाथ से सरकार को नहीं निकालने चाहियें।

इस प्रकार राजस्व के एक नये पहलू का विकास होना आरंभ हो गया। राज-कोषवादियों ने जहाँ एक ओर राजा की स्थिति को दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया वहाँ दूसरी ओर उन्होंने उसमें जनता की आवश्यकता–पूर्ति का भाव भी अन्तर्निहित कर दिया। वे व्यापारी थे। व्यापार मार्ग, और सम्पति रक्षा उनका उद्देश्य था। व्यापारी उन दिनों ठाली बैठ कर खाने वाला सामंत नहीं था। जो भी व्यापार करने लग जाय व्यापारी कहलाता था और उसका हित उसी प्रकार का हो जाता। अतः राजस्व में व्यय का उद्देश्य केवल राजा और उसके सामन्तों का आनंद नहीं रह गया बल्कि उसकी थैली का मुंह अधिकाधिक जनता की ओर खुलने की प्रवृत्ति प्रारंभ हो गई। जिसको सरकार से जितना लाभ हो वह उसी अनुपात में कर दे। अतः कर की कसौटी सरकारी डण्डा नहीं रहा। बल्कि जनता का लाभ हो गया। और सीमान्त उपयो–गितावादियों ने अथवा यों कहिए कि अनुभूतिवादियों ने (Subjectivists) ने इस विचार को और एक कदम आगे बढ़ा दिया यह कह कर कि व्यक्ति का स्वयं का अनुभव जो लाभ समझे उस अनुपात में कर लगाया जाय। इससे कर की तराजू राजा के हाथ में नहीं, जनता के हाथ में आ गई। इंगलैण्ड के राजा जौन से लड़कर तेरहवी शताब्दी में जो उसके सामन्तों ने 'महान अधिकार पत्र' (Magna Carta) प्राप्त किया था वह केवल सामन्तों ने लूट का हिस्सा बटाने का अधिकार प्राप्त किया था, लूट चाहे युद्ध की न होकर 'कर' द्वारा सही, उसमें जनता के अधिकार की ओर अभी लगाम नहीं मुड़ी थी।

अनुभूतिवादियों की विचारधारा का एक बड़ा भारी दुष्परिणाम भी उक्त लाभ के साथ साथ यह हुआ कि सरकार को राजस्व का उपयोग राज्य की रक्षा और शान्ति रखने के लिए तो करना चाहिये परंतु जनता के मामलों में कोई दखल नहीं देना चाहिए। इसकी भारी प्रतिक्रिया हुई। क्रिया और प्रतिक्रिया से ही विकास होता है। समाजवादी विचारधारा का विकास हुआ। जिसमें यह खुल कर कहा गया कि राज की दोनों मदों, आय और व्यय को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिये कि संपूर्ण जनता में सहयोगी उत्पादन और वितरण हो। अर्थात् राजस्व का एक नया उपयोग सामने आया, राजस्व राजा के आनंद के लिए नहीं है। उसकी अपनी गद्दी की रक्षा के लिए नहीं है बल्कि तटकर, आयकर उत्पादन कर, बिक्री कर आदि आदि अनेक करों को और अनुदान, शुल्क, जुर्माने, व्यापार, मूल्यों आदि को नियोजित ही जनता के आवश्यक कार्यों को ध्यान में रखकर किया जाय न कि केवल आय आधिक्य को। समाजवादियों में वैज्ञानिक समाजवादियों, मार्क्स आदि, ने सबसे तर्क पूर्ण उपयोग सामने रक्खे।

समाजवादियों के अतिरिक्त इस ओर कदम 'अमेरिकी आर्थिक संघ' ने सन्–

१८८५ में उठाया। प्रोफेसर आर. टी. ऐली ने कुछ आर्थिक सिद्धान्त स्थिर किये इनमें से पहला इसी संबंध मे था—

"हम सरकार को एक कर्त्ता (एजेन्सी) समझते हैं जिसकी कि हिमायती मदद (Positive Assistance) मानव की उन्नति के लिये अनिवार्य शर्त है।" ×

परंतु तीन ही वर्ष बाद यह संघ छिन्न भिन्न कर दिया गया। इंगलैण्ड में सबसे जोरदार व्यक्ति इस ओर बोलने वाला था जे, एम. कीन्स। आर्थिक व्यवस्था में व्यक्तिवादी होते हुए भी वह सरकारी सीमित हस्तक्षेप अथवा निर्देशित अर्थ-व्यवस्था का पक्षपाती था ;, द्रव्य का पूर्ण उपयोग' (Full employment of Fnnds) उसका मुख्य आदर्श था और वह समझता था कि ऐसा बिना सरकारी व्यवस्था के हो नहीं सकता। वह चार प्रकार का निर्देशन चाहता था—

१– द्रव्य की प्राप्ति अर्थात बंक द्वारा ऋणदान का निर्देशन—इससे आय नियमित होगी।

२– व्याजदर निर्देशन—इससे पूँजीरोपन और इसलिए बेकारी पर काबू होगा।

३– 'कर निर्देशन—इसे कई प्रभावों के लिये प्रयोग किया जाय परंतु खास तौर से व्यक्तियों की आय और सम्पत्तियों को समानता की ओर लाने के लिए निर्देशन हो। इससे बचत में मदद मिलेंगी।

४– पूंजीरोपन का काफी समाजीकरण किया जाय यहाँ तक कि उत्पादन साधनों की प्राप्ति को निर्देशित किया जाय।

इस प्रकार राजस्व की प्रगति में जहाँ एक ओर निर्देशन आया वहाँ दूसरी ओर आयोजन भी आ गया और रूस में लेनिन और स्टेलिन ने आयोजन को क्रियान्वित कर दिया और इतनी सफलता के साथ कि अब भारत में भी आयोजन सरकारी आय-व्यय शास्त्र का एक अनिवार्य अध्याय बन गया है। राजस्व से चल कर लोकवित्त की अवस्था आज आ गई, यह हम प्रथम अध्याय ही में कह आये हैं।

हमने पिछले पन्नों में आधुनिक योरुपीय लोकवित्त शास्त्र के चिन्तन के इतिहास में से गिने चुने विचार ही जहाँ तहाँ से लेकर एक जगह रख दिये है। इतने छोटे स्थान में सिलसिले और महत्वपूर्णता का ध्यान रखना कठिन है।

प्राचीन यूरोप में तो आर्थिक समस्याओं का चिन्तन दार्शनिक तथा सामाजिक चिन्तन से अलग बहुत कम है और राजस्व की समस्याओं का तो और भी कम। उस समय राज्य थे। यूनान के नगर राज्य बहुत प्रसिद्ध ही हैं। रोम का भारी साम्राज्य प्रसिद्ध ही है। उनकी राजनीतिक समस्याओं पर जितनी चिन्तन सामग्री आज प्राप्य हैं उससे बहुत ही कम राजस्व चिन्तन सामग्री है। राजस्व की समस्याएँ होंगी। अवश्य

× Histry of Economic Thought—L. H. Haney p. 884

होंगी,पर उनके चिंतन का अवशेष नहीं के बराबर ही है। प्लेटो,और अरस्तू के जहाँ तहाँ कुछ संकेत मात्र ही हैं। मध्यकाल में अवस्था इससे कुछ ही अच्छी है। भारतीय चाणक्य के अर्थशास्त्र अथवा शुक्रनीति,या मनुस्मृति आदि के समान यूरोप में कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। कोई ऐसे विचारक वहाँ शायद ही हुए हों।

राजस्वीय प्रकरण में प्लेटो सरकारी नियंत्रणों का पक्षपाती था। यूनान में नाप, तौल पर नियंत्रण था। नमक का मूल्य नियंत्रित था गेहूँ का निर्यात मना था। युद्ध में हुए अपाहिजों तथा कुछ निर्धनों को सरकार वृत्तियाँ देती थी। बल्कि सरकार और नागरिक में अन्तर ढूंढना कठिन था, गुलामों को तो वे नागरिक ही नहीं गिनते थे। प्लेटो मानता था कि सरकार का हित समाज से ऊपर है। प्लेटो का साम्यवाद प्रसिद्ध है अरस्तू इसके विरुद्ध में था। राज्य की मुख्य आय थीं मित्रों और अधीन राज्यों के खिराज और भेंट। दक्षिण ऐटिका में चाँदी की खानों से 'राजस्व' (Rayalty) आता था। कुछ परोक्ष कर भी थे आयात निर्यात पर। न्यायालय शुल्क और जुर्माने भी लिये जाते थे। सीधा प्रत्यक्ष कर कोई भी नहीं था। जायदाद कर भी जो 'ईस्फोरा' कहलाता था जब तब लिया जाता था। विदेशियों से राजस्व की आय करना अच्छा समझा जाता था। ×

मध्यकालीन राज्य को राजा का निजी उद्योग समझा जाता था। राजकीय आय उसकी निजी थी। बारहवीं तेरहवीं शताब्दियों में तो अवश्य ही। उसके अधिकारों और उसकी जायदादों से उसकी आय आती थी। आधुनिक अर्थों में कोई कर-प्रणाली नहीं थी। राजकीय व्यापार भी कुछ हद तक था। व्यक्ति कर बहुत थे। पर ये सभी राजस्व के अंतर्गत ही आ जाते हैं¶ थोमस ऐक्वीनस ही मध्यकाल के मुख्य दार्शनिक विचारक थे। उसी विचारधारा के आधार पर आर्थिक विचारधारा बनती रही।

लोकवित्त के विकास की कुछ अत्यंत ही सरल और संक्षिप्त तथा छिट-फुट बातों को कह कर ही हमने इस अध्याय को प्रारम्भिक और प्रवेशात्मक बनाया है।

× Greek Economics–M. L. W. Laistner, Also,Early Economic Thought by A. E. Monroe. p. 35

¶ Histor y of Economic Thought—L, H. Haney–p. 1o3–5

परिशिष्ट

भारत सरकार के बजट का

आय	लाख रुपये			
	१९५१–५२ (वास्तविक)	१९५२–५३ (बजट)	१९५२–३ (संशोधित)	१९५३–५४ (बजट)
तटकर	२३१६९	१६५००	१७७००	१७०००
केन्द्रीय उत्पादन कर	८५७८	८६००	८०००	९४००
निगम (कारपोरेशन) कर	४१४१	३०५३	३९८३	३६६२
आयकर	१४६१९	१२४४७	१३०१७	१२२५६
अफीम	२६८	२२०	१९५	२००
व्याज	१७८	२३३	२५०	३०५
नागरिक प्रशासन	१२६१	८९०	११७४	१११८
मुद्रा टकसाल	११३०	१०३९	१०७७	१५६९
नागरिक निर्माण कार्य	१७४	१५१	१४७	१५३
डाक, तार, (शुद्ध अनुदान)	३४३	११६	१४०	२३०
रेल (शुद्ध अनुदान)	६९३	७६५	७६३	७६५

एक संक्षिप्त नमूना

व्यय	लाख रुपये			
	१९५१–५२ (वास्तविक)	१९५२–५३ (बजट)	१९५२–३ (संशोधित)	१९५३–५४ (बजट)
प्रतिरक्षा	१७०९९	१९७९५	११२९३	१९९८४
कर वसूली	१२८८	१२१४	२८३७	२८३९
सामान्य व्यवस्था	९९४	१०४७	१०१३	११७९
हिसाब परीक्षण	४०१	४५२	४४७	४९९
न्याय	४२	१९	१८	१९
जेल	२०	४	५	५
पुलिस	३८०	३००	२९९	३२७
बन्दर, मार्ग दर्शन	७२	१०१	८६	१०१
प्रकाशगृह	१६	१५	१७	२९
जंगली जाति क्षेत्र	२७४	२९५	३०७	३७८
परराष्ट्र मामलात	३९८	४२५	४५१	४५०
विज्ञान विभाग	५१८	७१७	७१०	८०७
शिक्षा	४०८	४१५	३३९	५४६
ओषधि	१५१	९०	८०	११६
लोक स्वास्थ्य	८०	८६	७८	११२
कृषि	२२१	३११	३१७	३२७
पशु	३२	३२	३३	३४
सहयोग	४	१	१	१
उद्योग	६०९	५०८	५९६	१२९४
वायु यातायात	२६६	२७९	२७९	२९३
रेडियो	१९५	२०१	२०१	२२०
विविध विभाग	३८४	३००	३४६	३८६
जंगलात	१३७	१००	९१	११७
वृद्ध–वृत्ति	८५५	७९६	८०७	८३६
छपाई आदि	१४१	२६९	२८३	२२१
अन्य	५४७९	३०२८	४२०५	१८८१

उपयोगित पुस्तकें

१– मनुस्मृति—पं. रामतेज पाण्डेय
२– कौटिल्य अर्थशास्त्र–पं. गंगा प्रसाद जी शास्त्री
३– कौटिल्य अर्थशास्त्र–श्री प्राणनाथ विद्यालंकार
४– कौटिल्य के आर्थिक विचार–भगवानदास केला, जगनलाल गुप्त
५– प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास–रांगेय राघव
६– राष्ट्रीय आयव्यय शास्त्र–प्राणनाथ विद्यालंकार (१९२२)
७– अर्थशास्त्र के मूलाधार–१९ प्रोफेसर (इलाहाबाद)
८– शुक्र की राजनीति–डा. श्यामलाल पाण्डेय
९– जयचन्द्र विद्यालंकार–भारतीय इतिहास की रूपरेखा
१०– गौरीशंकर चटर्जी–हर्षवर्द्धन
११– जोसेफ़ स्तालिन–सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएँ
१२– राजस्वशास्त्र–डा. के. सी. सरकार तथा एम. एल. मिश्र
१३– राजस्व की सरल रूपरेखा–श्री मालीराम, विश्वम्भर सहाय
१४– राजकीय व्यय–प्रबंध-सिद्धान्त–श्री गोरखनाथ सिंह
१५– भारत सरकार नई दिल्ली–उद्योग व्यापार पत्रिका

1– D. S. Nag–A study of Economic Plans for India.
2– Mohemmedan Theories of Finance by Nicolas P. Aghnides (1916) Columbia University, New-York.
3- Hugh Dalton Principles of Public Finance
4– Ursula–Hicks–Public Finance.
5- M. E. Robinson–Public Finance.
6– Erich Roll- A History of Economic Thought.
7– Alva Myrdal–Nation and Family (The Swedish Experiment)
8– Ram Sharan Sharma–Some Economic Aspects of Caste System in India.
9– P. S. Naidu–Utilisation of India's Men–Power.
10– The Constitution of India. (1951)
11– Five Year Plan for U. S. S. R. 1946–50.

12- Dr. Ishwari Prasad-A Short History of Muslim Rule in India.

13- J. K. Mehta & S. N. Agarwala-Public Finance, Theory and Practice.

14- R. N. Bhargava-Public Finance, Its Theory and Working in India.

15- Plato- The Republic.

16- Aristotle-Politics.

17- Report of The Taxation Enquiry Commission, 1953-54.

18- Adams H. C.-Science of Finance.

19- Bestable C. F.-Public Finance.

20- Dewey D. R.-Financial History of the United States.

21- Groves H, M.-View points in Public Finance.

22- Keynes J. M.-Means & Prosperity.

23- Lutz H. L.-Public Finance.

24- Shirraz G. Findlay—Science of Public Finance.

25- Pigou A. C.-A Study in Publib Finance.

26- Pinto. P. J. J.-The System of Financial Administration in India.

27- Rangaswami Ayangar K. V. -Some Trends of Modern Public Finance.

28- Shah K. T. - Sixty Years-of Indian Finance

29- Wattal- Financial Administration in India.

30- A Kursky. The Planning of the National Economy of the U. S. S. R.

31- Maurice Dobb, - Soviet Planning and Labour in Peace and War.

32- M, Visvesvaraya-Plannned Economy for India.

33- Asok Mehta-Democratic Socialism.

34- Dr- Ram Manohar Lohia.-Fragments of a World Mind.

35- W. H. Hutt.-The Theory of Idle Resources.

36- J. Stalin-Economic Problems of Socialism in the U. S. S. R.

37- Economic Survey 1947, British Govt.

38- M. H, Vaswani–Industrial Policy of India.

39- Final Report of the National Income Committee, February 1954.

40- M. H. Gopal–Mauryan Public Finance.

41- J.C. Kumarappa- Public Finance and our Poverty

42- Adam Smith–Wealth of Nations (1872).

43- Labour Monthly, December 1953.

44- Jathar & Beri–Indian Economics. 2Vols.

45- L.H. Haney-History of Economic Thought. 1951

46- Jens P. Jensen–Problems of Public Finance,

47- Dr. J. N. Agarwal,–Principles and Practice of Health Inssurance as Applied to India. (Unpublished Thesis)

48- P. A. Wadia & K. T. Merchant–Our Economic Problem 1946.

49- R. Palmdutt–India To-day, 1947.

50- Alexandar Bykov–The Development of the Soviet Economic System.

51- Maurice Dobb-Studies in Development of the Soviet Economic System.

52- Raymond Burrows–The Problem and Practice of Economic Planning.

53- P A. Wadia & K. T. Merchant–The 'Five Year Plan–A Criticism.

54- Prakash N. Agarwala–The Production Crisis.

55- Paul M. Sweezy—The Theory of Capitalist Development.

56- B. T. Randive–Indian Five Year Plan, What It Offers.

57- Govt. of India–A Five Year Plan, A Draft Outline.

58- National Planning Committee–National planning Principles & Administration.

69–Maurice Dobb–Political Economy and Capitalism

60- Ernest Barker–Greek Economics.

61- Arthur Eli Monroe–Early Economic Thought.

विशेष शब्द

Abatement	छूट
Accountant General	महामुनीम
Advance	अग्रिम धन
Appropriation Bill	व्ययाधिकार विधेयक
Appropriation	व्यय उठाव
Auditor General	मुख्य हिसाब परीक्षक
Budget.	बजट
Capital Budget.	पूँजी बजट, विनियोग बजट
Canon	कसौटी,प्रनियम
Contributions.	अनुदान, अंशदान
Coordination.	सायुज्य करना
Custom Duty.	तटकर
adveloremn.	मूल्यानुसार
Specific.	विशेष्य
Debt Redemption Fund.	उऋणनिधि
Debt Charges.	ऋणदेय
Funded.	स्थायी,
Unfunded.	अस्थायी
Diversion;	विकीर्णन
Dividends.	लाभांश, बटाव
Differentiation.	भिन्नत्व करना, भेद करना
Diffusion Theory.	लोक-विवर्तन का सिद्धान्त
Directed Economy.	निर्देशित अर्थ-व्यवस्था
Economic Activity.	आर्थिक कृतत्व
Financing.	वित्तित करना, वित्त प्रबन्धन
Flexibility.	लचीलापन
Fund.	निधि
Capital Redemption Fund.	पूँजी-निष्क्रमणप्रणिधि
Sinking Fund.	ऋणनिधि
Graduation.	उतार चढ़ाव

Grant.	अनुदान
Investment.	पूँजी रोपन, विनियोग
Income Tax.	आयकर
Loans.	ऋण
Floating.	चल ऋण, अस्थायी ऋण
Redeemable.	देय, शोध्य
Irredeemable.	अदेय, अशोध्य
Laissez Faire.	छेड़ोमत, अहस्तक्षेप सिद्धान्त
Margin.	सीमा, उत्संग
Municipal Rates.	नगरपालिका गृहकर
Optimum.	अनुकूलतम
Out of Date.	कालातीत, पुराना
Planning.	आयोजन
Structural.	गठनात्मक आयोजन
Functional.	कार्यात्मक, कामचलाऊ
Public.	लोक आयोजन
Economic.	आर्थिक आयोजन
Democratic.	बहु सूत्रीय
Totalitarian.	एक सूत्रीय
Pensions.	जीवन वृत्ति,
Public Works.	नागरिक निर्माणकार्य, लोक कारखाने
Public Economy.	लोक अर्थ
Public Finance.	लोक–वित्त
Revenue.	आगम
Reciepts.	प्राप्ति
Rental Value (of land)	भाटकीय मूल्य, लगान मूल्य,
Recurring.	आवर्ती
Non-Recurring.	अनावर्ती
Rationing.	परिसीमन
Sanction.	स्वीकृति
Securities.	प्रतिभूतियाँ, ऋण पत्रक
Surplus.	अतिरिक्त
Slab System (of Income Tax)]	शिला प्रणाली

Stamp.	रुक्की टिकट,
Stamp Duty.	मुद्रांक कर
Technique.	कार्य पद्धति
Technology.	कार्य विधि
Tax.	कर
Equitable Tax.	न्याय्य कर
progressive,,	प्रगामीकर, वृद्धि परक कर
Turnover,,	हस्तान्तरण कर
Evasion.	कर-चोरी
Taxation.	कर लगाना
Burden of.	कर भार
Incidence of.	करापात
Impact of.	कराघात
Shifting.	कर विवर्तन
Tributes.	भेंट, उपहार
Tariff Valuation.	कर मूल्यन
Votable.	मतापेक्षी
Non-Votable.	मतातिरिक्त
War charges.	युद्धोत्तर व्यय
Expenses.	युद्धव्यय
Welfare Economy.	कल्याणी अर्थ-व्यवस्था
Ways and means.	स्थिति साधक उपाय

हमारे अन्य प्रकाशन

चेतना चयन प्रथम

आज का मानव जीवन और उसकी समस्यायें

प्रो. रामेश्ववर गुप्ता एम० ए०

इस पुस्तक में मानव जीवन का और उन समस्याओं का सहज वैज्ञानिक विश्लेषण है जो आज के मानव को और उसके अंतस को दबोचे डाल रही हैं। कुछ विशेष लेखों द्वारा यह भी स्पष्ट संकेत करने का प्रयास किया गया है कि मानव समाज और स्वयं मानव का अपना विकास किस ओर हो रहा है। आज के जीवन और उसकी समस्याओं को समझने के लिए पुस्तक अतीव उपयोगी है।

क्राउन १।१६ — १३२ पृष्ठ ——— मूल्य दो रुपये

चेतना चयन द्वितीय

आधुनिक योरप का राजनीतिक दर्शन

श्री० श्यामसुन्दर गुप्त ऐम. ए., ऐल. ऐल. बी.

इस पुस्तक में मैकियावेली से लेकर मार्क्स के पहिले तक के योरप के राजनीतिक दार्शनिकों की विचारधारा का विवरण और विवेचन है। जो विद्यार्थी राजनीति-शास्त्र विषय लेकर बी० ए० की परीक्षा देना चाहते हों उनके लिये इस पुस्तक का ज्ञान बड़ा उपयोगी होगा। इसके अलावा सामान्य पाठक के लिए इस पुस्तक का अध्ययन बड़े सरल ढंग पर वह पृष्ठभूमि तैयार करता है जिसके सहारे वह अपने राजनीतिक ज्ञान को अपेक्षित बिस्तार तक पहुंचाने में समर्थ होगा।

क्राउन १।१६—११२ पृष्ठ ——— मूल्य दो रुपये

Reshaping Humanity (मानव का पुनर्निर्माण)

Prof. Rameshwar Gupta M. A.

Reprinted from Rajputana University Studies-Art Section 1955.

इसमें वैज्ञानिक आधार पर यह बताने का प्रयास किया गया है मानव जाति का जीव शास्त्रीय (Biological) विकास हमारे (मानव के) हाथ में है। यौन सेल्स को जीन्स में परिवर्तन करके यह अपना विकास स्वयं साध सकता है।

रोयल एक बटा आठ—१६ पृष्ठ मूल्य नौ आने

रेखा चित्र—

रमणलाल अग्रवाल

उत्तर प्रदेश के ब्रज क्षेत्रीय मथुरा प्रान्त के ग्राम गिडोह में सन् १९०८ में जन्म। गवर्नमेण्ट हाईस्कूल से मैट्रिक उत्तीर्ण किया सन् १९२८ में। राष्ट्रीय आन्दोलन की ललकार को स्वीकार किया–तभी पं. नेहरू की प्रेरणा से काशीविद्यापीठ में **अर्थशास्त्र** पढ़ने गये। सन् १९३० के "**कर मत दो**" किसान आन्दोलन में प्रथम कारावास के कारण और सन १९३२ में "**अंग्रेजी माल का बहिष्कार**" आंदोलन में द्वितीय कारावास के कारण सन १९३४ में विद्यापीठ से शास्त्री परीक्षा पास की। राष्ट्रीय दृष्टिकोण के कारण अध्ययन में सामाजिक पक्ष प्रबल रहा। बम्बई के सिडनहम कालेज एवं कर्वे विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर कार्य किया। नेशनल इकोनोमिक सोसाइटी के स्थापक-मन्त्री तथा बम्बई प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री रहे।

अंग्रेजी तथा हिन्दी में विचारपूर्ण मौलिक विषयों पर निबन्ध लिखे। 'अखण्ड भारत' दैनिक पत्र का सम्पादन; 'मनस्वी' साप्ताहिक का सम्पादन, 'हिंदी साहित्य पर एक दृष्टि', पुस्तिका।

सन् १९५० की इंगलैंड–यात्रा के पश्चात् लिखी पुस्तक (अंग्रेजी) "भारत की खाद्य समस्या" अभी तक अप्रकाशित है।

सरल स्वभाव, मितभाषी, हँसमुख मुद्रा, बाधाओं और सैद्धान्तिक मतभेद के बीच भी मानवीय गुणों की आभा से मंडित एक आदर्शवादी लेखक।

रेखा चित्र—

रमणलाल अग्रवाल

उत्तर प्रदेश के व्रज क्षेत्रीय मथुरा प्रान्त के ग्राम गिडोह में सन् १९०८ में जन्म। गवर्नमेण्ट हाईस्कूल से मैट्रिक उत्तीर्ण किया सन् १९२८ में। राष्ट्रीय आन्दोलन की ललकार को स्वीकार किया–तभी पं. नेहरू की प्रेरणा से काशीविद्यापीठ में **अर्थशास्त्र** पढ़ने गये। सन् १९३० के "**कर मत दो**" किसान आन्दोलन में प्रथम कारावास के कारण और सन १९३२ में "**अंग्रेजी माल का बहिष्कार**" आंदोलन में द्वितीय कारावास के कारण सन १९३४ में विद्यापीठ से शास्त्री परीक्षा पास की। राष्ट्रीय दृष्टिकोण के कारण अध्ययन में सामाजिक पक्ष प्रबल रहा। बम्बई के सिडनहम कालेज एवं कर्वे विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर कार्य किया। नेशनल इकोनोमिक सोसाइटी के स्थापक-मन्त्री तथा बम्बई प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री रहे।

अंग्रेजी तथा हिन्दी में विचारपूर्ण मौलिक विषयों पर निबन्ध लिखे। 'अखण्ड भारत' दैनिक पत्र का सम्पादन; 'मनस्वी' साप्ताहिक का सम्पादन, 'हिंदी साहित्य पर एक दृष्टि', पुस्तिका।

सन् १९५० की इंगलैंड–यात्रा के पश्चात् लिखी पुस्तक (अंग्रेजी) "भारत की खाद्य समस्या" अभी तक अप्रकाशित है।

सरल स्वभाव, मितभाषी, हँसमुख मुद्रा, बाधाओं और सैद्धान्तिक मतभेद के बीच भी मानवीय गुणों की आभा से मंडित एक आदर्शवादी लेखक।